जैन-सिद्धान्त-भास्कर

भाग ११ किरण १

THE JAINA ANTIQUARY

Vol. X. No. I.

Edited by

Prof. Hiralal Jain, M. A , LL.B.
Prof. A. N. Upadhye, M. A., D. Litt.
B. Kamata Prasad Jain, M. R. A. S.
Pt. K. Bhujabali Shastri, Vidyabhushana.

PUBLISHED AT
THE CENTRAL JAINA ORIENTAL LIBRARY
(JAINA SIDDHANTA BHAVANA)
ARRAH, BIHAR, INDIA.

JUNE, 1944.

जैन-सिद्धान्त-भास्कर पर कुछ सम्मतियां

"जैन संशोधन का एकमात्र षाण्मासिक पत्र है। इसमें प्रकाशित लेख जैन साहित्य के लिये अमूल्य होते हैं।"

—जैनमित्र

"जैन समाज में पुरातत्त्व अन्वेषण सम्बन्धी लेखों को प्रकाशित करने में 'भास्कर' सफल रहा है। सम्पादक महोदयों का प्रयत्न सराहनीय है।"

—जैनसंदेश

"इसमें जैन पुरातत्त्व सम्बन्धी खोजपूर्ण और ठोस सामग्री रहती है।"

—खण्डेलवाल जैन हितेच्छु

"इसमें सभी लेख अन्वेषणात्मक हैं। जैन समाज का एकमात्र ऐतिहासिक पत्र यही है। इसका स्थान वही है जो आधुनिक विश्वविद्यालयों में प्रकाशित खोजपूर्ण जर्नलों का है। अथवा यह भी कहा जाय तो अत्युक्ति न होगा कि निष्पक्ष किसी भी अन्य मतावलम्बी विद्वान् के हाथ में देने योग्य जैन समाज का यही पत्र है। पत्र अत्यन्त उपयोगी है।"

—जैन महिलादर्श

"यह षाण्मासिक पत्र यथावत् अपनी उत्कृष्टता की रक्षा करता आ रहा है। लेखों में वैविध्यता एवं विद्वत्ता स्पष्ट झलक रही है।"

—अध्यात्मप्रकाश

"The paper, no doubt has been appreciated by the visitors very much."

—Ganga Saran Mathur
Librarian & Secretary
Maharaja's public Library, Jaipur.

Jaina Literature in Tamil अपने ढंग की अनूठी पुस्तक है। इस ग्रन्थ के पढ़ने से हम अच्छी तरह से जान सकते हैं कि प्राचीन तमिल साहित्य की उन्नति में जैनधर्म का कितना महत्त्वपूर्ण हाथ है। उत्तर भारत के लोगों के लिये यह ग्रन्थ एक विशाल रत्न राशि को प्रकट कर रहा है।

—प्रो० बलदेव उपाध्याय एम० ए०, बनारस

जैन-सिद्धान्त-भास्कर

जैन-पुरातत्त्व-सम्बन्धी षाण्मासिक पत्र

भाग ११] [किरण १

सम्पादक

प्रोफेसर हीरालाल जैन, एम. ए., एल-एल. बी.

प्रोफेसर ए० एन० उपाध्ये, एम. ए., डी. लिट्.

बाबू कामता प्रसाद जैन, एम. आर. ए. एस.

पं० के० भुजबली शास्त्री, विद्याभूषण.

जैन-सिद्धान्त-भवन आरा-द्वारा प्रकाशित

भारत में ३) विदेश में ३॥) एक प्रति का २)

वि० सं० २००१

विषय-सूची

पृष्ठ सं०

श्रीजिनाय नमः

सिद्धान्त-भास्कर

जैनपुरातत्त्व और इतिहास-विषयक षाण्मासिक पत्र

भाग ११ | जून, १९४४। आषाढ़ वीर नि० सं० २४७० | किरण १

भारत के विदेशी लोगों में जैनधर्म

[ले०—श्रीयुत कामताप्रसाद जैन, डी० एल०, एम० आर० ए० एस०]

कहा जाता है कि सिकन्दर महान् के पहले भारत के लोह-कपाट किसी ने नहीं खोले थे—भारत अजेय था। इस जनश्रुति में बहुत कुछ तथ्य है। जैनशास्त्रों में श्रीमुनिसुव्रतनाथजी के तीर्थकाल में म्लेच्छों के आक्रमण का उल्लेख है अवश्य, परन्तु वे म्लेच्छ भारत विजेता नहीं हुये। इतिहास से पता चलता है कि भगवान् महावीर के समय के लगभग ईरान के शाहों ने भारत पर आक्रमण किया था और उन्होंने पश्चिमोत्तर भारत के कुछ भाग पर अधिकार भी कर लिया था। किन्तु उनका अधिकार क्षणिक था—उन्हें शीघ्र सम्राट् श्रेणिक बिम्बसार अथवा सम्राट् नन्दवर्द्धन ने परास्त कर दिया था[1]। इस प्रकार यद्यपि ईरानियों की यह भारत विजय क्षणिक थी, परन्तु इसने पारस्यवासियों (ईरानियों) और भारतीयों को एक दूसरे के सम्पर्क में ला बिठाया। उनमें परस्पर कटुता नहीं बढ़ी; बल्कि सांस्कृतिक आदान-प्रदान बढ़ा। भारतीय संस्कृति से ईरानी और उनके साथी प्रभावित हुये। जैन-शास्त्रों से हमें पता चलता है कि सम्राट् श्रेणिक बिम्बसार के युवराज अभयकुमार की मित्रता पारस्यदेश के आरद्रक नामक राजकुमार से हुई थी। अभयकुमार भगवान् महावीर की शरण में पहुंचे और मुनि हो गये। आरद्रक ने जब यह सुना तो वह भी भगवान् की शरण में आया—वीर प्रभु पतितपावन थे—उनका उपदेश आर्य और अनार्य सब के लिये समान रूप से होता था। उन्होंने आरद्रक को भी प्रव्रज्या दी—वह जैन मुनि हो गये[2]। इसी समय फणिक (Phoenecia) देश के बहुत से व्यापारी भारत के सम्पर्क में आये थे। उनमें परस्पर विवाह सम्बन्ध भी होते थे। एक कथा से प्रकट है कि सागरदत्त सेठ की पत्नी पणिका (फणिकदेशवासी) थी और उनका पुत्र पणिक

१ मॉडर्नरिव्यू, नवम्बर १९३० पृ० ४३८ व जर्नल ऑव दी बिहार एंड ओड़ीसा रिसर्च सोसाइटी भा० १ (१९१९) पृ० ८०

२ डिक्शनरी ऑव जैन बॉयोग्रेफी (आरा) पृ० ११ व १२

(फणिक) हुआ। फणिक देश की माता के कारण पुत्र का फणिक नाम से प्रसिद्ध होना स्वाभाविक था। वह फणीश्वर अर्थात् फोनीशिया (Phoenecia) के अधिवासी लिखे भी गए हैं। वह पणिक एक समय भगवान् महावीर के समवशरण में पहुँचा और मुनि हो गया। जब वह पणिक मुनि नाव में बैठे गंगा नदी को पार कर रहे थे, तब नाव पर से ही मुक्त हुये—आज वह सिद्ध परमात्मा के रूप में हमारे मंदिरों में पूजे जा रहे हैं।'[1] यह थी जैनधर्म की विशालता भगवान् महावीर के समय में। तब जैन संघ व्यवस्थित था—उसमें मुमुक्षुओं को पहचाननेवाले और उन्हें जैनधर्म की दीक्षा देकर संघ में मिलाने वाले आचार्य विद्यमान थे— वह जैनधर्म की विशालता को अक्षुण्णबनाये हुये थे।

उपरान्त सब से पहला आक्रमण भारत पर यवन सम्राट् सिकन्दर महान् का हुआ था। सिकन्दर जब तक्षशिला के पास पहुँचा तो उसे बहुत से दिगम्बर साधु मिले। उनमें जैन श्रमण भी थे[2]। सिकन्दर ने उनके प्रकाण्ड ज्ञान और अतुल तपस्या की बात सुनी—वह प्रभावित हुआ और ओनेसिक्रिटस (Onesikritos) नामक अफसर को उनका हालचाल लेने के लिये भेजा था। उसने दिगम्बर मुनियोंसे बहुत सी बातें पूछीं और जब उन्होंने यह कहा कि वह भी दिगम्बर मुनि हो जावे, तो वह असमंजस में पड़ गया।[3] निस्सन्देह जैनसंघ का द्वार उस समय प्रत्येक मनुष्य के लिये खुला था—यूनानियों ने भी यही लिखा है।[4] उस समय जैनधर्म के प्रभाव से वे वञ्चित नहीं रहे थे।

यद्यपि सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य ने यूनानियों को परास्त करके भारत से उनके शासनाधिकार का अन्त कर दिया था; परन्तु यूनानी सम्पर्क के प्रभाव से भारत नहीं बचा। भारत पर यूनानी शिल्पकला का किञ्चित प्रभाव पड़ा। परन्तु यूनानी भारतीय धर्म और संस्कृति से खूब ही प्रभावित हुये। सम्राट् चन्द्रगुप्त ने यूनान की राजकुमारी के साथ विवाह कर के एक आदर्श उपस्थित किया, जिसका अनुकरण उपरान्तकाल में खूब हुआ। उधर अनेक भारतीय यूनानी जैनधर्म के सिद्धान्तों को समझ कर जैनी बन गये[5]। बौद्ध ग्रंथ

---

१ आराधना कथाकोष; व 'भ० पार्श्वनाथ' पृ० १६६-२००

२ 'भारत के श्रमण नग्न रहते, कठिन परीषह सहन करते और किसी का निमंत्रण स्वीकार नहीं करते हैं। उनकी मान्यता जनसाधारण में खूब है।' —मेडक्रिंडिल ऐंशियेंट इंडिया पृ० ६२

'भारत के साधु नग्न रहते और कोहकाफका बर्फ तथा सर्दी का वेग बिना संक्लेश परिणामों के सहन करते हैं और जब वे अपने शरीर को अग्नि के सुपुर्द कर देते हैं और वह जलने लगता है, तो उनके मुख से एक आह भी नहीं निकलती है।' —Ibid. p. 68,

इसमें जैन व्रत सल्लेखना का उल्लेख किया गया है। अन्त समय को ठीक जानकर इसे धारण किया जाता है।

३ Ibid. p. 70.

४ Ibid. p. 167 व 'वीर' वर्ष ५ पृ० २३०—२३४

५ Historical Gleanings, p 78

'मिलिन्दपराह' से स्पष्ट है कि यवनराज मिलिन्द (Menander) पांच सौ यूनानियों के साथ जैन मुनियों के पास सिद्धान्तचर्चा करने गया था और उनमें से अधिकांश यूनानी जैनी हो गये थे।[१]

यूनानियों की भांति शकवंश के विदेशी लोग भी जैनधर्म के संसर्ग में आये थे। 'कालककथानक' से स्पष्ट है कि ई० पू० सन् १२३ के लगभग ९६ शाही (शक) कुलों को वह सौराष्ट्र ले आये थे और उनको जैनधर्म से प्रभावित किया था।[२]

कुशनवंश के राजाओं के शासनकाल में जैनधर्म की उन्नति विशेष थी। उस समय मथुरा जैनधर्म का केन्द्र था और वहां पर विदेशी लोगों की संख्या भी अधिक थी। शिलालेखों से पता चलता है कि वे विदेशी जैनधर्म के प्रभाव से अछूते नहीं रहे थे।[३] हाल में ही प्रो० लुडर्स ने मथुरा के कंकालीटीला से प्राप्त जैन मूर्तियों पर के लेखों से उन विदेशियों का जैनी होना सिद्ध किया है। उन्होंने एक शिलालेख को निम्न प्रकार पढ़ा है :—

१ नम स्वर्वसीधना आरहत्वना महाराजस्य राजातिराजस्य स्वरवच्छर स्वते·········
२ २००, ९० (२) हसनमासे २ दिवसे १ आरहातो महावीरस्य प्रतिमा········
३ ········स्य ओखारिकाये वितु उझकनिकाय च ओखाए स्वाविका भगीनिये·········
४ ·········शीरिकास्य शिवदीनास्य च एतेह आरहाताय-ताने स्थापिता··············
५ ········देवकुलं च।

इस लेख का भावार्थ यह है कि 'सर्व सिद्धों को और अर्हतों को नमस्कार हो! महाराज राजातिराज के शासन वर्ष ········ २९२ (वर्ष) हेमंत के दूसरे महीने के पहले दिन को अर्हत् महावीर की एक प्रतिमा ओखारिका और उसकी पुत्री उझकनिका एवं श्राविका भर्गी ओखा और शिवदीन ने दान की थी—अर्हतों के पवित्रस्थान पर उसे स्थापा था।'

इस लेख की भाषा और नामों के आधार से प्रो० लुडर्स सा० इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि इस महावीर प्रतिमा के संस्थापक दातार पारथीय यवन (Parthians) थे। इसमें जिस रीति से वर्ष और संवत् का उल्लेख है वह विदेशी रीति है। साथ ही इसमें जो विकृत रूप है वह लेखक की गलती से नहीं, बल्कि भाषा के उच्चारण का द्योतक है। पारथीय यवन अथवा शक लोग 'श' का अधिक उच्चारण करते थे। 'सर्वसिद्धानं' पद का उच्चारण उन शकों के मुंह से 'स्वर्वशीधाना' होना स्वाभाविक था। 'स' को 'स्व' और 'अं' को 'आ' रूप में वे बोलते थे। यह उच्चारण भेद ठीक वैसा ही था जैसा

१ मिलिन्दपराह १०८
२ संक्षिप्त जैन इतिहास, भा० २ खंड २ पृ० १२—१४
३ Ibid, p., 17-18

कि आज एक बंगाली के मुंह से हिन्दी का उच्चारण होता है और वह 'प्रसाद' को 'प्रोसाद' कहता भी और लिखता भी है। इसके अतिरिक्त 'ओखारिका' और 'ओखा' नाम ग्रीक भाषा और देश के नाम 'यूखारिया' और 'यूखे' (Eucharia & Euche) के द्योतक हैं। उज्झतिका भी यवन नाम है[१]। केवल शीरिक और शिवदीन भारतीय नाम हैं। पुरुषों के नामों का भारतीयकरण जल्दी हो जाता है और हमें शक राजाओं में रुद्रसिंह, ऋषभदत्त आदि नाम मिलते हैं। स्व० श्रीदयारामजी साहनी ने मथुरा के एक अन्य जैन लेख में[२] ओखारिका नाम पाया था। यह लेख इस प्रकार है[३]—

'दिमित्रस्य धितु ओखरिकाये कुटुंबिनिये दताये दानं वर्धमान प्रतिमा प्रतिथापिता।'

इस लेख में दिमित्रय शब्द बिल्कुल यवन (Greek) नाम है। इस इंडोग्रीक नाम (Demeterios) का एक इंडोग्रीक राजा भी हुआ है। परन्तु उक्त लेख में किस दिमित्रयका उल्लेख है यह स्पष्ट नहीं है। इसमें उल्लेख है कि दिमित्रय की पुत्री ओखरिका और उसकी पत्नी दत्ता ने वर्द्धमान भगवान् की प्रतिमा स्थापित की थी। यह ओखरिका उपर्युक्त ओखरिका से भिन्न है। इस लेख से एवं चरसद्दा से प्राप्त एक खरोष्ठी भाषा के लेख से स्पष्ट है कि ओखादि नाम मूलतः यूनानी (Greek) हैं। अतः उपर्युक्त प्रतिमाओं के संस्थापक पारथीय (Parthian) विदेशी थे, जो जैनधर्म में दीक्षित हो गये थे।

क्षत्रप राजाओं में नहपान और रुद्रसिंह का सम्बन्ध भी जैनधर्म से था। 'आवश्यक-नियुक्ति' आदि जैन ग्रन्थों से स्पष्ट है कि नहपान ने धर्मप्रभावना में बहुत धन खर्चा था। रुद्रसिंह का एक भग्न शिलालेख मिला है जिसमें 'केवलज्ञानसंप्राप्ताणां' पद भी प्रयुक्त हुआ है, जो उनके जैनत्व का द्योतक है। उन्होंने जैन मुनियों के लिये गिरिनार के पास गुफायें बनवाईं थीं।[४]

श्वेताम्बराचार्य उद्योतनसूरि की 'कुवलयमाला' से स्पष्ट है कि चन्द्रभागा नदी के तट पर पव्वइया नगरी में श्री तोरराय राजा राज्य करते थे। उनके गुरु हरिगुप्त के शिष्य महाकवि देवगुप्त थे। (तस्स गुरू हरिउत्तो आयरियो आसि गुत्त वंसाओ) विद्वानों की दृष्टि में उपर्युक्त तोरराय राजा हूणलोगों का नेता तोरमाण है और राजर्षि देवगुप्त गुप्तवंश के रत्न थे।[५] अतः हूण जातीय विदेशियों में भी जैनाचार्य जैनधर्म का प्रचार करने में सफल हुए थे।

---

१ *Luders*, D. R. Bhandarkar volume (Culcutta) pp. 280—289.

२ *Sahni*. Epigraphica Indica, Vol. XIX, p. 67.

३ 'भाण्डारकर वॉल्यूम' में ही प्रो० स्टेनकोनो ने चरसद्दा के एक शिलालेख में क्षत्रप अवखा नाम पढा है, जो स्पष्टतः ग्रीक नाम है। इस लेख में भी वर्ष का उल्लेख जैन लेख के अनुरूप है। अतः इसे पारथीय लोगों का मानना ठीक है।

४ संक्षिप्त जैन इतिहास (सूरत) भा० २ खंड २ पृष्ठ २०—२६

५ शाह, जैनिज्म इन नॉर्थ इंडिया, पृ० २१०—२१३

मुसलमान बादशाहों के मध्य भी जैनाचार्यों ने धर्म प्रचार करने का उद्योग किया था;[1] परन्तु उनमें शायद ही कोई जैनधर्म में दीक्षित हुआ था। हाँ, जैनधर्म से वह खूब ही प्रभावित हुये थे। सम्राट् अकबर के लिए तो लोग कहने लगे थे कि वह जैनी हो गया है।[2] कई मुसलमान जैनी हुए थे, ऐसे उल्लेख मिलते हैं। सं० १९७० में दिल्ली के अब्दुर्रहमान फूलवाले ने स्थानकवासी जैनधर्म में दीक्षा ली थी। दिगम्बर सम्प्रदाय में जिनबख्शजी के पद भक्ति से पढ़े जाते हैं। जिनबख्शजी कट्टर जैनी हुए थे। हाल में ही एक मुस्लिम मास्टर सा० जैनी हो गए हैं और दृढ़ता से जैनधर्म पाल रहे हैं, किन्तु उनके साथ पहले जमाने जैसा उदारता का व्यवहार नहीं किया जाता है। पहले जैनाचार्य द्वारा नवदीक्षित जैनी का नूतन द्विज जन्म होता था और वह जैनसंघ में मिला लिया जाता था—उसके साथ कोई भेद भाव नहीं रक्खा जाता था। क्या जैनसंघ का वह प्राचीन उदार रूप फिर प्रकट होगा? कुछ अंग्रेज भी जैनधर्म में दीक्षित हुए हैं।

---

१ जैन-सिद्धान्त-भास्कर में प्रकाशित हमारा पूर्व लेख देखिए—

२ सूरीश्वर और सम्राट् ग्रंथ देखो।

ज्ञानार्णव और उसके कर्त्ताके कालके विषयमें कुछ ज्ञातव्य बातें

(ले० श्रीयुत पं० फूलचन्द्र सिद्धान्त-शास्त्री, बनारस)

श्री स्याद्वाद विद्यालयके अकलंक सरस्वती भवनमें ज्ञानार्णवकी एक हस्त लिखित प्रति है। यह विक्रम सम्वत् १६४४ की लिखी हुई है। इसमें करीब सवा फुट लम्बे और ६ इंच चौड़े साईज के १९६ पत्र हैं। इसके अन्त में दो प्रशस्तियां दी हैं। पहली प्रशस्तिमें खासकर लिखानेवालेका और दूसरी प्रशस्तिमें जिसे यह प्रदान की गई है, उसका परिचय दिया है। ये दोनों प्रशस्तियाँ निम्न प्रकार हैं—

(१) अथ संवत्सरेऽस्मिन श्रीनृपतिविक्रमादित्यराज्ये शाके संवत् १६४४ वर्षे वैशाख-वदि सोमवाशरे श्री शाही अवर (अकब्बर) राज्ये प्रवर्त्तिमाने श्रीमत्काष्ठासंघे माथुरान्वय-पुष्करागणे श्रीज्योगिणीपुरवरे ब्रह्मकल्याण लिखापितं। लिपतं अनड़पुत्र देहदा सुमाली। श्रीशुभमस्तु। मांगलं दद्यात्।

(२) संवत् १६६२ वर्षे कार्तिकमासे शुक्लपक्षे शुभतिथौ श्रीखरतरगच्छे श्री जिन-प्रभाचार्यान्वये श्री जिनहितसूरिशाखायां श्रीमदभयचंद्रोपाध्यायानां शिष्याः श्रीराजवर्द्धनगणयः तच्छिष्याः श्रीराजमेरवः तच्छिष्याः श्रीविनयराजगणयः तच्छिष्याः श्री शिवसुन्दरवाचकधुर्यः तेषां शिष्येण देवतिलकोपाध्यायेनेयं प्रतिगृहीता श्रीमदर्गलपुरे श्रीसंघेन दत्ता एकस्मात् पण्डित-पार्श्वाद् गृहीत्वा। शुभं कल्याणं भूयात् श्रीमदकब्बरराज्ये वर्तमाने।

दोनों प्रशस्तियोंका सार यह है—

(१) विक्रम संवत् १६४४ वसाख कृष्ण पक्ष सोमवार के दिन अकबर बादशाहके राज्यकाल में काष्ठासंघी माथुरान्वयी पुष्करागणी ब्रह्मकल्याणने ज्योगिनी नगरमें इस प्रतिको लिखाया। लेखक अनड़का पुत्र देहदा सुमाली है।

(२) खरतरगच्छ, जिनप्रभाचार्यान्वयकी जिनहितसूरि नामक शाखामें श्री अभयचन्द्र उपाध्याय हुए। इसके बाद उनके शिष्य राजवर्द्धन गणि हुए। अनन्तर इनके शिष्य राजमेरु हुए। अनन्तर इनके शिष्य श्री विनयराज गणि हुए। अनन्तर इनके शिष्य श्री शिवसुन्दर वाचकधुर्य हुए। इनके शिष्य श्री देवतिलक उपाध्यायने संवत् १६६२ के कार्तिक मासके शुक्ल पक्षकी शुभ तिथिमें यह पुस्तक ग्रहण की। उन्हें यह पुस्तक श्रीसंघने

अर्गलपुर (आगरा) में अर्पित की। श्रीसंघने इसे एक पण्डित से प्राप्त की थी। उस समय अकबर का राज्य प्रवर्तमान था।

श्रद्धेय प्रेमीजीने अपनी 'जैनसाहित्य और इतिहास' नामक पुस्तकमें 'आचार्य शुभचन्द्र और उनका समय' शीर्षक लेखमें ज्ञानार्णवमें 'उक्तंच' रूपमें उद्धृत किये गये 'समाकृष्य यदा' इत्यादि दो श्लोकोंको ज्ञानार्णवकी हस्तलिखित प्राचीन प्रतियोंमें देखनेकी प्रेरणा की है। ये दो श्लोक आचार्य हेमचन्द्रके योगशास्त्रके मूलमें पाये जाते हैं। अतः यह बात विचारणीय हो जाती है कि क्या ये दो श्लोक स्वयं आचार्य शुभचन्द्रने योग शास्त्र से लिये हैं, या अन्य किसी टिप्पणकारने पीछे से इन्हें ज्ञानार्णवमें संगृहीत किया है ?

प्रेमीजीकी इस सूचनाकी ओर श्रीयुत पं० महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्य का ध्यान गया। पर कारणवशात् वे इस विषय पर कुछ लिख न सके। अतः उनकी प्रेरणासे मैंने ज्ञानार्णव-की उक्त हस्तलिखित प्रतिको देखा। इससे मैंने जो विशेषताएं प्राप्त की हैं, वे क्रमशः नीचे दी जाती हैं—

(१)

यह प्रति वर्तमानमें छपे हुए ज्ञानार्णवसे कहीं अधिक शुद्ध है। बहुत देखने पर क्वचित् भूल नजर आती है। हमने स्वयं व विद्यालयके प्रधान स्नातक भाई अमृतलालजी शास्त्री के साथ इस प्रतिका मुद्रित ज्ञानार्णवसे मिलान किया है। पाठकोंकी जानकारीके लिये उसके कुछ पाठ जो मुद्रित ज्ञानार्णवमें या तो अशुद्ध प्रतीत होते हैं या उनमें कुछ विशेषता रखते हैं नीचे तालिका में दिये जाते हैं।

पृष्ठ	श्लोक सं०	मुद्रित पाठ	लिखित प्रतिके पाठ
८	१६	योगिभिर्यत	योगिभिर्याः
९	२४	निरूप्य सच्च	निरूप्य स च
११	३०	पुंसामपसर्पति	पुंसां नापसर्पति
११	३२	सतामपि च	सतामप्यत्र
१२	३८	-राक्षसाक्रान्त-	-राक्षसाक्रान्तं
१३	३९	प्रशमं गतः	प्रशमं गताः
१५	४९	विमृश्योच्चैः	विमृश्यैवं
१६	२	त्वं तत्त्वं	स्वतत्त्वं
१९	१७	अवश्यं यान्ति	अवश्यं यदि
२४	२४	यद्दत्वा	ये दत्वा

पृष्ठ	श्लोक सं०	मुद्रित पाठ	लिखित प्रतिके पाठ
२२	३५	यन्न ते सन्ति तद्गृहे	न ते सन्ति जगद्गृहे
२३	३६	सद्य	सद्यः
२५	४६	ये चात्र जगती-	ये ये त्रिजगती-

इसी प्रकार पूरे मुद्रित ज्ञानार्णवमें अशुद्धियां पाई जाती हैं। कहनेको तो इसका प्रकाशन एक साहित्यिक संस्थासे हो रहा है, पर अगली सब आवृत्तियाँ प्रथमावृत्तिकी नकल-मात्र हैं। योग के ऊपर एक तो जैन ऋषियों ने कुछ लिखा नहीं और लिखा भी है तो बहुत कम। दोनों सम्प्रदायोंमें इस विषय के मुश्किलसे दो तीन ग्रन्थ मिलते हैं। तिस पर दिगम्बर सम्प्रदायमें तो ज्ञानार्णव ही इस विषयका सब मे पहला ग्रन्थ है। इसे सबमें अन्तिम भी कह सकते हैं; क्योंकि न तो इसके पहले लिखे गये इस विषयके किसी अन्य ग्रन्थकी ही उपलब्धि होती है और न इसके बाद ही किसी ने इस विषय पर लिखा है।

(२)

यह तो हुई मुद्रित ग्रन्थमें स्खलनकी बात। अब हमे यह देखना है कि इस हस्तलिखित प्रतिसे हमें क्या यह संकेत मिलता है कि ज्ञानार्णवमें जो 'उक्तं च' रूपसे उद्धृत वाक्य पाये जाते हैं उनका संग्रह स्वयं ग्रन्थकार ने नहीं किया। आगे इसी का विचार करते हैं—

(१) मुद्रित ज्ञानार्णव के पृष्ठ ९५ पर एक श्लोक आया है जो निम्न है—

'एको द्विधा त्रिधा जीवः चतुःसंक्रान्तिपञ्चमः।

षट्कर्म (क्रमः) सप्तभङ्गोऽष्टाश्रयो (यो) नवदशस्थितिः' ॥ १८, ६।

इसका अनुवाद पं० जयचन्द्रजी ने निम्न प्रकार किया है—

'जीव सामान्य चैतन्यरूपसे एक प्रकार के हैं। त्रस, स्थावर भेदसे दो प्रकारके हैं; एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय, सकलेन्द्रिय भेदसे तीन प्रकारके हैं। एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय, संज्ञी, असंज्ञी भेदसे चार प्रकारके हैं। एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय भेदसे पांच प्रकारके हैं। पांच स्थावर और एक त्रस इस प्रकारके भेद करनेसे छह प्रकारके हैं। पांच स्थावर, विकलेन्द्रिय, सकलेन्द्रिय ऐसे भेद करनेसे सात प्रकारके हैं। पांच स्थावर विकलेन्द्रिय, संज्ञी, असंज्ञी ऐसे आठ प्रकारके है। पांच स्थावर तीन विकलेन्द्रिय एक सकलेन्द्रिय ऐसे नव प्रकार हैं और पांच स्थावर तीन विकलेन्द्रिय और संज्ञी तथा असंज्ञी ऐसे भेद करनेसे दश प्रकार भी हैं।......'

उक्त श्लोकका यह अनुवाद पण्डितजीने अपनी बुद्धिसे किया है सो बात नहीं है, किन्तु उसका आधार मूल में विद्यमान है जो इस लिखित प्रतिमें भी पाया जाता है—यथा—

'चैतन्यरूपः १। त्रसस्थावर २। एकेन्द्रिय विकलेन्द्रिय सकलेन्द्रिय ३। एकेन्द्रिय विकलेन्द्रिय संज्ञी असंज्ञी ४। एकेन्द्रियादि पंचेन्द्रियपर्यन्तम् ५। पंच स्थावर त्रसश्च ६।

पंच स्थावर विकलेन्द्रिय सकलेन्द्रिय ७। पंच स्थावर विकलेन्द्रिय संज्ञी असंज्ञी ८। सकलेन्द्रिय विकलत्रयं पंच स्थावर ९। पंच स्थावर विकलत्रयं संज्ञी असंज्ञी १०।'

ज्ञानार्णवका उक्त श्लोक 'एक्को चेव महप्पो' इत्यादि दो गाथाओंका संक्षिप्त रूप है। ये दोनों गाथाएं और उनका अर्थ धवला प्रथम पुस्तक पृष्ठ १०० पर देखिये। ज्ञानार्णवके कर्त्ताके सामने इस श्लोकको लिखते समय अवश्य ही उक्त दो गाथाएं रहीं हैं। यह बात उक्त श्लोकके 'चतुः संक्रान्ति' 'षटक्रमः' व 'सप्तभंगो' पदोंसे प्रकट हो जाती है। मालूम होता है कि उक्त श्लोक की परम्परासे अनभिज्ञ किसी टिप्पणकारकी यह करामात है। टिप्पणकारने उसे पहले हासिया में लिखा होगा। तदनन्तर वह लेखकोंकी कृपासे मूलका अंग बन गया।

(२) मुद्रित प्रति के पृष्ठ १५४ पर मूलरूपसे 'या निशा सर्वभूतेषु' इत्यादि श्लोक छपा है जो गीता के दूसरे अध्यायका ६९ वां श्लोक है। मालूम होता है कि यह श्लोक ज्ञानार्णवके 'यस्यां निशि जगत् सुप्तं' इस श्लोकके अनुरूप होनेसे किसी टिप्पणकारने उसे हांसियामें संगृहीत किया होगा और आगे जाकर वह मूलमें ही सम्मिलित हो गया। मुद्रित प्रतिमें 'यस्यां निशि' और 'या निशा' ये दोनों श्लोक क्रमशः ३६ और ३७ नम्बर पर दर्ज हैं। किन्तु इस हस्तलिखित प्रतिमें इनका नम्बर ३५ और ३७ है। अधिकतर यह क्रम भंग ऐसे ही स्थलों पर होता है, जहां पर कोई नई चीज पीछे में जोड़ी जाती है। यदि लेखक समझदार हुआ तो वह यथास्थान उसे निबद्ध कर देता है। और यदि केवल लेखक ही हुआ तो वह आगे पीछे भी उसे निबद्ध कर सकता है।

(३) 'समाकृष्य यदा' इत्यादि दो श्लोक जो मुद्रित ज्ञानार्णवके पृष्ठ १८६ पर 'उक्तं च ग्रन्थान्तरे' रूपसे छपे हैं, वे इस लिखित प्रति के मूलमें नहीं हैं। किसी टिप्पणकारने उन्हें हांसियामें लिखा है और अगले दो श्लोकोंके जो क्रम नम्बर दिये हैं वे इन पर डाल दिये हैं। किन्तु प्रारम्भमें 'उक्तं च' नहीं लिखा है। इनके विषयमें एक बात और ध्यान देने योग्य है कि मुद्रित ज्ञानार्णवमें ये श्लोक नम्बर १ के बाद निबद्ध हैं किन्तु इसमें इनका निर्देश नम्बर ३ के बाद किया है। मालूम होता है कि किसी टिप्पणकारने हांसियामें ही इनका संकलन किया होगा और क्रमशः वे ग्रन्थके अंग बन गये।

ये दोनों श्लोक योगशास्त्रके हैं जिनको वहांसे अलग नहीं किया जा सकता। किन्तु ज्ञानार्णवमें इनके पाये जानेसे यह अनुमान करना कि स्वयं ग्रन्थकारने इनका संकलन किया होगा, गलत है; क्योंकि ज्ञानार्णवकार इनका तभी 'उक्तं च' रूपसे संकलन कर सकते थे जब इनसे उनके बतलाये हुए अर्थ की पुष्टि होती। किन्तु यह बात नहीं है. यह बात ज्ञानार्णव

और योगशास्त्रमें बतलाये गये पूरकके लक्षणसे ही स्पष्ट हो जाती है। ज्ञानार्णवमें पूरकका लक्षण निम्न प्रकार बतलाया है –

द्वादशान्तात् समाकृष्य यः समीरः प्रपूर्यते।
स पूरक इति ज्ञेयो वायुविज्ञानकोविदैः ॥२९ ४॥

अर्थ—'द्वादशान्त कहिये तालुवेके छिद्रसे अथवा द्वादश अंगुल पर्यन्तसे खैंच कर पवनको अपनी इच्छानुसार अपने शरीरमें पूरण करै, उसको वायुविज्ञानी पंडितोंने पूरक पवन कहा है ॥' (पं० जयचन्द्रजी)

योगशास्त्रमें पूरकका लक्षण निम्न प्रकार बतलाया है—

'समाकृष्य यदापानात् पूरणं स तु पूरकः।'

अर्थ—बाहरसे वायुको खींचकर अपान द्वारसे पेटमें भरनेका नाम पूरक है।

इस प्रकार ज्ञानार्णवमें योगशास्त्रके पूरकके लक्षणसे भेदके रहते हुए भी इनका संकलन ज्ञानार्णवमें किया गया; इसीसे मालूम होता है कि इनका संकलन किसी दूसरेने किया होगा।

दूसरे इन दो श्लोकोंमें ज्ञानार्णवसे योगशास्त्रमें जो पाठ भेद पाया जाता है वह बड़े महत्त्वका है। इससे तो योगशास्त्रके द्वारा माने गये पूरकके लक्षणमें ही अन्तर पड़ जाता है। योगशास्त्रके पूरकका लक्षण तो हम ऊपर बतला ही आये हैं। योगशास्त्रके श्लोकका वह पाठ परिवर्तित होकर ज्ञानार्णवमें इस प्रकार हो गया है—

समाकृष्य यदा प्राणधारणं स तु पूरकः।

क्या यह 'यदापानात् पूरणं' के स्थानमें 'यदा प्राणधारणं' संशोधन स्वयं ज्ञानार्णवकारने किया होगा? यदि नहीं तो फिर यह कहना कि इनका संग्रह स्वयं ज्ञानार्णवकारने किया होगा, किसी भी हालतमें संगत नहीं है। वास्तवमें इस संशोधनसे श्लोककी आत्मा ही नष्ट हो गई। मालूम तो यही होता है कि किसी टिप्पणकारकी ही यह करामात है। उसने सोचा होगा कि ज्ञानार्णवमें बतलाये हुए पूरकके पक्षमें यह श्लोक तो बैठता नहीं; अतः परिवर्तन कर देना चाहिये। और इस प्रकार उसकी अदूरदर्शिताने मूल श्लोकका यह रूप ला उपस्थित किया।

इस प्रकार ऊपर जो तीन प्रमाण उपस्थित किये हैं, उनसे ज्ञात होता है कि ज्ञानार्णवमें 'उक्तं च' रूपसे पाये जाने वाले श्लोकों का संकलन स्वयं ज्ञानार्णवकारने नहीं किया होगा। किन्तु पहले उनका संकलन टिप्पणकारोंने हासियामें टिप्पणरूपसे किया होगा और कालान्तरमें लेखकोंके प्रमादसे वे ग्रन्थके अंग बन गये। अतः ज्ञानार्णवमें 'उक्तं च' रूपसे पाये जाने-वाले श्लोकोंके आधारसे ग्रन्थकर्त्ताके समयका निर्णय करना युक्त नहीं है।

(३)

अब हम कुछ ऐसे प्रमाण उपस्थित करते हैं जिनसे ऐतिहासिकोंको ग्रन्थकर्त्ताके समयके निर्णय करनेमें थोड़ी-बहुत सहायता मिल सकती है।

आचार्य शुभचन्द्रने ग्रन्थके प्रारम्भमें समन्तभद्र, देवनन्दि, भट्टाकलंक और जिनसेन इन चार आचार्योंकी स्तुति की है इससे स्पष्ट है; कि शुभचन्द्र इनके बादमें हुए होंगे, पर वे कब हुए इसीका निश्चय करना शेष है।

यह तो हम ऊपर ही बतला आये हैं कि ज्ञानार्णवमें जो 'उक्तं च' रूपसे श्लोक पाये जाते हैं उनके आधारसे शुभचन्द्रके समयका निर्णय करना ठीक नहीं है, अतः हम इस प्रक्रियाको छोड़कर अन्य प्रमाण प्रस्तुत करते हैं—

(१) ज्ञानार्णवमें जिनसेनकी स्तुति करते हुए उनके वचनोंको त्रैविद्यवन्दित कहा गया है। त्रैविद्य एक उपाधि रही है जो सैद्धान्तिक या सिद्धान्त-चक्रवर्तीके समान सिद्धान्त-शास्त्रके ज्ञाताओंको मिलती रही है। इससे मालूम तो यही होता है कि ज्ञानार्णवके कर्त्ता इसी परम्परामें हुए हैं। इस परम्परामें ऐसे अनेक शुभचन्द्र नामवाले विद्वान मिलते हैं। एक वे शुभचन्द्र हैं जिन्हें धवलाकी प्रति समर्पित की गई थी। इनका स्वर्गवास शक सम्वत १०४५ में हुआ था। एक शुभचन्द्र देवकीर्ति पण्डितदेवके शिष्य हो गये हैं। इनको त्रैविद्य-देवकी उपाधि भी थी। इनका काल शक बारहवीं शताब्दिका उत्तरार्ध समझा जाता है। एक शुभचन्द्रका उल्लेख श्रद्धेय प्रेमीजीने 'आचार्य शुभचन्द्र और उनका समय' शीर्षक लेखमें किया है। ये तेरहवीं शताब्दिके मध्यमें हो गये हैं। इन्हें स्वयं ज्ञानार्णवकी प्रति समर्पितकी गई थी। खोज करने पर ऐसे शुभचन्द्र नाम वाले और भी अनेक आचार्य मिलेंगे। किन्तु इन सबमेंसे यह निश्चित करना कठिन है कि ज्ञानार्णवके कर्त्ता कौन शुभचन्द्र हुए?

ज्ञानार्णवके ३६ वें प्रकरणमें लोकका वर्णन आया है। उसमें बतलाया है कि यह लोक नीचेसे मध्य तक सात राजु और मध्यसे अग्र तक सात राजु ऊंचा है। तथा अधोलोकके पास सात राजु, मध्य लोकके पास एक राजु, ब्रह्मकल्पके पास पांच राजु और लोकाग्रमें एक राजु विस्तारवाला है। यथा—

> अस्य प्रमाणमुन्नत्या सप्त सप्त च रज्जवः।
> सप्तैका पञ्च चैका च मूलमध्यान्तविस्तरे ॥९।३६॥

इसमें स्पष्टतः राजवार्तिककी मान्यताकी पुष्टिकी गई है। मालूम होता है कि ज्ञानार्णवके कर्त्ता उस समय हुए हैं जब सिद्धान्त-शास्त्रानुसार वीरसेन स्वामीके द्वारा प्रस्थापित की गई लोककी मान्यताका अधिक प्रचार नहीं हुआ था। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि ये जिनसेनसे कुछ ही काल बाद हुए होंगे।

(२) मुद्रित ज्ञानार्णवमें यशस्तिलकचम्पूके श्लोक उद्धृत हैं। यदि इन श्लोकोंको स्वयं शुभचन्द्रने उद्धृत किया होता तो वे चम्पूकार का स्मरण भी करते। क्या सबब है कि वे जिनसेन तकके आचार्योंका नामोल्लेख करके ही रह गये ?

मैंने गुणदोष विचार नामक उस प्रकरणको ध्यानसे देखा है जहां यशस्तिलक चम्पूके 'ज्ञानहीने' इत्यादि तीन श्लोक उद्धृत हैं। वास्तवमें 'वस्तुतत्त्वापरिज्ञानात्' इत्यादि २२ नम्बरके श्लोकसे ही प्रकरण स्खलित प्रतीत होता है। आप इस श्लोकके बादका सब प्रकरण अलग कर दीजिये और तदनन्तर 'यस्य प्रज्ञा' इत्यादि २९ वें नम्बरवाले श्लोकको पढ़िये आपको एकदम संगति प्रतीत होगी। मेरा तो ख्याल है कि २२ वें और २९ वें नम्बरके बीच में जितने भी श्लोक हैं वे सब प्रक्षिप्त हैं। मेरी प्रार्थना है कि विद्वान् पाठक इस सूचनाका ठीक तरह उपयोग करें। यह सब तो रत्नत्रय नामक १८ वें प्रकरणमें लिखने लायक था। यहां तो उसकी कोई आवश्यकता ही न थी। इससे प्रतीत होता है कि ज्ञानार्णवके कर्त्ताके समक्ष यशस्तिलकचम्पू नहीं था और न उन्होंने स्वयं इसका उपयोग ही किया है।

(३) समन्तभद्र आदि आचार्योंकी स्तुति करनेके बाद ज्ञानार्णवकारने योगीन्द्रसेवित मार्गमें अपनी आत्माको लगानेकी सूचना की है। मालूम होता है यहां शुभचन्द्र आचार्यने 'योगीन्द्र' पदका श्लेषमें प्रयोग किया है जिससे परमात्मप्रकाशके कर्ता योगीन्द्रदेवका बोध होता है। बहुत सम्भव है कि शुभचन्द्र आचार्य योगीन्द्रदेवके समकालीन हों और ज्ञानार्णवके पहले परमात्म प्रकाशकी रचना हो चुकी हो, जिससे ज्ञानार्णवके बनानेमें प्रेरणा मिली हो। यदि यह अनुमान ठीक हो तो कहना होगा कि जिस समय परमात्मप्रकाशके कर्त्ता योगीन्द्रदेवने इस भूतलको अपने वात्सल्यसे सुशोभित किया है वही आचार्य शुभचन्द्रका काल होना चाहिये। उपर्युक्त प्रमाणोंको देखते हुए यह बहुत कुछ सम्भव भी है।

इस प्रकार ज्ञानार्णव और उसके कर्त्ताके सम्बन्धमें मुझे जो सामग्री उपलब्ध हुई वह मैंने प्रस्तुत की है, आशा है विद्वान् पाठक इसका समुचित उपयोग करेंगे।

क्या षट्खंडागम सूत्रकार और उनके टीकाकार वीरसेनाचार्य का अभिप्राय एक ही है ?

[लेखक—श्रीयुत प्रो० हीरालाल जैन, एम० ए०, एल० एल० बी०]

दिगम्बर सम्प्रदाय के साहित्य में पुष्पदन्त और भूतबलि आचार्यों द्वारा विरचित षट्खंडागम सूत्र सब से प्राचीन, जैन सिद्धान्त का पूर्णतम विवेचन करने वाले एवं सर्वोपरि प्रमाणभूत ग्रन्थ माने जाते हैं। इन सूत्रों की वीरसेनाचार्य द्वारा विरचित एकमात्र धवला टीका उपलब्ध है जिसके कारण यह ग्रन्थरचना धवलसिद्धान्त के नाम से प्रसिद्ध है। यह सूत्र और टीकारूप रचना दिगम्बर सम्प्रदाय में पूज्य माने जाने पर भी कोई एक हजार वर्ष से लुप्तप्राय थी और इसकी एकमात्र ताड़पत्रीय प्रति कर्नाटक देश के मूड़बिद्री नामक स्थान पर सुरक्षित बच रही थी। सौभाग्य से गत बीस वर्ष के भीतर इस रचना की प्रतिलिपियां जिज्ञासुओं को उपलब्ध हो गईं और गत पांच छह वर्ष से इनका क्रमशः प्रकाशन भी हो रहा है। इन ग्रन्थों के अवलोकन से जैन सिद्धान्त के अन्तरंग की अनेक व्यवस्थाओं पर गहरा प्रकाश पड़ रहा है और अनेक विचारणीय बातें सम्मुख आ रहीं हैं। यहां हमें इनमें से एक ऐसी ही महत्वपूर्ण व्यवस्था पर गम्भीरता से विचार करना है।

षट्खंडागम के प्रथमखंड 'जीवट्ठाण' में सत्, संख्या, क्षेत्र आदि प्ररूपणाओं में गुणस्थान व मार्गणास्थानों के प्रतिपादन के लिये मनुष्यों के चार भेद किये हैं—मनुष्य, पर्याप्त मनुष्य, मनुष्यनी और अपर्याप्त मनुष्य। सत्प्ररूपणा के सूत्र ८९ से ९३ तक के पांच सूत्रों में इनके गुणस्थान बतलाये गये हैं। सूत्र ८९ में मनुष्यमात्र की पर्याप्त व अपर्याप्त अवस्थामें मिथ्यादृष्टि, सासादन सम्यग्दृष्टि, और असंयत सम्यग्दृष्टि इन तीन गुणस्थानों का, एवं सूत्र ९० में उनकी पर्याप्त अवस्था में सम्यग्मिथ्यादृष्टि, संयतासंयत आदि समस्त गुणस्थानों का प्रतिपादन किया गया है। सूत्र ९१ में ये ही चौदहों गुणस्थान पर्याप्त मनुष्यों में सम्भव बतलाये गये हैं। इसके आगे सूत्र ९२ और ९३ में मनुष्यनियों के गुणस्थान कहे गये हैं। जो इस प्रकार हैं :—

मणुसिणीसु मिच्छाइट्ठि-सासणसम्माइट्ठिट्ठाणे सिया पज्जत्तियाओ सिया अपज्जत्तियाओ ॥९२॥

सम्मामिच्छाइट्ठि-असंजदसम्माइट्ठि-संजदासंजद-संजदट्ठाणे[1] णियमा पज्जत्तियाओ ॥९३॥

अर्थात्—मनुष्यनियों में मिथ्यादृष्टि और सासादन गुणस्थान तो उनकी पर्याप्त व अपर्याप्त दोनों अवस्थाओं में संभव हैं, किन्तु शेष के समस्त गुणस्थान उनकी पर्याप्त अवस्था में ही हो सकते हैं।

यहां स्वभावतः यह प्रश्न उपस्थित होता है कि मनुष्यनी के चौदहों गुणस्थानों के प्रतिपादन से क्या सूत्रकार का अभिप्राय द्रव्य स्त्री की मुक्ति के पक्ष में है? यही प्रश्न धवलाकार वीरसेन स्वामी के सम्मुख उपस्थित हुआ है और उन्होंने अपनी टीका में इस प्रकार शंका-समाधान किया है—

१ **शंका**—इस आर्षवाक्यमे तो द्रव्यस्त्रियों के निर्वाण की सिद्धि होती है?

समाधान—नहीं होती, क्योंकि स्त्रियों के वस्त्र सहित रहने से उनके अप्रत्याख्यान अर्थात् संयमासंयम गुणस्थान होता है, एवं पूर्ण प्रत्याख्यान रूप संयम की उत्पत्ति नहीं होती।

२ **शंका**—वस्त्र सहित होते हुए भी उनके भाव संयम होने में क्या विरोध आता है?

समाधान—उनके भाव संयम भी नहीं हो सकता, क्योंकि वस्त्रादि का ग्रहण भाव असंयम के बिना हो ही नहीं सकता।

३ **शंका**—तब फिर उनमें चौदहों गुणस्थान किस प्रकार घटित होंगे?

समाधान—भावस्त्री विशिष्ट मनुष्यगति में चौदहों गुणस्थान मान लेने में कोई विरोध नहीं आता।

४ **शंका**—भाववेद तो बादरकषाय अर्थात् नौवे गुणस्थान के ऊपर होता ही नहीं है, अतएव भाववेद सहित चौदहों गुणस्थान कैसे संभव हैं?

समाधान—यहां वेद की प्रधानता नहीं है, किन्तु गति ही प्रधान है; और गति कुछ बादरकषाय से आगे नष्ट नहीं होती।

५ **शंका**—इस प्रकार वेद विशेषण युक्त गति में तो चौदह गुणस्थान संभव नहीं हुए?

समाधान—न होने दो, किन्तु विशेषण के नष्ट हो जाने पर भी उपचार से उसी संज्ञा को धारण करनेवाली मनुष्य गति में चौदहों गुणस्थान मान लेने में कोई विरोध नहीं आता।

१—यहां यद्यपि उपलब्ध प्रतियों में 'संजदासंजदट्ठाणे' ही पाठ है, उसके आगे 'संजद' इतना पाठ नहीं है, तथापि ग्रन्थ के सम्पादकों ने सूत्र की धवला टीका एवं अन्य प्ररूपणाओं पर से यह निश्चय किया है कि यहां 'संजद' इतना पाठ छूट गया है, वह होना अवश्य चाहिए।

इन शंका-समाधानों की जड़ में निम्न मान्यताएं दिखाई देती हैं :—

१ वस्त्र त्याग के बिना भावसंयम हो ही नहीं सकता। वस्त्रग्रहण का असंयम के साथ अविनाभावी सम्बन्ध है।

२ स्त्रियां कभी वस्त्र का त्याग नहीं कर सकतीं, जिससे उनके न कभी द्रव्यसंयम हो सकता और न भावसंयम। अतएव वे पांचवें गुणस्थान से ऊपर जा ही नहीं सकतीं; और निर्वाण भी प्राप्त नहीं कर सकतीं।

३ किन्तु पुरुषों में स्त्रीवेद का उदय हो सकता है और वे चौदहों गुणस्थान प्राप्त कर के मोक्ष जा सकते हैं। ऐसे ही मनुष्यों को ध्यान में रखकर सूत्रकार ने मनुष्य-नियों में चौदहों गुणस्थानों का प्रतिपादन किया है।

४ यद्यपि चौदहों गुणस्थानों तक वेद की सत्ता नहीं रहती, तथापि पहले वेद के सद्भाव में जिन्हें मनुष्यनी कहा, उन्हें ही वेद के अभाव में उपचार से उसी नाम से सम्बोधित किया है। और यह इस कारण सम्भव है कि यहां वेद की प्रधानता न होकर गति की प्रधानता है।

ये मान्यताएं कहां तक सूत्रकार सम्मत हैं यह बात विचारणीय है। षट्खंडागम सूत्रों में जहां तक हम देख सके हैं, इन मान्यताओं का कोई उल्लेख या स्पष्ट आधार हमारे दृष्टिगोचर नहीं हुआ। प्रथम मान्यता के सम्बन्ध में यह बात ध्यान देने योग्य है कि अन्य दिगम्बरीय आगमिक ग्रन्थों में द्रव्यलिंगी और भावलिंगी श्रमणों की अलग अलग सत्ता स्वीकार की गई है। स्वयं कुन्दकुन्दाचार्य ने अपने भाव पाहुड में ऐसे भाव श्रमणों का उल्लेख किया है। ऐसे ही एक शिवभूति भाव से विशुद्ध होकर केवलज्ञानी हुए (भा०पा०५३)। व शिवकुमार नामक भाव श्रमण संसार से पार उतर गये (भा०पा०५१)। शिवार्य ने अपनी भगवती आराधना में मुनियों के उत्सर्ग मार्ग के अतिरिक्त अपवाद मार्ग का भी विधान किया है जिसके अनुसार विशेष परिस्थिति में मुनि वस्त्र धारण भी कर सकता है। (भा० आ० गाथा ७९ आदि)। तत्त्वार्थ सूत्रकार उमास्वाति ने जिन पुलाकादि पांच प्रकार के निर्ग्रन्थों का उल्लेख किया है, उनमें उन्होंने लिंग भेद की अपेक्षा विचार करने का भी आदेश दिया है (त० सू० ९, ४६-४७)। व सर्वार्थसिद्धिकार देवनन्दि पूज्यपाद ने अपनी टीका में कहा है कि "लिंग दो प्रकार का होता है—द्रव्य लिंग और भाव लिंग। भाव लिंग की अपेक्षा तो पांचों ही निर्ग्रन्थ लिंगी हैं, किन्तु द्रव्य लिंग की अपेक्षा उनमें विकल्प हैं।'[1] इस स्थल पर श्रुतसागर जैसे कट्टर दिगम्बरी टीकाकार ने भी लिखा है कि "कुछ महर्षि जो असमर्थ होते हैं वे शीतकालादि में कम्बल, कौशेयादि ग्रहण कर लेते हैं। कुछ मुनि शरीर में उत्पन्न दोषों से लज्जित हुए वस्त्र ग्रहण

१ लिंगं द्विविधं—द्रव्यलिंगं भावलिंगं चेति। भावलिंगं प्रतीत्य पंच निर्ग्रन्था लिंगिनो भवन्ति। द्रव्यलिंगं प्रतीत्य भाज्याः (स० सि० ९, ४७)

कर लेते हैं ऐसा भगवती आराधना में उक्त अभिप्राय से अपवाद रूप जानना चाहिए।[1]"
इस प्रकार के अनेक उल्लेखों के प्रकाश में धवलाकार का यह कथन कि वस्त्र ग्रहण भाव असंयम का अविनाभावी है कहां तक ठीक है, यह विचारणीय है।

२ यदि पुरुष वस्त्र धारण कर के भी भाव संयमी हो सकते हैं तो स्त्रियों के परिमित वस्त्र धारण करने पर भी संयम की उत्पत्ति में बाधा क्यों आना चाहिए? भगवती आराधना व मूलाचार में जिस प्रकार मुनियों का आचार बतलाया है उसी प्रकार आर्यिकाओं का भी। मूलाचार में मुनियों को विरत और आर्यिकाओं को विरती कहा है। मुनियों के हैं 'गणी' तो आर्यिकाओं के भी 'गणिनी' हैं। सामाचार अधिकार के अन्त में तो वट्टकेरिने यहां तक कहा है कि 'इस प्रकार चरित्र का जो भी साधु व आर्यिका पालन करतीं हैं वे जग में पूजा, कीर्ति और सुख पाकर सिद्ध होते हैं।[2] वस्त्रमात्र के ग्रहण होने पर भी भाव संयम द्वारा मुक्ति प्राप्ति के उल्लेख हम ऊपर देख ही चुके हैं। तत्त्वार्थसूत्रकार ने भी लिंग की अपेक्षा सिद्धों में विकल्प करने का आदेश किया है (त० सू० १०, ९)। और सर्वार्थसिद्धिकार ने उस स्थल पर स्पष्ट कहा है कि निर्ग्रन्थ व सग्रन्थ लिंग से सिद्धि होती है।[3] यहां श्रुतसागरजी ने इस प्रकार समाधान किया है कि "पूर्व में निर्ग्रन्थ था, पश्चात् किसी ने उपसर्ग से आभरणादिक पहना दिये, जैसे कि तीन पाण्डव आभरणों सहित मोक्ष गये। इस प्रकार पाण्डवादि के समान ग्रन्थता उपसर्ग के वश से समझना चाहिए।" किन्तु यह समाधान सन्तोषकारक नहीं है। जब भावश्रमण की द्रव्यलिंग के विना मुक्ति मान ली गई, एवं पांचों निर्ग्रन्थों में भी द्रव्यलिंग की अपेक्षा विकल्प स्वीकार कर लिया गया, तब सग्रंथ लिंग से मुक्ति स्वीकार करने में उक्त कल्पना की आवश्यकता नहीं रहती।

यथार्थतः यदि स्त्रियों में संयमासंयम से ऊपर का गुणस्थान सम्भव ही न माना जाय तो श्राविका संघ से आर्यिका संघ की पृथक् व्यवस्था बनती ही नहीं है। जिस प्रकार पांचवें गुणस्थान तक के पुरुष, चाहे वे क्षुल्लक-ऐलक ही क्यों न हो जांय, श्रावक ही माने जाते हैं, मुनि नहीं; उसी प्रकार उक्त गुणस्थान तक की स्त्रियों का समावेश श्राविका संघ में ही होगा। उससे ऊपर आर्यिका संघ की पृथक् व्यवस्था तभी स्वीकार की जा सकती है जब उनमें पांचवें से ऊपर के गुणस्थानों की उत्पत्ति मानी जाय।

---

१ द्रव्यलिंगं प्रतीत्येति तत्कि! केचिदसमर्था महर्षयः शीतकालादौ कंबलशब्दवाच्यं कौशेयादिकं गृह्णन्ति, केचिच्छरीरे उत्पन्नदोषाल्लज्जितत्वात्तथा कुर्वन्तीति व्याख्यानमाराधनाभगवती-प्रोक्ताभिप्रायेणापवादरूपं ज्ञातव्यम् (स० सि० ९, ४७ पर श्रुतसागरी टीका)।

२ एवं विधाणचरियं चरंति जे साधवो य अज्जाओ।
ते जगपुज्जं कित्तिं सुहं च लद्धूण सिज्झंति (मू० सा० अ० १९६)

३ निर्ग्रन्थलिंगेन सग्रन्थलिंगेन वा सिद्धिर्भूतपूर्वनयापेक्षया। (स०सि० १०, ९)। यहां भूतनय से अभिप्राय सिद्ध होने से पूर्व की अवस्था से है। सिद्ध अवस्था को प्रत्युत्पन्न नय से प्रकट किया है।

३ तीसरी मान्यता के सम्बन्ध में मुख्यतया दो आपत्तियां उत्पन्न होती हैं। एक तो यह कि पुरुषशरीरी जीव में स्त्री वेद का उदय व स्त्रीशरीरी जीव में पुरुषवेद का उदय सिद्धान्तानुसार घटित नहीं होता। चक्षु, कर्ण, श्रोत्र आदि उपांगों की उत्पत्ति का क्रम यह बतलाया गया है कि जिस प्रकार जीव के ज्ञानावरण का क्षयोपशम होगा, उसी प्रकार अन्तराय का भी क्षयोपशम होगा और उसी अनुसार अंगोपांग नामकर्म द्वारा उपांगों की पुद्गल रचना होगी। ज्ञानावरणीय व वीर्यान्तराय के क्षयोपशम से निरपेक्ष अंगोपांग नामकर्म किसी इन्द्रिय की पुद्गल रचना नहीं कर सकता। उसी प्रकार वेदनोकषाय की जिस प्रकृति का उदय होगा उसी के अनुरूप वीर्यान्तराय का क्षयोपशम व अंगोपांग नामकर्म का उदय होगा। पुद्गल विपाकी नामकर्म में वेदोदय की सत्ता बिना पुरुष व स्त्री लिंगों की रचना की क्षमता नहीं है, क्योंकि ऐसी पृथक् प्रकृतियां अंगोपांग नामकर्म में हैं ही नहीं। यथार्थतः नामकर्म की कोई भी प्रकृतियां अपने कार्य में सर्वथा स्वतन्त्र व अन्य कर्म निरपेक्ष नहीं हैं। गति का उदय आयुकर्म के अनुसार ही होगा। जाति का उदय मतिज्ञानावरणीय के क्षयोपशम का ही अनुगामी होगा। शरीर, बंधन, संघातादि आयु अनुसार गति का ही अनुसरण करेंगे, इत्यादि। और जिस प्रकार इन्द्रियों के विषय प्रतिनियत हैं उसी प्रकार प्रत्येक द्रव्यवेद अपने अपने भाववेद से सम्बद्ध है। जिस प्रकार चक्षु इन्द्रियावरण के क्षयोपशम से कर्ण इन्द्रिय उत्पन्न नहीं हो सकती और न कर्ण इन्द्रिय से रूप का ज्ञान हो सकता, उसी प्रकार न स्त्रीवेदोदय से पुरुष लिंग की उत्पत्ति हो सकती और न पुरुषलिंग से स्त्री वेद का अनुभव हो सकता। प्रत्येक वेद अपने अपने उपांग से बंधा हुआ है जिससे उस वेद के सद्भाव में उसी के अनुरूप उपांग में उत्तेजना उत्पन्न होती है। और चूंकि उपांग रचना एक जीवन भर में बदल नहीं सकती, इसीलिये एक पर्याय भर में एक ही वेदोदय संभव माना गया है।

दूसरी आपत्ति यह है कि यदि पुरुष शरीर में स्त्री वेद का एवं स्त्री शरीर में पुरुष वेद का सद्भाव स्वीकार ही किया गया और भाववेद मात्र की विवक्षानुसार सूत्रकारकृत मनुष्य और मनुष्यनी विभाग माने गये, तो उससे यह व्यवस्था निकलेगी कि जिस प्रकार पुरुषशरीरी स्त्री वेदी जीव मनुष्यनियों में सम्मिलित किये गये, उसी प्रकार स्त्रीशरीरी पुरुषवेदी जीव पर्याप्त मनुष्यों में अन्तर्भूत होंगे और पर्याप्त मनुष्यों के लिये जो गुणस्थानादि व्यवस्थाएं बतलाई गई हैं, वे उन्हें लागू होंगी। इस प्रकार यह तीसरी मान्यता आगम परम्परानुसार चिन्तनीय है।

४ धवलाकार ने उक्त प्रकरण में जो चौथी और पांचवी शंकाओं का समाधान किया है उससे तो उनके समस्त प्रतिपादन की कचाई प्रकट हो जाती है। जिस वेद की अपेक्षा से मनुष्य-मनुष्यनी विभाग कल्पित किये उसकी सत्तामात्र के अभाव में भी उस विभाग के आधार से दशवें आदि गुणस्थानों का प्रतिपादन युक्ति संगत नहीं ठहरता।

यहां उपचार से मनुष्यनी संज्ञा मानना और विशेषण के छूट जाने पर भी भूतपूर्व न्याय से कथन किये जाना बतलाकर धवलाकार ने अपनी पूर्वोक्त मान्यताओं की भले ही कुछ रक्षा कर ली हो, किन्तु उन्होंने सूत्रकार की सारी व्यवस्था को बड़ी शिथिल और सदोष प्रमाणित कर दी। मुख्य कथन में जहां उपचार और भूतपूर्व न्यायादि से काम लेना पड़ा वहां सिद्धांत की जड़ कमजोर ही प्रकट होगी। यदि वेद की प्रधानता छोड़कर गति की ही प्रधानता से कथन करना था तो वेद के अनुसार यहां भेद ही क्यों किये? यथार्थतः प्रस्तुत प्रकरण में तो योग मार्गणा चल रही थी और काययोग के सिलसिले में इन विभागों के अनुसार कथन किया गया है। मनुष्य गति की प्रधानता से तो गति मार्गणा में ऊपर सूत्र २७ में गुणस्थान प्ररूपण किया जा चुका है। वेदमार्गणानुसार प्ररूपण आगे सूत्र १०१ आदि में किया गया है और वहां अनिवृत्तिकरण गुणस्थान तक ही वेदों के आधार से कथन है, उससे आगे के गुणस्थानों को अपगतवेद कहा है। धवलाकार का समाधान कितना असंतोषजनक है यह एक उदाहरण से स्पष्ट हो जायगा। मानलो कुल विद्यार्थियों के उनकी योग्यतानुसार हमने दो विभाग किये एक वर्ग में नौ पुस्तकें सीखने की योग्यता स्वीकार की और दूसरे वर्ग में उससे आगे शेष पांच पुस्तकों की। किन्तु प्रथम वर्ग के पाठ्य क्रम में हमने चौदहों पुस्तकें रख दीं और जब किसी ने पूछा कि क्या ये चौदहों पुस्तकें इस वर्ग में पठनीय हैं, तब कहा, नहीं, किन्तु इस वर्ग की योग्यता का ख्याल न कर के विद्यार्थी मात्र की योग्यता की दृष्टि से ये पाठ्य पुस्तकें रख दी गई हैं। पर यदि वह पूछे कि जब आप को विद्यार्थी मात्र का ख्याल था तो इसे प्रथम वर्ग का पाठ्यक्रम क्यों कहा तो इसका हमारे पास क्या उत्तर है?

इस प्रकार यथार्थतः यहां भाववेद की विवक्षा कोई सार्थकता नहीं रखती और न उसे छोड़कर गति की प्रधानता सिद्ध होती।

इन आपत्तियों के प्रकाश में टीकाकार का स्पष्टीकरण सूत्रकार के सैद्धान्तिक निरूपण के अनुकूल प्रतीत नहीं होता। पर यदि हम यहां पर्याप्त मनुष्य से द्रव्य पुरुष और मनुष्यनी से द्रव्य स्त्री का अभिप्राय ग्रहण करें तो उक्त कोई दोष यहां उत्पन्न नहीं होते। अतएव पाठक इस महत्त्वपूर्ण प्रश्न पर सूत्रकार के निरूपण एवं कर्म सिद्धान्त के वास्तविक तत्त्वों के अनुसार विचार करने की कृपा करें।

जिनकल्प और स्थविरकल्प पर श्वे० साधु श्रीकल्याणविजयजी

(ले०—श्रीयुत बाबू कामता प्रसाद जैन, डी० एल०, एम० आर० ए० एस०)

(क्रमागत)

वस्तुतः श्वेताम्बर-सम्प्रदायके जन्म-समय और उसके बाद भी दिगम्बर सम्प्रदाय अपने प्राचीन नाम 'निर्ग्रन्थ' से ही उल्लेखित किया जाता रहा। मथुरा कंकालीटीला के शिला लेखों में निर्ग्रन्थ आर्हतों (जैनों) का उल्लेख मिलता है! उधर अहिच्छत्र के स्तंभलेख में इन्द्रनन्दि आचार्य और पहाड़पुर के ताम्रपत्र (सन् ४७९ ई०) में निर्ग्रन्थ-संघके आचार्य गुहनन्दि का उल्लेख है। 'नन्दि' अन्त नामवाले आचार्य प्रायः नन्दिसंघ में हुये हैं। नन्दिसंघ की पट्टावली में नं० १२ पर गुणनन्दि आचार्य का समय सं० ३५८ लिखा है।[1] यह समय आचार्य गुहनन्दि के समय के लगभग पहुंचता है। गुहनन्दि गुणनन्दि का विकृत पाठ हो सकता है। उस समय बंगाल में दिगम्बरों का बाहुल्य था, यह बात फाह्यान और हुएनसंग के यात्रा-विवरण से स्पष्ट है। अत एव यह आचार्य मूलसंघ—निर्ग्रन्थ संघ के प्रतीत होते हैं। ई० पांचवीं शतीका एक ताम्रपत्र कादम्बवंश के राजा श्रीविजय शिवमृगेश वर्मा का मिला है। उसमें लिखा है कि उन कदम्ब-नरेश ने कालवंगनामक ग्राम का एक भाग अर्हत भगवान के लिये, दूसरा भाग श्वेतपट (श्वेताम्बर) महाश्रमण संघ के लिये और तीसरा भाग 'निर्ग्रन्थ महाश्रमण संघ' के उपभोग के लिये दान किया था।[2] यहां निर्ग्रन्थ नाम से स्पष्टतः दिगम्बर जैन संघ अभिप्रेत है; क्योंकि इसमें श्वेताम्बर संघ का उल्लेख 'श्वेतपट' नाम से पृथक् हुआ ही है और उधर तामिल साहित्य के प्राचीन महाकाव्यों में प्रमाणित है कि कर्णाटक आदि दक्षिण भारत के देशों में भी दिगम्बर जैन मुनिगण निर्ग्रन्थ नाम से प्रसिद्ध थे। अतः यह साक्षिता प्राचीन निर्ग्रन्थ परम्परा को ही दिगम्बर प्रमाणित करती है—इसीलिये दिगम्बर जैनों ने अपने संघ को ठीक ही 'मूल-संघ' कहा है। अत एव श्रीकल्याणविजय जी की मान्यता तथ्यहीन ठहरती है।

---

१ जैन-सिद्धान्त-भास्कर, भा० १ कि० ४ पृ० ७८

२ "कदम्बानां श्रीविजयशिवमृगेशवर्म्मा कालवङ्गग्रामं त्रिधा विभज्य दत्तवान् अत्र पूर्व्वमर्हच्छाला परमपुष्कलस्थाननिवासिभ्यः भगवदर्हन्महाजिनेन्द्रदेवताभ्य, एको भागः द्वितीयोऽर्हत्प्रोक्तसद्धर्म्मकरण-परस्य श्वेतपटमहाश्रमणसंघोपभोगाय तृतीयो निर्ग्रन्थमहाश्रमणसंघोपभोगायेति—"

—जैनहितैषी, भा० १४ पृ० २२६

हाँ, यह बात अवश्य है कि मूल निर्ग्रन्थ (जैन) संघ के अनुयायियों का उल्लेख जब प्राचीन संस्कृत साहित्यकारों ने किया तो उन्होंने उनको 'विवसन'-'दिग्वास'-'दिगम्बर' नाम से सम्बोधा। हम देख चुके हैं कि 'ऋक्संहिता' (१०, १३६-२) में वातवसन मुनियों का उल्लेख है, जो प्रो० वेबर के मतानुसार दि० जैन मुनियों का द्योतक है।[1] 'विष्णुपुराण' में जैन मुनि 'दिगम्बरो मुंडो वर्हिपत्रधरो द्विजः' और जैनधर्म 'दिग्वाससामयं धर्मो' कहा गया है।[2] यह उल्लेख प्रो० जैकोबी के मतानुसार लगभग चौथी या पांचवी शताब्दियों के हैं।[3] हिन्दू 'पद्मपुराण' में भी जैनमुनि को 'योगी दिगम्बरो' लिखा गया है।[4] 'पञ्च-तंत्र' (५) में वही 'एकाकी गृहसंत्यक्तः पाणिपात्रो दिगम्बरः' लिखा गया है। महाकवि दण्डिन् और आचार्य शङ्कर ने भी उनको विवसन—दिगम्बर बताया है।[5] जहां भी वह जैन उल्लेख करते हैं वहां दिगम्बर जैन मत का नाम लेते हैं। इन उल्लेखों से स्पष्ट है कि ईस्वी प्रारंभिक शताब्दियों में जब संस्कृत भाषा का प्राबल्य हो चला और वैदिकधर्म की उन्नति होने लगी तो निर्ग्रन्थ (जैनी) अपने साधुओं के नग्नभेष के कारण दिगम्बर-दिग्वास नाम से प्रसिद्ध हो गये। यही एक कारण है कि उनका प्राचीन 'निर्ग्रन्थ' नाम धीरे धीरे विलुप्त हो गया और वह केवल ग्रंथों में लिखने की वस्तु रह गया। दक्षिण भारत में जहां दिगम्बर जैनों का प्राबल्य उपरान्त काल तक रहा, वहां दिगम्बर जैनों का सम्बोधन उनके प्राचीन नाम 'निर्ग्रन्थ श्रमण' से ही होता रहा। उदाहरण-रूप में शैवों के 'तेवारम्' नामक ग्रंथ के उद्धरण उपस्थित किये जा सकते हैं। वैष्णव अल्वर टोंडरदिपोडि के पद्य भी इसी बात के समर्थक हैं।[6] अतः यह माना जा सकता है कि ई० ४ थी-५वीं शती से निर्ग्रन्थ जैनी नग्नता के कारण दिगम्बर नाम से प्रसिद्ध हो गये थे। इसके पहले वे निर्ग्रन्थ कहलाते थे।

इस विषय में आगे कुछ लिखने के पहले श्रीकल्याणविजयजी के इस मत का खण्डन कर देना भी आवश्यक है कि श्री कुन्दकुन्दाचार्य छठी शताब्दि के विद्वान् थे। उन्होंने लिखा है 'छठी सदी के विद्वान् कुन्दकुन्द देवनन्दि वगैरह ने प्राचीन परम्परा से मजबूत मोरचा लिया। पहले जो सूत्र, निर्युक्ति आदि प्राचीन आगमों को इनके पूर्वाचार्य मानते आये

---

१ इण्डियन ऐन्टीक्वेरी भा० ३० पृ० २८०

२ विष्णुपुराण, ५/२ और ५/१०

३ *Jacobi.* "……the passage in question is later than the fourth century A. D……"—The VIRA, II. 317

४ पद्मपुराण प्रथम सृष्टि खंड १३ पृ० ३३

५ वीर, वर्ष २ पृ० ३१७—३१८

६ अय्यङ्गर, स्टडीज इन साउथ इंडियन जैनीज्म, भा० १ पृ० ६८—७१

थे। इन्होंने उनका मानना भी अस्वीकार कर दिया और अपने लिये आचार, विचार और दर्शन-विषयक स्वतंत्र साहित्य की रचना की, जिसमें वस्त्रपात्र रखने का एकान्त रूप से निषेध किया।' (पृ० ३०३—४) यह लेख कितना छल से भरा हुआ भ्रामक है, इसे पाठक जरा देखें। जबकि स्पष्ट रूप में श्रीकुन्दकुन्द स्वामी की पूर्वपरम्परा श्वेताम्बरीय परम्परा से भिन्न निर्दिष्ट है, तब यह कैसे संभव हो सकता है कि श्रीकुन्दकुन्द के पूर्वाचार्य वे श्वेताम्बर ऋषि थे जो वस्त्रपात्र का विधान करते थे। दिगम्बर-परम्परा के किसी भी आचार्य ने उनका विधान नहीं किया है ? श्रीकुन्दकुन्दाचार्य ने स्पष्टरूप से कहा है कि वह अपने पूर्वाचार्यों के मतानुसार धर्म का निरूपण कर रहे हैं,[1] बल्कि उन्होंने उस समय जो आगम-ग्रंथ उपलब्ध थे उन पर टीका भी रची थी। ऐसी सूरत में श्रीकुन्दकुन्दाचार्य को पूर्व-परम्परा का विरोधी कहना अनर्गल प्रलाप है।

अब पाठक, ज़रा यह देखिये कि श्रीकुन्दकुन्दाचार्य क्या छठी सदी के विद्वान् थे ? श्रीकल्याणविजयजी ने अपने मनोनीत मत की पुष्टि प्रो० पाठक की उन लचर युक्तियों से करना चाही है जिनका निरसन प्रो० चक्रवर्ती और डा० उपाध्ये ने कर दिया है।[2] आप पहले ही इस बात पर जोर देते हैं कि कुन्दकुन्दाचार्य ने 'पञ्चास्तिकायसार' की रचना शिवकुमार के लिये की थी, जो प्रो० पाठक के मतानुसार विक्रमी छठी सदी के कदम्बवंशी शिवमृगेश नरेश हैं। किन्तु स्वयं श्रीकुन्दकुन्दाचार्य ने यह कहीं नहीं लिखा है कि उन्होंने शिवकुमार महाराज के लिये कोई ग्रन्थ रचा था।[3] हाँ, टीकाकार जयसेनाचार्य यह बात अवश्य कहते हैं और उस पर से प्रो० चक्रवर्ती ने यह प्रमाणित किया है कि शिवकुमार नरेश पल्लव-वंश के शिवस्कन्द महाराज हो सकते हैं जिनका समय ईस्वी पहली शताब्दि व्यक्त किया गया है। उनका यह समीकरण प्रो० पाठक से कहीं अधिक प्रामाणिक है और विद्वानों को मान्य है। अतः इस आधार से श्रीकुन्दकुन्द का समय ईस्वी प्रथम शताब्दि ठहरता है।

---

१ 'सद्दवियारो हूओ भासासुत्तेसु जं जिणे कहियं।
सो तह कहियं णायं सीसेण य भद्दबाहुस्स ॥६१॥
बारस अंगवियाणं चउदस पुव्वंगविउलवित्थारणं।
सुयणाणि भद्दबाहू गमयगुरू भयवओ जअओ ॥६२॥ —बोधपाहुड

२ प्रो० चक्रवर्ती की पञ्चास्तिकायसार की भूमिका व प्रो० उपाध्ये की प्रवचनसार की भूमिका देखो।

३ पंचास्तिकायसार को श्री कुंदकुंद ने प्रवचनभक्ति से प्रेरित होकर मार्ग प्रभावना के लिये रचा था; तथा:—

"मग्गप्पभावणट्ठं पवयणभत्तिप्पचोदिदेण मया।
भणियं पवयणसारं पंचत्थियसंगहं सुत्तं ॥१७३॥"

दूसरा प्रमाण श्रीकल्याणविजयजी ने पं० नाथूरामजी प्रेमी के आधार से उपस्थित किया है कि श्रीकुन्दकुन्द ने 'लोकविभाग' नामक ग्रन्थ का उल्लेख किया है, जिसे सर्वनन्दि आचार्य ने संभवतः वि० सं० ५१२ में रचा था; परंतु प्रेमीजी के इस मत का खंडन पं० युगलकिशोरजी मुख्तार ने कर दिया है। वस्तुतः 'लोयविभागेसु' बहुवचन पद का प्रयोग लोकानुयोग-विषयक ग्रंथों के लिये किया गया है।[1] अतः इससे भी कुन्दकुन्द छठी सदी के विद्वान नहीं ठहरते।

आगे श्रीकल्याणविजयजी ने श्रीकुन्दकुन्दाचार्यजी के ग्रंथों में विष्णु आदि शब्दों को पाकर उन्हें छठी सदी का विद्वान् बताया है; परन्तु यह निर्विवाद सिद्ध नहीं है कि विष्णु-उपासना इसके पहले भारत में थी ही नहीं। ऐसे ही उनकी अन्य बातें भी अनिश्चित हैं जिनसे कोई निर्णय, काल-सम्बन्धी नहीं किया जा सकता !

उस पर कुन्दकुन्दाचार्यजी को विक्रमीय तीसरी या छठी शताब्दि का विद्वान् मानने से ऐतिहासिक परम्परा ही नष्ट हुई जाती है। इस विषय में मुख्तार जी का यह लिखना ठीक है कि "इस मत को मान लेने से समन्तभद्र तो समन्तभद्र पूज्यपाद भी कुन्दकुन्द से पहले के विद्वान् ठहरते हैं; और तब कुन्दकुन्द के वंश में उमास्वाति हुये, उमास्वाति ने तत्वार्थसूत्र की रचना की, उस तत्त्वार्थसूत्र पर पूज्यपाद ने 'सर्वार्थसिद्धि' नाम की टीका लिखी, इत्यादि कथनों का कुछ भी अर्थ या मूल्य नहीं रहता और पचासों शिलालेखों तथा ग्रन्थादिकों में पूज्यपाद तथा उनसे पहले होनेवाले कितने ही विद्वानों के विषय में जो यह सुनिश्चित उल्लेख मिलता है कि वे कुंदकुंद के वंश में अथवा उनके बाद हुये हैं मिथ्या और व्यर्थ ठहरता है, यह सब क्या कुछ कम हानि है ?[2]" इसलिये ही पूर्व परम्परानुसार श्रीकुंदकुंदजी को ईस्वी प्रथम शताब्दि का विद्वान मानना उचित है।

शिलालेखीय साक्षिता भी श्री कुन्दकुन्दाचार्य को प्रथम शताब्दि का विद्वान् प्रमाणित करती है। मर्करा के शक सं० ३८८ के ताम्रपत्र[3] में श्रीकुंदकुंदान्वय का उल्लेख निम्न प्रकार मिलता है :—

"·········श्रीमान् कोंगणि-महाधिराज अविनीत नामधेयदत्तस्य देसियगगणं कौण्ड कुन्दान्वय-गुणचंद्रभटार-शिष्यस्य अभयणंदिभटार तस्य शिष्यस्य शीलभद्रभटार-शिष्यस्य

१ जैनजगत वर्ष ८ अंक ९ जब मरकरा के लेख में जो शाके ३८८ का है, कुन्दकुन्दान्वय का उल्लेख है, तब वह उपरान्त काल के कैसे हो सकते हैं ?

२ रत्नकरण्डक श्रावकाचार (मा० ग्रन्थ)—जीवनी पृ० १६६

३ कुर्ग इन्स्क्रिपशन्स (E.C.I.) श्रीयुगलकिशोर जी मुख्तार ने उसे उद्धृत किया है। वहां से ही हम इसका उपयोग सधन्यवाद कर रहे हैं।

जनाणंदिभटार-शिष्यस्य गुणणंदि भटार—शिष्यस्य वन्दणन्दिभटारगें अष्टअशीतित्रयो-शतस्य सम्संवत्सरस्य माघमासं ......'

इस उल्लेखसे स्पष्ट है कि शाके ३८८ में कुन्दकुन्दाचार्यजी की शिष्य-परंपरा में छः आचार्य हो चुके थे, जिनके होने के लिये यदि लगभग दो सौ वर्ष लिये जावें, तो श्रीकुन्दकुन्दजी का समय शाके १८८ के लगभग पहुंचता है। किन्तु इससे यह स्पष्ट नहीं है कि इन छै आचार्यों के पहले और कितने आचार्य भगवद् कुन्दकुन्द के बाद और हो चुके थे। अतः पट्टावली में दिये गये श्रीकुन्दकुन्द के समय को मानने में शङ्का के लिये स्थान नहीं रहता। इसके अतिरिक्त अन्य लेखों से यह स्पष्ट है कि श्रीकुन्दकुन्दाचार्यजी से बाद के आचार्यों में श्रीसमन्तभद्र स्वामी और गंगराज्य-संस्थापक आचार्य सिंहनन्दी भी हुए हैं।[1] यह सिंहनन्दी जी गंगवंश के प्रथम राजा 'कोंगणिवर्मा' के समकालीन थे। कोंगणिवर्मा का एक शिलालेख नंजनगूढ ताल्लुके से उपलब्ध हुआ है, जिससे प्रकट है कि कोंगुणिवर्मा वि० सं० १६० (ई० सन् १०३) में राज्यासन पर आरूढ़ थे। अतः श्री सिंहनन्दी जी का समय भी यही होना चाहिये और श्रीसमन्तभद्र जी इस समय से पहले के आचार्य होना चाहिये।[2] इस अवस्था में कुन्दकुन्द का उनसे भी पहले विद्यमान होना समुचित है। अतः श्रीकुन्दकुन्दाचार्य को पहली शताब्दि का विद्वान मानना उचित ही ठहरता है। श्रीकल्याणविजय का उन्हें छठी शती का विद्वान लिखना कोरी कल्पना है।

आखिर श्रीकल्याणविजयजी ने आचार्य कुन्दकुन्द जी को छठी शताब्दि का विद्वान् क्यों बताया? इसका कारण स्पष्ट है। उन्होंने अपनी मनगढ़न्त परम्परा को पुष्ट करने के लिये कि पहले जैनसंघ में वस्त्रधारी साधुओं का ही बाहुल्य था, श्रीकुन्दकुन्द को जिन्होंने निर्ग्रन्थ लिङ्ग दिगम्बर ही प्रतिपादा है, छठी शती में ला रखने का असफल उद्योग किया है। किन्तु वह भूलते हैं कि श्रीकुन्दकुन्द ने जो लिखा वह पूर्वपरम्परानुसार ही लिखा और उनसे पहले के निर्ग्रन्थ (जैन) साहित्य में भी जिनमुद्रा और जिनलिङ्ग नग्नभेष रूप ही निरूपित हुआ है। 'भगवती आराधना' में भी साधु का वेष नग्न लिखा गया है और जैनमुनि पाणि-पात्रभोजी बताये हैं। सर्व वस्त्रादिक का त्याग ही आचेलक्य है।[3] निर्ग्रन्थ लिङ्ग के चार चिन्हों में यही पहला है और यही औत्सर्गिक लिङ्ग है।[4] वह महानुभाव जो यह जान

१ मुख्तार सा० ने श्री समन्तभद्र स्वामी की जीवनी में यही निर्देश किया है। पृ० ११२-११४

२ स्वामी समन्तभद्र, पृ० ११४

३ 'चेलादिसव्व संगचाओ' आचेलक्कं। (पृ० ३१२)

४ 'आचेलक्कं लोचो वोसट्ट सरीरदा य पडिलिहणं।
एसो हु लिंग कप्पो चदुव्विहो होदि उस्सग्गे ॥८२॥'

लेता है कि स्थान, आसन, शय्या और गमन में उसकी सब इन्द्रियां मर्यादा रूप हो गई हैं—इन्द्रियों पर उसने विजय पाली है, वह ही पुरुष नग्नता और गुप्ति को प्राप्त कर के उत्कृष्ट पराक्रम—मुनिपद को धारण करता है।[1] इनके अतिरिक्त जो पुरुष इन्द्रियनिग्रह करने में असमर्थ हैं वह अव्रतसम्यग्दृष्टी या व्रती श्रावक या उदासीन क्षुल्लक वा ऐलक श्रावक होता है। यह सब वस्त्रधारी होते हैं; किन्तु हैं यह भी सब ही निर्ग्रन्थ (जैन)! इनका भी उद्देश्य महापराक्रम को प्रकट कर के मुक्त होना है—इसलिये इनके भेष को 'भगवती आराधना' के कर्त्ता ने आपवादिक लिङ्ग कहा[2] है और इनके लिये स्पष्ट विधान किया है कि:—

'अववादिय लिंग गदो, वि सयं सत्ति अगूहमाणो य।
णिंदण गरहण जुत्तो, सुज्झदि उवधिं परिहरंतो ॥८९॥

भावार्थ—अपवादलिंग को प्राप्त (श्रावक-श्राविका या क्षुल्लक-आर्यिका) महानुभाव भी अपनी शक्ति को नहीं छिपावें बल्कि अपनी असमर्थता के लिये निन्दा-गर्हा करते हुये परिग्रह त्याग कर शुद्धता को प्राप्त करें! अर्थात उन्हें औत्सर्गिक लिङ्ग जो साक्षात् मोक्ष का कारण है उसकी प्राप्ति का उद्योग करना चाहिये। इसीलिये आराधनाकार कहते हैं कि वह मरण समय अवश्य इस उत्कृष्ट लिङ्ग को धारण कर लें।[3] अब पाठकगण स्वयं समझ सकते हैं कि 'भगवती आराधना' के रचयिता श्रीशिवार्य जी को यह कहाँ इष्ट था कि वस्त्रयुक्त लिङ्ग

---

१ 'इय सव्वसमिदकरणो, ठाणासणसयणगमणकिरियासु।
णिगिणं गुत्तिमुवगदो, पग्गहिददरं परक्कमदि ॥८८॥'

२ 'भगवती आराधना' के कर्त्ता ने केवल साधुओं के लिये ही नहीं बल्कि श्रावक श्राविकादि के लिये भी आराधना का विधान किया हैं। इसलिये ही उन्होंने साधु वेष और श्रावक के भेष का उल्लेख उत्सर्गलिङ्ग और अपवाद लिङ्ग के नाम से किया है। उन्होंने स्पष्ट लिखा है :—

"अरिहो भत्तपइण्णाए होदि हु विरदो अविरदो वा।७६।"

× × ×

"सो मरणं इच्छंतो होदि हु सामण्ण णिव्विण्णो।७८।" —इत्यादि

३ 'उस्सग्गिय लिंगगदस्स, लिंगमुस्सग्गियं तयं चेव।
अववादियलिंगस्स वि, पसत्थमुवसग्गियं लिंगं ॥७९॥

इससे पहले ७८वीं गाथा तक मुनि और व्रती एवं अव्रती श्रावकों को समान रूप में समाधि-मरण करने का उपदेश देकर, इस ७९वीं गाथा में उत्सर्ग लिंग और अपवाद लिंग का विधान कर के शास्त्रकार ने यह स्पष्ट कर दिया है कि अपवाद लिंग से उनका भाव श्रावकों के भेष से है। संन्यास मरण के लिये वह अपवाद लिङ्गी श्रावकों से भी कहते हैं कि वह अन्त समय उत्सर्ग लिंग धारण कर लें तो प्रशंसायोग्य हैं अर्थात् मरते समय दिगम्बर मुनि के महाव्रत धारण कर लें। दिगम्बर जैन संघ में अबतक यह परिपाटी है कि मुमुक्षु अन्त समय उत्सर्ग लिङ्ग को धारण कर के समाधिमरण करते हैं।

भी साक्षात् मोक्ष का कारण है ? वह तो स्वयं दिगम्बर भेषी और पाणिपात्र भोजी थे; फिर भला वह कैसे यह विधान करते कि वस्त्रयुक्त दशा से भी मोक्ष प्राप्त किया जा सकता है ? उन्होंने तो स्पष्ट रूप में निर्ग्रन्थलिङ्ग (साधुवेष) का प्रथम चिह्न नग्नता (आचेलक्य) घोषित किया है !

आगे श्रीकल्याणविजयजी 'भगवती आराधना' में आर्यिकाओं के लिये दोनों लिङ्गों का विधान देखकर अपने मत का समर्थन हुआ समझते हैं; परन्तु वह भूलते हैं। यहां भी दिगम्बर मान्यता का ही प्रतिपादन किया गया है; जिसका उल्लेख श्रीकुन्दकुन्दाचार्य एवं अन्य सूरियों के ग्रन्थों में मिलता है। आर्यिका पंच महाव्रत धारण करती है इसलिये उपचारतः वह महाव्रती है और चूंकि महाव्रती उत्सर्गलिङ्गी है इसलिये आर्यिका के भी औत्सर्गिक लिंग कह दिया। किन्तु साथ ही उसे अपवाद लिङ्गी भी इसलिये कहा कि वह लज्जा आदि के कारण नग्न नहीं हो सकती और साड़ी पहनती है।[1] इस उल्लेख से श्वेताम्बरों की स्त्री-सम्बन्धी मान्यता की पुष्टि नहीं होती ! यही बात सथारा के समय क्षपक की सेवासुश्रूषा-विषयक उल्लेख से लागू है।[2] वह एक विशेष कथन है और उसके आधार से एक सामान्य नियम को निर्धारित नहीं किया जा सकता। वैयावृत्य धर्म को पालने के लिये अन्य मुनिगण श्रावकादि से लेकर सब आवश्यक वस्तुयें जुटा लें तो इसका अर्थ यह नहीं हो सकता कि वह हमेशा उन वस्तुओं को अपने पास रखते थे। अतः इस विशेष उल्लेख के आधार से यह नहीं कहा जा सकता कि जैनमुनि वस्त्र पात्रादि परिग्रह रखा करते थे। श्रीकुन्दकुन्दाचार्य जी ने इस विषय को 'प्रवचनसार' में बिल्कुल स्पष्ट कर दिया है। श्रीशिवार्यजी तो आराधना का उपदेश मुनि और श्रावक सब ही के लिये करते हैं—इसलिये उनको श्रावकों के अपवाद लिङ्ग का भी उल्लेख करना पड़ा है; परन्तु श्रीकुन्दकुन्दजी ने केवल श्रमण धर्म (मुनिपद) का ही निरूपण किया है। इसलिये वह मुनियों के अपवादमार्ग का स्पष्ट उल्लेख निम्न प्रकार करते हैं : -

'उवयरणं जिणमग्गे लिंगं जहजादरूवमिदि भणिदं ।
गुरुवयणं पि य विणओ सुत्तज्झयणं च णिद्दिट्ठं ॥२५॥'

भवार्थ—जिनमार्ग में मुनि को उपकारी परिग्रह इस प्रकार कहे हैं कि यथा जातरूप (नग्न) भेषरूपी शरीर का द्रव्यलिङ्ग होना गुरुवचन-रूप पुद्गलों का ग्रहण रूप परिग्रह—

---

१ इत्थी वि य जं लिंगं दिट्ठं ओसग्गियं च इदरं वा ।
तं तह होदि हु लिंगं, परियत्तमुवधिं करंतीए ॥८३॥

२ सेज्जागाससणि सेज्जा- उवधिपडिलेहणा उवग्गहिदे ।
आहारो सहवायणा विकिंचणुव्वतणादीया ॥३१०॥

शुद्धात्मानुभवी महामुनियों में विनय प्रवृत्ति—रूप द्रव्य, मन परिग्रह और सिद्धान्तों के पठन रूप वचन परिग्रह इनके अतिरिक्त और किसी परिग्रह का विधान मुनि के अपवाद लिङ्ग में नहीं है। रोगी या वृद्ध मुनि के अपवाद लिङ्ग में भी इन परिग्रहों से अधिक और कोई परिग्रह नहीं होता और इनको परिग्रह कहना उपचारमात्र है। इसीलिये उत्सर्ग लिङ्ग और अपवाद लिङ्ग में वैषम्य के स्थान पर मैत्री ही प्रतिपादी गई हैं; यथाः—

बालो वा वुड्ढो वा समभिहदो वा पुणो गिलाणो वा।
चरियं चरदु सजोग्गं मूलच्छेदो जधा ण हवदि ॥३॥

भावार्थ—बालक, वृद्ध, तपस्या से खिन्न, रोग से पीड़ित—ऐसे मुनि जिस तरह से मूल संयम का घात नहीं हो उस तरह से अपनी शक्ति के अनुसार आचरण करे! अत: यह स्पष्ट है कि मुनि के अपवाद लिङ्ग में भी उसे अपने मूल गुणों को ठीक से पालना पड़ता है—'भगवती आराधना' में भी जहां क्षपक के संन्यास धारण का वर्णन है वहां यह नहीं लिखा है कि वह वस्त्र धारण कर ले! बल्कि उसके मूलगुणों की स्थिरता के लिये अन्य मुनिजन ऐसे साधन जुटाते हैं जिनसे वह मोक्षमार्ग में दृढ़ रहे। ऐसा करने में उन्हें जो दोष लगता है उसका वह प्रायश्चित्त लेते हैं। अत: निर्ग्रन्थ परम्परा में वस्त्रयुक्त दशा साक्षात मोक्षमार्ग कभी नहीं कही गयी है। श्रीकल्याणविजय जी पूर्वापर सम्बन्ध मिलाये बिना ही अनर्गल प्रलाप करते हैं। —क्रमशः

दिगम्बर जैन व्रत-कथायें†

(ले०—श्रीयुत अगरचन्द नाहटा, बीकानेर)

प्रत्येक धर्म में कुछ विशेषताओं को लेकर कई तिथियाँ पर्व*-त्योहार के रूप में मानी जाती हैं और उस दिन उस धर्म के सिद्धान्तानुसार धार्मिक आचरण-व्रतादि पालन किये जाते हैं। इनमें से कई पर्वों को विशेष प्रसिद्धि प्राप्त हो जाने के कारण दूसरे धर्मवाले भी अपना लेते हैं और उसके लिये स्वमतानुसार कोई कथा गढ़ ली जाती है। इन पर्व तिथियों की ओर जनता का ध्यान विशेष रूप से आकृष्ट करने के लिये उनके आराधना से विशेष फल प्राप्ति होने के दृष्टांत में कथाओं का साहित्य निर्माण होता है और उन्हीं का नाम "व्रत कथा" साहित्य है। जैन साहित्य में भी इस प्रकार की व्रत कथायें प्रचुर रूप में पाई जाती हैं पर अभी तक उनका भली भाँति अनुसंधान नहीं होने से बहुत-सा साहित्य अंधकार में पड़ा है, प्रस्तुत लेख विद्वानों का इस ओर ध्यान आकर्षित करने के उद्देश्य से ही लिखा जा रहा है।

जैन धर्म प्रधानतः दिगम्बर एवं श्वेताम्बर दो सम्प्रदायों में विभक्त है, इन दोनों का पृथग्-पृथग् बहुत बड़ा साहित्य है जिनमें बहुत कुछ समानता होते हुए भी एक दूसरे से कतिपय विशेषताएँ एवं मौलिकताएँ भी हैं, पर हमारे विद्वानों का तुलनात्मक अध्ययन की ओर लक्ष्य कम होने कारण उन पर यथोचित प्रकाश नहीं डाला गया। हमलोग एक दूसरे को सर्वथा भिन्न से मान बैठे हैं इसीलिये एक संप्रदायवाले को दूसरे सम्प्रदाय के साहित्यका ज्ञान बहुत सीमित है। यद्यपि मेरा दिगम्बर साहित्य का अध्ययन हमारी ओर उस साहित्यिक कमी के कारण, परिमित नहीं है फिर भी मेरी सदा से यह इच्छा रहती आई है कि जो कुछ लिखा जाय दोनों को लक्ष्य में रख कर लिखा जाय। इसके प्रमाण स्वरूप मेरे अनेक लेख भास्कर एवं अनेकान्तादि में प्रकाशित ही हैं।

मेरे नम्र मतानुसार हमारे विद्वानों का परमावश्यक कर्त्तव्य है कि उभय सम्प्रदाय के साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन कर किन किन सिद्धांतों एवं बातों में दोनों की समानता है, किस विषय में किसकी कितनी विशेषता एवं न्यूनता है इसकी भली भाँति आलोचना की जाय। तभी हमारा पारस्परिक सहयोग एवं सद्भाव स्थायी एवं दृढ़तर होगा। और

---

†वेंकटेश्वर प्रेस से ६ पद्यबंध कथाओं का संग्रह एवं दीपचन्द वर्णी लिखित ३१ व्रतकथाओं का एक संग्रह प्रकाशित है। कई फुटकर कथायें भी प्रकाशित हैं।

*प्राचीन जैनागमों, बौद्ध-वैदिक ग्रन्थों से पता चलता है कि अष्टमी, चतुर्दशी, पूर्णिमा और अमावास्या ये दिन ही प्राचीनकाल में विशेष आराध्य माने जाते थे। इसके पश्चात् जैनों में तीर्थंकरों के कल्याणक एवं पंचमी आराधन का प्रचार बढ़ा।

हमारे विचारों में संकीर्णता का ह्रास होकर धार्मिक सहिष्णुता एवं उदारता पनपेगी। इस लेख में जैन व्रत-कथाओं के सम्बन्ध में श्वेताम्बर साहित्य का थोड़ा सा परिचय देकर यथाज्ञात दिगम्बर साहित्य का परिचय दिया जाकर बीकानेर श्वेताम्बर ग्रन्थ भंडार से प्राप्त २१ दिगम्बर व्रत-कथाओं का परिचय दिया जा रहा है। आशा है अन्य विद्वान् इस सम्बन्ध में विशेष प्रकाश डालने एवं आलोचना प्रकाशित करने की कृपा कर हमारी जानकारी की अभिवृद्धि करेंगे।

व्रत-कथा सम्बन्धी श्वेताम्बर साहित्य

श्वेताम्बर पर्व-कथा-साहित्य में महेश्वरसूरि रचित पंचमी माहात्म्य सब से प्राचीन है जिसका समय ११-१२वीं शताब्दी है। उसके पश्चात् मौलिक रचनायें १४ वीं, १५ वीं शताब्दी से प्रारम्भ होती हैं, जिनमें खरतर जिनप्रभसूरिजी रचित "दीवालीकप्पो" सं० १३८७, भा० सु० सं० १३२५ में विनयचंद्रसूरिकृत दीपालिका† कल्प, १५वीं शताब्दी में—सं० १४८३ में जिन-सुन्दर-सूरि कृत दीपालिकाकल्प, सं० १४८५ में पुण्यराजकृत रजपर्व-प्रबन्ध* एवं सं० १४७८ में खरतर जयसागरोपाध्याय रचित पर्वरत्नावली (श्लोक ६२१), १६ वीं शताब्दी में—सौभाग्यनंदिसूरिकृत मौनएकादशी कथा, सं० १५७६ हम्मीरपुर, १७वीं शताब्दी—में सं० १६५५ में कनक कुशल रचित सौभाग्यपंचमीकथा, सं० १६५७ उन्नत-नगर में रविसागर रचित मौन एकादशीकथा, सं० १६९९ में दानचन्दकृत ज्ञानपंचमीकथा, १८वीं शताब्दी में—सं० १७०८ में दानचंदकृत मौन एकादशीकथा, मेघविजयकृत ज्ञानपंचमी कथा, १९वीं शताब्दी में—खरतर क्षमाकल्याणोपाध्याय ने सं० १८६० के लगभग चातुर्-मासिक व्याख्यान, १८३५ में अष्टान्हिका व्याख्यान, अक्षय तृतीया, मेरुतेरस, होलिका आदि व्याख्यान एवं उमेदचंद्रकृत दीपावली व्याख्यान, सं १८९६ अजीमगंज, जीवराजजी रचित चैत्रपूनम व्याख्यान, सं० १८६० के लगभग आदि रचे गये हैं इन पर से भाषा में ज्ञान पंचमी आदि कथाओं पर चौपई, स्तवनादि अनेक कृतियाँ निर्मित की गई हैं। १२ व्रत, पूजाफल, रात्रिभोजनादि पर भी अनेक कथायें उपलब्ध हैं। २०वीं शताब्दी में राजेन्द्रसूरिजी ने दीपालिकासार एवं द्वादश पर्वों के श्रीजिनकृपाचंद्रसूरि, वीरपुत्र आनंदसागरजी के हिन्दी अनुवाद एवं फुटकर कई पर्व कथाओं के अनुवाद इंदौर आदि से प्रकाशित हुए हैं।

दि० व्रत कथाओं में भी धनपाल रचित भविष्यदत्त-कहा प्राचीन प्रतीत होती है इसका समय ११वीं शताब्दीके लगभग है। इसके पश्चात् अनेकों व्रतकथाओंका निर्माण हुआ, पर बहुतों का समय निश्चित ज्ञात न होने से संक्षिप्त सूची मात्र दे के संतोष मानना पड़ता है।

---

†भगवान महावीर का निर्वाण दिन—यह पर्व अब सब हिन्दू समानभाव से मानते हैं पर मूल में यह जैनों का प्रतीत होता है।

*होली का त्यौहार मूलतः सनातनियों का प्रतीत होता है, पीछे से जैनों ने अपनाया है, पर शुद्ध रूप में।

दि० संस्कृत व्रत-कथायें

१ व्रतकथाकोष—अमृत पंडित, दामोदर, देवेन्द्रकीर्त्ति, नरेन्द्रसेन, यशोनंदि श्रुतसागर, ललितकीर्ति।

२ षोडशकारण—केशवसेन, ज्ञानसागर, शुभचंद्र, सकलकीर्ति, सुमतिसागर।

३ रोहिणी—केशवसेन, प्रभाचंद्र, भुवनकीर्ति, सुरेन्द्रभूषण।

४ मुक्तावलि—खुशाल, रत्नकीर्ति।

५ कांजीद्वादशी—खुशाल।

६ सुगंधदशमी—गंगदास, पद्मनन्दि।

७ पुष्पांजलि—गंगदास, छत्रसेन, देवेन्द्रकीर्ति।

८ त्रैकालिक चतुर्विंशति—गुणनन्दि, विद्याभूषण।

९ ऋषिमंडल विधान—गुणनन्दि।

१० रोटतीज—गुणनन्दि।

११ अनन्तव्रत—गुणचंद्र, गुणभद्र, जिनदास, ताराचंद, धर्मचंद्र, पद्मनंदि, रत्नचंद्र।

१२ एकीभाव—जगतकीर्ति।

१३ होली—जिनदास, वादिचंद्रसूरि।

१४ रात्रि भोजन—जिनदास, दशरथ।

१५ चतुर्विंशति - जिनदास रचित चतुर्विंशदुत्तर द्वादशशतोद्यापन भी है।

१६ दशलक्षण—ज्ञानभूषण, धर्मचंद्र, रत्नकीर्त्ति, विश्वभूषण।

१७ चंदनषष्ठि—देवसेन, श्रुतसागर, सोमकीर्त्ति।

१८ रविव्रत—देवेन्द्रकीर्त्ति, श्रुतसागर।

१९ बुद्धाष्टमी—देवेन्द्रकीर्त्ति।

२० नंदीश्वर—देवेन्द्रकीर्त्ति, श्रुतसागर।

२१ केवलचान्द्रायण—देवेन्द्रकीर्त्ति।

२२ पल्यव्रत—देवेन्द्रकीर्त्ति।

२३ कल्याण मंदिर—देवेन्द्रकीर्त्ति, सुरेन्द्रभूषण।

२४ विषापहार—देवेन्द्रकीर्त्ति।

२५ दैवव्रत—देवेन्द्रकीर्त्ति।

२६ त्रिपंचाशक्रिया—देवेन्द्रकीर्त्ति।

२७ अष्टाह्निका—धर्मकीर्त्ति, श्रुतसागर।

२८ रत्नत्रय—धर्मभूषण, पद्मनन्दि।

२९ श्रुतस्कंध—नक्षत्रदेव, श्रुत पंचमी—श्रीधरसेन, सोमसेन, रामदेव।

३० माघमालिनी—प्रभाचंद्र।

३१ रक्षाबंधन सकलकीर्त्ति।

३२ लब्धिविधान—विद्याधर, सकलकीर्त्ति।

३३ भक्तामर—सोमसेन, सुरेन्द्रभूषण।

३४ आकाश पंचमी—श्रुतसागर।

३५ कलिकुण्ड पार्श्वविधान—पद्मनन्दि।

३६ ज्वालामालिनी—लक्ष्मीसेन।

३७ कर्मचूर—लक्ष्मीसेन।

३८ जिनगुणसम्पत्ति—विद्याभूषण, सुमतिसागर।

३९ द्वादशव्रत—शांतिदास, श्रीभूषण।

४० सुखसंपत्तिव्रत—सुरेन्द्रभूषण।

४१ श्रेयस्करणी—सुरेन्द्रभूषण।

४२ पुरन्दर—श्रुतसागर।

हिन्दी दि० व्रत-कथा सूची

१ रत्नत्रय—ब्रह्म ज्ञानसागर, भट्टा० सकलकीर्त्ति, हरिकृष्ण पांडे, नाथूलाल दोशी गुणभद्र।

२ पुष्पांजलि—खुशालचंद्र, गुणभद्र (अपभ्रंश), ललितकीर्त्ति।

३ रविव्रत—खुशालचंद्र, नेमिदत्त भाऊ, भानुकीर्त्ति, रत्नभूषण, जसकीर्त्ति (अप०) ज्ञानसागर, सकलकीर्त्ति, अचलकीर्त्ति,

४ रोहिणी—विशालकीर्त्ति, पं० ज्ञानसागर, हेमराज, भगवान् सागर, लक्ष्मीसेन।

५ पुरंदर—अपभ्रंश का भी है।

६ ऋषि पंचमी—प्र०

७ दशलक्षण—रइधु, अभयचंद्र, गुणभद्र, भावशर्म, भैरौंदास, ज्ञानसागर, हरिकृष्ण।

८ हनुवंतकथा—ब्रह्मरायमल्ल।

९ अक्षयदशमी कथा—हरिश्चन्द्र अग्रवाल, रइधु।

१० अनंतचतुर्दशी—महेश, पद्मनन्दि, गुणभद्र, ज्ञानसागर, भैरूदास, हरिकृष्ण, ज्ञानचंद्र

११ आकाश पंचमी—गुणभद्र (अपभ्रंश), खुशालचन्द्र, घासीदास, हरिकृष्ण।

१२ षोडशकारण—रइधु, भैरूंदास, ब्रह्म ज्ञानसागर, सकलकीर्त्ति, नाथूलाल, गुणभद्र।

१३ चंदनषष्ठि—गुणभद्र (अप०), खुशालचन्द्र।

१४ चंद्रायण—पं० लाखू (प्रा०), गुणभद्र ।

१५ जिनरात्रिकथा—यशःकीर्त्ति, ज्ञानसागर ।

१६ ज्येष्ठ-जिनवर-व्रत—श्रीभूषण ।

१७ अष्टान्हिका—नाथूलाल दोसी, विश्वभूषण, ज्ञानसागर ।

१८ श्रुतस्कंध—

१९ श्रुतपंचमी—बनवारी लाल, भ० सुरेन्द्रनाथ (भूषण ?) पृथ्वीपाल, विष्णु ।

२० रोटतीज—जैनेन्द्रकिशोर ।

२१ लब्धिविधान—ज्ञानसागर, गुणभद्र ।

२२ मौनएकादशी (मौनव्रत)—प्रकाशित, गुणचन्द्रसूरि ।

२३ मुकुट सप्तमी—पं० ब्रह्मराय, खुशालचन्द्र, गुणभद्र ।

२४ रक्षाबंधन—ज्ञानसागर, दामोदर ।

२५ श्रावण द्वादशी—ज्ञानसागर ।

२६ होलीकथा—बेगराज, छीतरमल ।

२७ रोहिणी—जिनचन्द्र, गुणभद्र, हेमराज ।

२८ कर्म्मचूर—शिवप्रसाद ।

२९ सुखसम्पत्ति—विमलकीर्त्ति ।

३० सुगंधदशमी—खुशालचन्द्र, ब्रह्म ज्ञानसागर, मकरंद पद्मावतीपुरवाल, भैरोदास, पं० सुखसागर, गुणभद्र ।

३१ व्रतकथाकोष—पृथ्वीपाल, बख्तावरमल, रतनलाल, खुशालचंद्र (काला)

३२ दर्शन, दान, शील, रात्रि भोजन—भारमल खरौआ ।

३३ दुधारसी—श्रीधर्म, विनयचन्द्र, गुणभद्र (अप०), ज्ञानसागर ।

३४ निर्झर पंचमी—विनयचन्द्र (अप०)

३५ निर्दुखो सप्तमी—गुणभद्र, रायमल, ज्ञानसागर ।

३६ पल्य व्रत—शुभचन्द्र ।

३७ पाखवइ—गुणभद्र ।

३८ श्रावण द्वादशी—गुणभद्र, आभू

३९ अष्टमी—गुलालकीर्त्ति, गैबीदास, जोगीदास ।

४० जिनगुणसम्पत्ति—ललितकीर्त्ति ।

४१ निशि भोजन—किसन सिंह ।

४२ निशल्य—ज्ञानसागर ।

४३ मुक्तावलि—छजमल ।

इस लघु लेख में जिन व्रतकथाओं* का परिचय दिया जा रहा है उनका दो दृष्टियों से महत्व है :-१ अपभ्रंश भाषा की इसमें ९ (पूर्ण एवं १ की ९ गाथायें) व्रतकथायें हैं। भारतीय लोक भाषाओं के क्रमिक विकाश के अध्ययन के लिये अपभ्रंश साहित्य का विशेष महत्व है, पर खेद है दिगम्बर साहित्य में इस भाषा का साहित्य प्रचुर होने पर भी हमारे विद्वानों ने उसका विशद इतिहास निर्माण नहीं किया। अन्यथा इन रचनाओं को हिन्दी आदि भाषाओं के इतिहास में महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त होता। दि० समाज का परमावश्यक कर्त्तव्य है कि भाषा विज्ञान के अध्ययन की दृष्टि से शताब्दी वार इनके संग्रह का १ ग्रन्थ प्रकाशित करें एवं अपभ्रंश और हिन्दी दि० साहित्य का परिचायक आलोचनात्मक इतिहास प्रकाशित करें। २ इसमें आई हुई अधिकतर रचनाएँ अद्यावधि अज्ञात हैं। इस दृष्टि से इस लेख द्वारा हमें कई नये ग्रन्थकारों एवं कई ज्ञात ग्रन्थकारों की नवीन रचनाओं का पता चला है खोज करने पर और भी ऐसे अनेकों नये-नये ग्रन्थों का पता चल सकता है।

१ जैन गुर्जर कविओ भा० १ पृ० ९१ में जसवन्त सागर के जैन मंदिर की प्रति का उद्धरण दिया है जिसमें ३७ कृतियाँ हैं उनमें १० अपभ्रंश भाषा में व्रतकथायें हैं:— १ सुअंधदसमी-कहा २ रोहिणी विधान कथा ३ मुक्तावलि विधान ४ अनन्त व्रतकथा ५ निर्दोष सप्तमी कथा ६ पासवई-कहा ७ जिन-पुरंदर कथा ८ उद्धरण कथा ९ जिन रात्रि विधान १० सोलह कारण जयमाला, इनमें से रोहिणी कथा के कर्त्ता देवनन्दि हैं अन्य के अज्ञात हैं इस ग्रन्थ में उद्धृत सुअन्धदसमी कथा का आद्य पद मेरे निर्देशित ही है। संभव है और भी कई कृतियाँ मिलाने पर अभिन्न होने का पता चले।

१ पुष्पांजलिकथा—पं० हरिचन्द्रकृत गद्य-पद्य

आदिः—**विप्रस्य देह जवरापि सुरोवभूव पुष्पांजले र्विधिमवाप्यततोपिचक्री।**
मुक्तश्चादिव्य तपसोविधिमाविधाय नित्यं ततोहि जिनपं विभुमर्चयामि।

—अस्य कथा

× × × ×

अंत—**यः कुरुते पठति लिखति व्याख्याति उपदेशयति शृणोति स सर्व्वदा सुखं लभते**
॥६॥ पुष्पांजलि कथा पंडित हरिचंद्रकृता समाप्तेति

२ श्रावण द्वादशी कथा—चंद्रभूषणशि० पं० अभ्र श्लोक ८०

आदिः—**प्रणम्य परम ब्रह्म केवलज्ञानगोचरं,**
वक्ष्येभव्यप्रबोधाय श्रावण द्वादशीं कथां ॥१॥

× × × ×

*वैदिक धर्मावलम्बियों के व्रत आदि का विशेष परिचय कल्याण में प्रकाशित एक लेखमाला द्वारा पाया जाता है।

अंतः---चंद्रभूषण शिष्येण कथेयं पापहारिणी।
संस्कृता पंडिताभ्रेण कृता प्राकृत सूत्रतः ।८०।

३ आकाशपंचमी कथा---श्लोक ९७

आदिः---प्रणम्य वीतरागस्य पादयुग्मं भवच्छिदं।
कथाकाशपंचम्यां, वक्ष्येहं पूर्व्वसूत्रतः ।१। •

× × × ×

अंतः---ये सम्यक्त्वं न त्यजंते कदाचित्ते जायंते कर्म्मबंधनं मुत्त्वा।
शुद्धं त्रैधाये व्रतं पालयन्ते किं वाश्चर्यंतेच गच्छंति मोक्षं ।९७

४ रत्नत्रय कथा---पं० रत्नकीर्ति, गद्य

आदिः---श्रीवर्द्धमानस्य गौतमादिकसद्गुरून्।
रत्नत्रयकथां वक्ष्ये यथाम्नायं विमुक्तये।

अंत ---तत्र कल्याणकपूजाप्रभावनाकरि अन्योयः कोपि पुरुषः स्त्री
वा एतद्विधानं समाचरति भावपूर्वकं स एवं विधिफलं प्राप्नोति न संदेहः।
॥६॥ पंडित रत्नकीर्ति विरचिते रत्नत्रय विधानकथा समाप्ता ॥

५ षोड़शकारणकथा---पं० अभ्र संस्कृत श्लोक ७१ फिर ९ पद्य अपभ्रंश।

आदिः---रत्नत्रयं नमस्कृत्य कर्मघ्नं मोक्षसौख्यदं।
षोडशाहं प्रवक्ष्यामि कारणानि जिनागमान् ।१

× × × ×

अंतः---इय सोलह कारण कम्म वियारण जे धरंति वय सीलधरा।
ते दिवि अमरेसर भुवणिनरेसर सिद्धवरगण हियइहरा ॥
इत्यभ्र पंडित कृत जयमाला सह षोडशकारणकथा व्यवहारविधानं समाप्तम्।

६ लब्धिविधान कथा---प० अभ्र रचित, हर्षब्रह्म आग्रह, श्लोक २१०

आदिः---दत्तात्रैलोक्यमुर्द्धतुर्यं पंचपरमेष्ठिनः।
तान्नमस्कृत्य वक्ष्येहं व्रतं लब्धिविधानकं।

× × × ×

यो लेखयति यथार्थं शृणोति वाचयति भावयत्यनिशं।
स च लभते परमसुखं कथितमिदं पंडिताभ्रेण ।२०९।
जिनसूत्रानुसारेण हर्ष ब्रह्मोपरोधतः।
भव्य प्रबोधनार्थायममेयं रचिता कथा ।२१०।

७ श्रुतस्कंध विधान कथा:---

आदि :---श्रीगौतमस्वामिगणधरदेवेन श्रेणिकमहाराज्ञः
श्रुतस्कंधविधानं कथयतु प्रारब्धं ।

× × ×

अंत:---एतत्श्रुतस्कंधविधानं श्रेणिकमहाराज्ञः कथितां गौतमस्वामिना
चातुर्वर्णसंघेन स्वशक्त्या च कर्तव्या ।

८ रुक्मिनी चरितविधान---छत्रसेन रचित नरदेव कारापित श्लोक ५६

आदि: --जिनं प्रणम्य नेमीशं संसरार्णवतारकं ।
रूक्मिनीचरितं वक्ष्ये, भव्यानां बोधकारणं ।१।

अंत:--नेमिनाथो जिनाधीशः संसारद्रुमपावकः ।
मोक्षसौख्यं जनाभ्यर्थ्यं मह्यं दिशतु सत्वरं ।५६।

इति छत्रसेन विरचिता नरदेवकारापिता रूक्मिनीविधान कथानकम्

९ पल्यविधान ।

आदि:---नमो नाभेयमित्राय काममल्लविनाशिने ।
विमुक्तिपदप्राप्ताय भव्यांबुजविकाशिने ।१।

× × ×

अंत:---जिनगृहोपकरणानि जिनायतने निवेदनीया नीतिपल्यविधानं समाप्तं ।

१० दशलाक्षणिकाविधान— लोकसेन— गद्यपद्य

आदि:---इह जंबूद्वीपे भरतक्षेत्रे मगधदेशे राजगृहनगरे राजा श्रेणिको नाम ।

अंत:---श्रेणिकः स्वगृहे श्री महावीरस्यसमोवशरणं लोकानामुद्धरणाय ।
पर्यटति । कृतिरियं लोकसेनस्य दशलाक्षणिक कथेयं समाप्तेति ।

११ मुक्तावलि--अपभ्रंश ।

आदि:---वीर जिणंदहं पयकमल वंदिवि गुरु गोयमुपणविज्जइ ।
रयणत्तउ मणिधरिवि मइं ।

अंत:--जो विहिणा व बमह एरु विहे सो कमेण जिहपोमरहो ।
सिव सुख लहइ पइं उत्तरि विमबसमुद्द दुम्राहुल्म ।१०।

१२ चंदनषष्ठी विधान—

आदि:---श्रीमहावीर देवगणधरः श्रेणिकस्य चंदनषष्ठिविधानकथां कथयति ।

× × ×

पणवेप्पिणुभावें विमलसहावेंपायपोम परमेट्ठिहें ।
अक्खमिणि सत्तिए भवियणभत्तिए जंफलु चंदणछट्ठि हें ।

× × ×

अंतः—इय चंदण छट्ठिहिं जो पालइ बहुलक्खणु ।
सो दिवि भुंजइ सोक्खु मोक्ख होणणें लक्खणु ॥६॥

विधि संस्कृत में, कथा अपभ्रंश में है ।

१३ जिनरात्रिविधान कथा--- (पत्र ५३ से ६३) अपभ्रन्श ।

आदिः—पणविवि सिरिसंत हो आइस जुत्त हो वीर होणासिय पावमलु ।
णिचलमणा भव्वहं बियलिय गव्वहंअक्खमि पुड़ जिणरत्ति फलु ।१।

× × ×

अंतः—एण वराणिज्जियराइवर विणि वारिय चउविह गइ ।
जध सासण विग्घ विणासण, यहु पडंतुमहामइ ।१।

१४ जिनपुरंदरविधान कथा---अमर कीर्ति--- अपभ्रन्श-

आदिः—सिरि वीर जिणंद हो समसरणे सेणिय रायहो पुरणणिहे ।
जिणपूजपुरंदर विहि कहिउ, तं आयणहिं विहियदिहि ।१।

× × ×

अंतः—जिणपूयापुरंदर विहि करए एकवार जो इत्थुणरो ।
सो अँव पसायहवेइ लहु अमरकित्ति तियसेसरु ।१२।

१५ रोहिणी विधान कथा— संस्कृत गद्य-

आदिः—वासुपूज्यं जिनं नत्वा कथां वक्ष्ये जिनानमान् ।
दुर्गंधा च व्रतेनाभूत् रोहिणी प्रिया रोहिणी ।१।

× × ×

अंतः—रोहिणी विधानं करोति स एवं विधं फलं प्राप्नोति इहैव यशः कोर्तिश्च ।

१६ त्रिकाल चौवीसी कथा—अभ्रदेव श्लोक ७६

आदिः—स्मृत्वापंचनमस्कार धृत्वा रत्नत्रयं हृदि ।
सर्वज्ञश्रुतसाधूनां नत्वा पादांबुजद्वयं ।१।

अंतः—इयं कथाभ्रदेवेन कथिता दुःखहारिणी ।
येन संश्रूयते नित्यं लभ्यंते न मोक्षस्सा ।७६।

१७ निदूष सप्तमी उदयचंद्र, शि० बालचंद्र अपभ्रंश-

आदिः—संति जिणेंदहं पयकमलु भवभयकलुसकलंक निवारा।
उदयचन्दु गुरु धरिवि मणे, बालइन्दु मुणि नविवि निरुंतरु।१।

अंतः—वच्छर सत्तजाम धसतारिहिं विहि भाविज्जइ इह नरनारिहि।
किज्जइ धणसत्तिहि उज्जवणउ विविह पहावणेण दुहदमणउं।
आयणिवि मुणिभासियउ राए गुणअनुराउ वहत्तें।
लयउ धम्मु सावयजणहो तियरणेहिं विहि उत्तमसत्तें।२०।

१८ दुधारसीविधाननरगउतारी कथा—उदयचन्द्र, शि०बालचन्द्र।

आदिः—समवसरणि सिंहासणि बइठउ सोजि देउ महुमणइं पइठउ।
अवरिजि हरिहर बंभ पुडिल्ला, ते पुणु नवउं न मोहगहिल्ला।

× × ×

उदयचंदु गुणगणहं जुगरुवउ सोमइ भावें मण अणुसरियउ।
बालयन्दु मुनिणवेवियिरंतरु नरग उतारी कहमि कहंतरु।

× × ×

अंतः—अमियसरीसउ जवणजलु नयरु महावणु सग्गु।
तहिं जिणभवणिवसं ताइणा विरइ रासु समग्गु।१६।

१६ निर्झर पंचमी विधान कथा—उदयचन्द्र,—शि० बालचन्द्र।

आदिः—पणविवि पंच महागुरु सारद धिरविमणे
उदयचन्द्रगुरुसुमरिवि वंदि बालमुणे।

× × ×

अंतः—इय पंचमि संखेयं अक्खियपंचपय।
तिहुअण गिरितल हट्टिय इह रासउ रइउ।
माथुरसंघहं मुणिद रूविणइन्दें कहिय।
भवियहु पढहु २ पढ़ावहु दुरियहं देहु जलु
माणुमकरहु मरुसहुमणुर वंचहु अवलु।
जिणभणंति भडारा पंचमि पंचपहु।
अम्हिहिंते दरिसाविय अविचलु सिद्धि पहु।

२० सुगन्ध दसमी कथाः—

आदिः---जिण चउवीसनवेप्पिणुभाउ धरेप्पिणु देवत्तहं चउवीसहं
पुणु फलु आहासमिधम्मु पयासमि वर सुयन्ध दसमिहिं जहं।
पुच्छिउ सेणिएण तित्थंकरु कहहि सुगंधदसमि फलु मणहरु।

अंतः---प्रति में पत्र ९२ से ९५ तक नहीं होने के कारण अन्त नहीं मिल सका पर जैन गूर्जर कविओ भाग १ पृ० ९ में उद्धृत सुगन्ध दसमी कथा के पद्यों से ज्ञात होता है कि इसकी पूरी प्रति जसवंतसागर के जैनमन्दिर में है।

२१ चौदह गुण ठाण ? विधान कथा।

इसका भी प्रारम्भिक भाग व अन्त भाग प्रति के मध्य पत्रों के न मिलने एवं अपूर्ण रह जाने से प्राप्त नहीं है। इस व्रत कथा का नाम भी आदि अन्त के न होने से निश्चित नहीं कहा जा सकता पर २-३ उल्लेखों से उपर्युक्त नाम ही सम्भव है। वे उल्लेख ये हैं।

गुणठाण वासाइं पुज्जतिणिरु जामं अमुणा पयारेण विहिएहदिव ताम।

× × ×

चउदहवरिसतह उज्जवणु ज किज्जइ भवियण हो पुणु।

× × ×

गुण ठाणसत्थाइं लेहाविऊणं सुदिज्जन्ति निग्गंत्थवेसेसुणूणं

× × ×

प्रति के अंत पत्र प्राप्त न होने से कहा नहीं जा सकता कि प्रति में और कौनसी रचनायें थीं।

प्रति परिचय---प्रस्तुत प्रति बीकानेर के श्रीजिनचारित्रसूरि संग्रह की है इसके पत्रों की संख्या १०० है प्रत्येक में १०, ११ पक्तियाँ एवं प्रति पंक्ति अक्षर ३६ के लगभग हैं। कागज काफी मजबूत है। अनुमानतः, यह प्रति १६ वीं शताब्दी की लिखी हुई प्रतीत होती है।

अपभ्रंश भाषा का काल

(ले०—श्रीयुत पं० परमानन्द जैन शास्त्री)

भारत की प्राचीन संस्कृत, प्राकृत और पालि आदि भाषाओं को जो साहित्यिक महत्व प्राप्त हुआ है वही महत्व प्रायः अपभ्रंश भाषा को भी प्राप्त हुआ जान पड़ता है। इस भाषा के विपुल एवं विशाल साहित्य की ओर दृष्टिपात करने से संदेह को इसमें कोई गुंजाइश नहीं रहती। साहित्य की विशालता एवं महत्ता से ही उसके अभ्युदय एवं विकास का इतिवृत्त जाना जा सकता है। अपभ्रंश भाषा का जो भी थोड़ा सा साहित्य प्रकाश में आ पाया है उससे उसकी प्रौढता, गंभीरता और प्रतिष्ठा का अनुमान किया जा सकता है। जैन समाज में इस भाषा के साहित्य की विपुलता देखी जाती है। श्वेताम्बर समाज की अपेक्षा दिगम्बर समाज में संस्कृत, प्राकृत, कन्नड़, तामिल और तेलगु आदि भाषाओं की तरह अपभ्रंश का भी विशाल साहित्य दृष्टिगोचर होता है। यद्यपि इस भाषा में अधिकतर पुराण-चरित्र एवं कथा साहित्य की ही सृष्टि हुई है। परन्तु इस भाषा का कोई दार्शनिक ग्रंथ अभी तक देखने में नहीं आया। इस भाषा की साहित्यिक विशालता को देखकर यह कहने में कोई संकोच नहीं होता कि एक समय ऐसा भी था जब कि यह भाषा सर्व साधारण की बोलचाल की भाषा थी। जैनियों की इस भाषा ने ही हिन्दी भाषा को जन्म दिया है जो आज राष्ट्र भाषा बनती जा रही है। इसके उत्थान-पतन आदि का कोई सामासिक इतिवृत्त अभी तक प्रकट नहीं हुआ जिससे इस भाषा के विषय में विशेष जानकारी प्राप्त होती। इसका प्रधान कारण साहित्य का अप्रकाशन एवं उसकी एक मुकम्मल सूची का न बनना ही जान पड़ता है। विक्रम की ७वीं शताब्दी से १७वीं शताब्दी तक उत्तरोत्तर रूप से अपभ्रंश भाषा अपने साहित्यिक रूप में दृष्टिगोचर होती है। संभव है कि विक्रम की १७वीं शताब्दी के बाद भी कुछ समय तक यह साहित्यिक भाषा रही हो।

जैन सिद्धांत भास्कर भाग १० किरण २ में पं० रामजी उपाध्याय एम. ए. ने पंडित रइधू के सुकौशल चरित पर एक लेख लिखा है जिसके आरंभ में अपभ्रंश भाषा का साहित्यिक काल १५वीं तक बतलाते हुए सुकौशल चरित को "अपभ्रंश के साहित्यिक जीवन के अन्तिम काल की रचना है। अभी तक अपभ्रंश भाषा का कोई भी ग्रंथ इसके बाद का लिखा हुआ नहीं मिला है।" ऐसा प्रकट किया है।

आपका रइधू के सुकौशल चरित को साहित्यिक जीवन के अन्तिम काल की रचना मानना ठीक नहीं है। कवि रइधू ने अपभ्रंश भाषा में २३ ग्रंथों की रचना की है† और

†देखो अनेकान्त वर्ष ५।

वे सब रचनाएँ दिगम्बर ग्रंथ भंडारों में उपलब्ध हैं। उनमें से कुछ रचनाएं ग्वालियर के राजा डूंगरसिंह के पुत्र कीर्ति सिंह के राज्यकाल में भी रची गई हैं। संवत् १५१० के एक मूर्ति-लेख से यह स्पष्ट है कि संवत् १५१० तक ग्वालियर की राज्यसत्ता राजा डूंगरसिंह के ही हाथ में थी* उस समय तक राज्य का उत्तराधिकार उनके पुत्र कीर्त्तिसिंह को प्राप्त नहीं हुआ था। चूंकि रइधू ने अपनी 'सम्यक्त्व कौमुदी' राजा कीर्त्तिसिंह के राज्यकाल में बनाई है; अतः यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि संवत् १५१० के बाद जब कभी राजसत्ता कीर्त्तिसिंह के हाथ आई, तब सम्यक्त्व कौमुदी का निर्माण किया गया। ऐसी हालत में रइधू का सुकौशलचरित साहित्यिक जीवन के अन्तिमकाल की रचना नहीं हो सकता, उक्त चरित के बाद भी कवि ने कई ग्रन्थों की रचना की है जो सोलहवीं शताब्दी का प्रारंभिक भाग कहा जा सकता है; और इसके बाद भी १६वीं १७वीं शताब्दी में अपभ्रंश भाषा में ग्रन्थों का निर्माण कार्य हुआ है, जिससे उक्त चरित उस भाषा के अन्तिमकाल की रचना किसी तरह नहीं कहा जा सकता।

अब मैं पाठकों की जानकारी के लिये १५वीं शताब्दी के बाद के दो तीन अपभ्रंश भाषा के ग्रन्थों का सामान्य परिचय देकर इस लेख को समाप्त करता हूं।

कवि माणिक्यराज ने 'नागकुमार चरित्र' की रचना विक्रम सं० १५७९ में फाल्गुण शुक्ला ९ मी के दिन की है। इस ग्रन्थ की एक खंडित प्रति जयपुर स्टेट की प्राचीन राजधानी आमेर या अम्बेर के भट्टारक महेन्द्र कीर्ति के ग्रन्थ भण्डार में है जिसकी पत्र संख्या १२४ है उसमें आदि के दो पत्र नहीं हैं। प्रति लिपि सं० १५९२ की है। इसमें नौ संधियां हैं ग्रन्थ की आनुमानिक श्लोक संख्या ३३०० है। ग्रन्थ में कर्ता का कोई परिचय नहीं मिलता। कवि माणिक्यराज ने इस ग्रन्थ को चौधरी जगती के पुत्र राज रंजण चौधरी टोडरमल्ल को समर्पित किया है। और टोडरमल्ल ने संतुष्ट होकर ग्रन्थकर्ता का वस्त्राभूषणादि के द्वारा यथोचित सत्कार किया है। कवि ने टोडरमल्ल को देव, शास्त्र, गुरु का भक्त, चार प्रकार के संघ का संपोषक, दयालु तथा अपने परिवार का पालक एवं धर्मनिष्ठ बतलाया है।+

---

*सिद्धि संवत् १५१० वर्षे माघ सुदी ८ अष्टम्यां श्री गोप गिरौ महाराजाधिराज राजाश्री डूंगरडूंगरेन्द्र राज्य प्र० (प्रवर्तमाने) श्री काष्ठासंघे माथुरान्वये भट्टारक श्रीक्षेमकीर्ति देवा ···। देखो जैनलेख संग्रह भाग १ पृ० ९३

+विक्कम रायहु ववगयकालें ले समुणीस विसर अंकालें।
पण्णरह सइ गुणासियउरवालें। फागुण चंदिण पक्खि ससि वालें।
णवमी सुह णक्खित्तु सुहवालें।··························।

× × × ×

सिरि पिरथी चंदु पसायं सुंदरु। हुउ परि पुण्णु कव्वुरसमंदिरु।

—नागकुमार चरित्र पत्र १२४

दूसरा ग्रन्थ शांतिनाथ चरित्र है जिसके कर्ता इल्लराज के पुत्र महिंदु या महाचंद्र हैं। इन्होंने इस ग्रन्थ की रचना योगिनीपुर (दिल्ली) में बाबर बादशाह के राज्यकाल में विक्रम सं० १४८७ के कार्तिक मास के प्रथम पक्ष की पंचमी के दिन पूर्ण की है। जैसा कि उसकी प्रशस्ति के निम्न पद्य से प्रकट है :—

विक्कमरायहु ववगयकालइ रिसिवसुसरभुवि अंकालइ।
कत्तिय पढ़म पक्खि पंचम दिणि हुउ परिपुराण वि उग्गंतइ इणि ॥

इस ग्रन्थ का परिचय अनेकान्त वर्ष ५ किरण ६-७ में दिया जा चुका है।

तीसरा ग्रन्थ मृगांक लेखा चरित्र है, जिसके कर्ता पं० भगवतीदास हैं, जो देहली गद्दी के भट्टारक माहिंद्र या महेन्द्रसेन के शिष्य थे। इनका विशेष परिचय किसी दूसरे ही स्वतंत्र लेख द्वारा दिया जायगा। इसकी रचना विक्रम सं० १७०० के अगहन सुदी पंचमी सोमवार के दिन हिसार के वर्द्धमान चैत्यालय में हुई है जैसा कि उसके निम्न प्रशस्ति पद्यों से प्रकट है '—

घत्ता—सगदह सय संवदती तहं विक्कमराय महप्पए।
अगहण सिय पंचमि सोमदिणे पुराण ठियउ अवियप्पए ॥१५॥
दुवई—चरिउ मइंकलेह चिरु णंदउ। जाम गयणि रवि-ससिहरो।
मंगल यारुह वइजणि मेइणि धम्मपसंगहि द करो ? ॥१६॥
गाथा—रइओ कोटि हिसारे जिणहरि वरवीर वड्ढमाणस्स।
तत्थठियो वयधारो जोईदासो वि बंभयारीओ ॥१७

× × × ×

इयरिचंद लेहकहाएरंजिय बुहचित्त सहाए भट्टारक सिरि मुणि माहिंदसेण सीसु विबुह भगवइदास विरइए ससिलेहा सग्ग गमण इत्थिलिंग छेउ इंद पयवी पप्पणं सायरचंद णिव्वाण गमणं तव दारवर साहणं णामचउत्थो संधि परिच्छेओ सम्मत्तो। इति श्रीपंडिगवतीदासकृत मृगांकलखा चरितं सम्पूर्ण समासं।४।

ऊपर के समस्त विवेचन पर से यह स्पष्ट है कि अपभ्रंश भाषा केवल १५ वीं शताब्दी तक ही साहित्यिक भाषा नहीं, किन्तु १६वीं, १७वीं शताब्दियों में भी साहित्यिक रचनाएं होती रहीं हैं। रइधू का सुकौशल चरित भी अपभ्रंश के साहित्यिक जीवन के अन्तिम काल की रचना नहीं है।

———

क्या समन्तभद्र धर्मकीर्तिके उत्तरकालीन हैं ?

(ले०— न्यायाचार्य पं० दरबारीलाल जैन, कोठिया)

'अनेकान्त' वर्ष ५ किरण १२ में 'स्वामी समन्तभद्र और दिग्नाग में पूर्ववर्ती कौन ?' शीर्षकके साथ मैंने एक लेख लिखा था। इस लेखमें स्वामी समन्तभद्र और बौद्ध विद्वान् दिग्नागके साहित्यका तुलनात्मक अन्तः परीक्षण करके यह स्थिर किया है कि स्वामी समन्तभद्र दिग्नाग (४२५ A. D.) के पूर्ववर्ती विद्वान् हैं। साथ ही दिग्नागके उत्तरवर्ती भर्तृहरि, कुमारिल और धर्मकीर्तिके भी साहित्यके साथ समन्तभद्रके साहित्यका अन्तः परीक्षण करके इन विद्वानों से भी समन्तभद्रको पूर्ववर्ती प्रकट किया है। यह लेख अनेक विद्वानोंको पसंद आया और मुझे उन कारणोंपर भी प्रकाश डालनेके लिये प्रेरित किया, जिन कारणोंके आधारपर कुछ विद्वानोंने समन्तभद्रको दिग्नाग और धर्मकीर्तिका उत्तरवर्त्ती बताया है। यद्यपि मेरे उपर्युक्त 'अनेकान्त' वाले लेखके बाद इन कारणोंका अधिक महत्त्व नहीं रहता और इसलिये इनपर विचार करना खास आवश्यक नहीं है—उन विद्वानोंको उक्त लेख मे ही इसका पर्याप्त उत्तर मिल जाता है तथापि यह विषय और अधिक स्पष्ट हो जाय और दूसरे विद्वानों तथा पाठकोंको भी इस सम्बन्धमें कोई भ्रम या संदेह न रहे। अतः इन कारणोंपर आज इस लेख द्वारा विचार किया जाता है।

कारण :—

१ समन्तभद्रकी आप्तमीमांसाके चौथे परिच्छेदमें वर्णित "विरूपकार्यारम्भाय" आदि कारिकाओंकी समीक्षा करनेसे ज्ञात होता है कि समन्तभद्रके सामने संभवतः दिग्नागके ग्रन्थ भी रहे हैं। बौद्ध दर्शन की इतनी स्पष्ट विचारधाराकी संभावना दिग्नागसे पहिले नहीं की जा सकती।' —न्यायकु० द्वि० भा० प्र० पृ० २७

२ 'अधिक संभव तो यह है कि समन्तभद्र और अकलङ्कके बीच साक्षात् विद्याका ही सम्बन्ध हो; क्योंकि समन्तभद्रकी कृतिके ऊपर सर्व प्रथम अकलङ्ककी ही व्याख्या है।'
—अकलङ्क ग्रन्थ० प्रा० पृ० ९

३ 'यह भी संभव है कि शान्तिरक्षितके तत्त्वसंग्रहगत पात्र स्वामी शब्द स्वामी समन्तभद्रका ही सूचक हो।'—अकलङ्क ग्र० प्रा० पृ० ९

४ समन्तभद्रके साथ धर्मकीर्तिका विचार और शब्द का साम्य पाया जाता है। 'दिग्नागके प्रमाण-समुच्चयगत मङ्गल श्लोकके ऊपर ही उसके व्याख्यान रूपसे धर्मकीर्तिने प्रमाणवार्तिकका प्रथम परिच्छेद रचा है। जिसमें धर्मकीर्तिने प्रमाणरूपसे सुगतको ही स्थापित किया है। ठीक उसी तरहसे समन्तभद्रने भी पूज्यपादके 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' वाले मंगलको लेकर उसके ऊपर आप्तमीमांसा रची है और उसके द्वारा जैन तीर्थंकरको ही आप्त प्रमाण स्थापित किया है यह तो विचार-साम्य हुआ। शब्द-साम्य भी है। 'धर्मकीर्तिने सुगतको 'युक्त्यागमाभ्यां विमृशन्' (प्रमाण वा० १।१३५) 'वैफल्याद् वक्तिनानृतम्'

(प्रमाणवा० १।१४७) कह कर अविरुद्धभाषी कहा है। समन्तभद्रने भी 'युक्ति-शास्त्राविरोधि-वाक्' (आप्तमी० का० ६) कह कर जैन तीर्थंकरको सर्वज्ञ स्थापित किया है।' अतः समन्तभद्र धर्मकीर्तिके उत्तरकालीन हैं। —न्यायकु० द्वि० प्रा० पृ० १८, १९

५ 'समन्तभद्रके 'द्रव्यपर्याययोरैक्यं' तथा 'संज्ञासंख्याविशेषाच्च' (आप्त मी० का० ७१,७२) इन दो पद्योंके प्रत्येक शब्दका खंडन धर्मकीर्तिके टीकाकार अर्चट (९०० A. D.) ने किया है न कि धर्मकीर्तिने। अतः कमसे कम समन्तभद्र धर्मकीर्तिके पूर्वकालीन तो हो ही नहीं सकते। —न्याय कु० द्वि० प्रा० पृ० १९, २०

उपर्युक्त कारणों पर विचार :—

ये पांच कारण हैं। इन कारणों में प्रथम कारण के उद्भावक तो न्यायाचार्य पं० महेन्द्र-कुमारजी हैं और वे समन्तभद्रको दिग्नागका उत्तरकालीन अनुमानित करते हैं। शेष चार कारणोंको श्रीमान् पं० सुखलालजीने प्रस्तुत किया है और ये समन्तभद्रको धर्मकीर्तिका परवर्ती बतलाते हैं। यद्यपि ये प्रायः सभी कारण अपने वर्तमान रूपमें संभावनारूप ही हैं—कोई निर्णय रूप नहीं हैं और जिससे यह मालूम होता कि इन कारणोंके प्रस्ताविक दोनों ही विद्वान् अभी और भी विचार करनेको प्रस्तुत हैं, इतना ही नहीं किन्तु—प्रामाणिक सूचना मिलने पर इन कारणोंके सम्बन्धमें भी पुनर्विचार कर सकते हैं, ऐसी भी मुझे आशा है। अतः इन पांचों ही कारणों पर यहां क्रमशः विचार किया जाता है, जिससे यह निर्णय हो सके कि वस्तुतः उक्त कारण समन्तभद्रको दिग्नाग और धर्मकीर्तिके उत्तरकालीन सिद्ध करनेमें समर्थ हैं कि नहीं ?

दिग्नागके उत्तरवर्तित्वकी मान्यतापर विचार :—

१ समन्तभद्रकी 'विरूपकार्यारम्भाय' आदि जिन कारिकाओंकी समीक्षाके आधारपर समन्तभद्रको दिग्नागका उत्तरवर्ती प्रतिपादन किया है यदि उन कारिकाओंकी समीक्षा दिग्नागके पूर्ववर्ती प्रसिद्ध बौद्धतार्किक नागार्जुनके ग्रन्थोंके साथ की जाय तो स्पष्टतः मालूम हो जाता है कि समन्तभद्रके सामने नागार्जुनके ग्रन्थ रहे न कि दिग्नागके। नमूनेके[1] तौर पर यहां एक उदाहरण उपस्थित किया जाता है। बौद्ध विद्वान् नागार्जुन कहते हैं :—

अथ ते प्रमाणसिद्ध्या प्रमेयसिद्धिः प्रमेयसिद्ध्या च।
भवति प्रमाणसिद्धिः नास्त्युभयस्यापि ते सिद्धः॥ —विग्रहव्या० का० ४७

स्वामी समन्तभद्र कहते हैं :—

याद्यापेक्षिक सिद्धिः स्यान्न द्वयं व्यवतिष्ठते। —आप्तमं० का० ७३

१ विशेष रूपसे जाननेके लिये 'नागार्जुन और समन्तभद्र' शीर्षक अप्रकाशित लेखकी प्रतीक्षा करें जो मैं शीघ्रही प्रकट करने वाला हूँ और जिसमें नागार्जुन और समन्तभद्रके साहित्यका आभ्यन्तर परीक्षण करके समन्तभद्रको नागार्जुनका समकालीन या कुछही समय बादका विद्वान् स्थिर किया है।

नागार्जुन कहते हैं :—

यदि च प्रमेयसिद्धिरनपेक्ष्यैव भवति प्रमाणानि ।

किन्ते प्रमाणसिद्धया तानि यदर्थं प्रसिद्धं तत् ॥ विग्रहव्या० क० ४५

आ० समन्तभद्र भी इसी बातको कहते हैं :—

अनापेक्षिकसिद्धौ च न सामान्य-विशेषता । —आप्तमी० का० ७३

नागार्जुन पुनः कहते हैं :—

यदि च स्वतः प्रमाणसिद्धिरनपेक्ष्य ते प्रमेयाणि ।

भवति प्रमाणसिद्धिः न परापेक्षा हि सिद्धिः ॥ —विग्रहव्या० का० ४१

समन्तभद्र उक्त वाक्योंके आधार पर अनेकान्तदृष्टिसे व्यवस्था करते हुये कहते हैं :—

धर्मधर्म्यविनाभावः सिद्धयत्यन्योन्यवीक्षया ।

न स्वरूपं स्वतोह्येतत् कारकज्ञापकाङ्गवत् ॥ —आप्तमी० ७५

पाठक देखेंगे, यहां समन्तभद्र और नागार्जुन में कितना स्पष्ट विचार और शब्दका साम्य है ; जो हमें बतलाता है कि समन्तभद्रके समक्ष नागार्जुनके ग्रन्थ रहे दिग्नाग के नहीं। दिग्नागके ग्रन्थोंका सद्भाव तो उस हालतमें माना जा सकता था जब उनमें प्रतिपादित विचार दिग्नागसे पूर्व संभावित न होता और समन्तभद्रके ग्रन्थोंमें दिग्नागके ही किसी ऐसे विचारका आलोचन या अनुसरण पाया जाता जो खास दिग्नागका ही होता; किन्तु हम देखते हैं कि ऐसे विचारोंका, जिनका उद्भव सीधा दिग्नागसे है, आलोचन या अनुसरण समन्तभद्रके ग्रन्थोंमें नहीं पाया जाता। प्रत्युत समन्तभद्रका आलोचन दिग्नागने किया है। दार्शनिक युगमें 'अज्ञान-निवृत्ति' को प्रमाणका फल कहनेवाले सर्व प्रथम जैन तार्किक स्वामी समन्तभद्र हैं और उसका खण्डन दिग्नागने 'अज्ञान-निवृत्ति' को असत् बतलाकर किया है।[1] अतः स्पष्ट है कि दिग्नागके ग्रन्थ समन्तभद्रके सामने नहीं रहे। बौद्धदर्शनकी जिस स्पष्ट विचार-धाराको दिग्नागसे मानते हैं और उसके पूर्व उसके न होनेकी संभावना प्रकट करते हैं वह ठीक नहीं है क्योंकि नागार्जुन और वसुबन्धुके, 'माध्यमिका', 'विग्रहव्यावर्तनी', 'विंशतिका-विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि' और 'त्रिंशिका-विज्ञप्तिकारिका' आदि प्रकरण ग्रन्थोंका ध्यानसे सूक्ष्म समीक्षण किया जाय तो हम उनमें उक्त बौद्धदर्शनकी स्पष्ट विचारधारा पाते हैं। वस्तुतः तर्क विकास यहींसे शुरू हुआ है जो दिग्नाग और धर्मकीर्ति आदिके द्वारा उसी प्रकार पूर्णताको प्राप्त हुआ है जिस प्रकार जैनदर्शनका तर्क विकास समन्तभद्र और सिद्धसेनसे शुरू होकर अकलङ्क और विद्यानन्द आदिके द्वारा चरम सीमाको प्राप्त हुआ है। इसलिये समन्तभद्रको दिग्नागसे उत्तरकालीन माननेके लिये जो 'बौद्धदर्शनकी इतनी स्पष्ट विचार

१ देखो पूर्वोल्लिखित 'समन्तभद्र और दिग्नागमें पूर्ववर्ती कौन ?' लेख 'अनेकान्त' वर्ष ५ किरण १२

धाराको संभावना दिग्नागसे पहिले नहीं की जा सकती' रूप हेतु प्रस्तुत किया गया है वह अव्यभिचारी नहीं है क्योंकि उपर्युक्त विवेचनसे स्पष्ट है कि नागार्जुनादि प्रसिद्ध बौद्ध तार्किकोंके ग्रन्थोंमें बौद्धदर्शनकी स्पष्ट विचारधारा पायी जाती है और इसलिये समन्तभद्र दिग्नागके उत्तरवर्ती नहीं हैं किन्तु दिग्नागके पूर्ववर्ती और नागार्जुनके (१८१ A. D.) उत्तरकालीन या सम-सामयिक हैं।

यहाँ मैं इतना और स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि समन्तभद्रकी 'विरूपकार्यारम्भाय' आदि जिन कारिकाओंका हवाला दिया गया है और फलितार्थरूपमें यह कहा गया है कि उक्त कारिकाएँ दिग्नागके विचारोंका खण्डन करनेके लिये समन्तभद्रने रची हैं, वह ठीक नहीं जान पड़ता; क्योंकि जिन विचारोंका खण्डन उक्त कारिकाओंमें पाया जाता है वह विचार नागार्जुनकी निम्न कारिकामें भी है :—

सर्वेषां विसभागानां[1] सभागानां च कर्मणाम्।
प्रति सन्धौ सधातृनामेक उत्पद्यते तु सः॥

—माध्यमिका कारिका पृ० ११४ (कल० सं०)

समन्तभद्रकी उक्त कारिकागत 'विरूपकार्य' शब्द विसभाग' के लिये ही आया है। यदि पंडितजी दिग्नागके उन शब्दोंका भी उल्लेख कर देते जिनके साथ समन्तभद्रकी उक्त कारिकाओंकी समीक्षा की गई है तो उन शब्दोंपर भी विचार कर लिया जाता। अस्तु, दिग्नागके पूर्ववर्ती कितनेही बौद्ध तार्किकोंका साहित्य भी आज उपलब्ध नहीं है अतः यह भी संभव है कि समन्तभद्रकी उक्त कारिकाओंमें उक्त बौद्ध तार्किकोंके विचारोंकाही खण्डन निहित हो। अतः प्रथम कारण समन्तभद्रको दिग्नागका उत्तरवर्त्ती सिद्ध करनेमें समर्थ नहीं है।

धर्मकीर्तिके उत्तरवर्त्तित्वकी मान्यतापर विचार :—

२ दूसरे कारणके सम्बन्धमें मेरा निम्न प्रकार निवेदन है :—

(क) किसीकी कृतिका सर्व प्रथम टीकाकार होना या न होना उन दोनोंके बीच साक्षात् विद्याके सम्बन्धका साधक या बाधक नहीं है (क) धर्मकीर्ति (६२५ A. D.) के वादन्यायपर जो दो टीकायें उपलब्ध हैं वे विनीतदेव (७७५ A. D.)और शांत रक्षित (८२५ A. D.) की हैं। इनमेंसे वादन्यायके सर्वप्रथम टीकाकार विनीतदेव हैं। किन्तु धर्मकीर्ति और विनीतदेवमें साक्षात् विद्याका सम्बन्ध नहीं है। क्योंकि विनीतदेव धर्मकीर्तिसे प्राय: डेढ़ सौ वर्ष बाद हुये हैं।

---

१ (क) 'भिन्न जातीयानि कर्माणि विसभागानि सदृशानि सभागानि……' माध्य० वृ० पृ० ११४

(ख) 'विसदृश रूपं विरूपं कार्यम्'……'सभागविसभागावक्रूर्सि प्रतिपत्त्रभिप्रायवशात्समनुगच्छन् सहेतुकं विनाशं……' अष्टस० पृ० १४८, १४९

(ख) श्वेताम्बर परम्परामें प्रसिद्ध उमास्वातिके तत्त्वार्थसूत्र और उसके भाष्यपर, जिसका समय विक्रमकी तीसरीसे पांचवीं शताब्दी तकका अनुमानित किया जाता है[१] सर्व प्रथम टीकाएँ ८-९ वीं सदीके विद्वान् सिद्धसेन गणी और हरिभद्र की हैं किन्तु उमास्वातिके साथ इनका साक्षात् विद्याका सम्बन्ध नहीं है; क्योंकि ये दोनोंही आचार्य उमास्वातिसे प्रायः ३००-४०० वर्ष बाद हुये हैं।

(ग) समन्तभद्रके 'युक्त्यनुशासन' और 'स्वयम्भूस्तोत्र' के सर्व प्रथम टीकाकार क्रमशः विद्यानन्द (९ वीं शताब्दी) और प्रभाचन्द्र (११ वीं शताब्दी) हैं। पर इनका समन्तभद्रके साथ साक्षात्-विद्याका सम्बन्ध नहीं है; क्योंकि ये दोनोंही आचार्य समन्तभद्रसे बहुत बादके विद्वान् हैं।

(घ) सिद्धसेन 'दिवाकर' के, जिनका समय 'न्यायावतार' के साहित्यिक आभ्यान्तर परीक्षणसे ईसाकी सातवीं शताब्दी सिद्ध होता है और जिसे स्वयं पंडितजीने भी स्वीकार किया है, न्यायावतारके सर्व प्रथम टीकाकार सिद्धर्षि (१०वीं शताब्दी) हैं। किन्तु सिद्धसेन दिवाकर और सिद्धर्षिमें साक्षात् विद्याका सम्बन्ध नहीं है क्योंकि सिद्धर्षि सिद्धसेन दिवाकरसे स्पष्टतः ३००-४०० वर्ष बाद हुये हैं।

ऐसे कितनेही उद्धरण और दिये जा सकते हैं कि ग्रन्थकार और उसके सर्व प्रथम टीकाकारमें साक्षात् विद्याका सम्बन्ध नहीं है। अतः किसीकी कृतिका 'सर्व प्रथम टीकाकार होना' साक्षात् विद्याके सम्बन्धका अव्यभिचरित साधन नहीं है—वह उसका व्यवस्थापक नहीं है। ऐसी हालतमें समन्तभद्रकी कृतिके सर्व प्रथम टीकाकार रूप साधनके द्वारा समन्तभद्र और अकलङ्कके बीच 'साक्षात् विद्याकाही सम्बन्ध' रूप साध्यकी सिद्धि नहीं हो सकती और न उनके द्वारा समन्तभद्रको अकलङ्कका समकालीन बतलाकर धर्मकीर्तिका उत्तरवर्ती कहा जा सकता है।

दूसरी बात यह है कि आप्तमीमांसाकी व्याख्या अष्टशती-साहित्यका अध्ययन करनेपर यह मालूम भी नहीं होता कि समन्तभद्र और अकलङ्कके बीच गुरु-शिष्य का सम्बन्ध रहा होगा। बल्कि स्पष्टतः यही प्रतीत होता है कि अकलङ्क समन्तभद्रके बहुत बाद हुये हैं और उन्हें आप्तमीमांसा कितनेही पाठभेदोंके साथ प्राप्त हुई थी। मैं यहां एक ऐसा नमूना उपस्थित करता हूँ जिसपरसे पाठक यह सहजमें जान सकेंगे कि वस्तुतः समन्तभद्र अकलङ्कके बहुत पहिले हो चुके थे और उन्हें समन्तभद्रकी आप्तमीमांसा पाठभेद के साथ मिली थी। अकलङ्कदेव आप्तमीमांसाकी एक कारिकाके एक पदका व्याख्यान करते हुये उसके अनेक पाठभेद दिखलाते हैं और 'पाठान्तर मिदं बहु संगृहीतं भवति' जैसे शब्दोंका प्रयोग करते हैं। अष्टशतीका वह स्थल निम्न प्रकार है।

---

१ देखो 'ज्ञान विन्दु' प्रस्तावना पृष्ठ ५४

'सपक्षविपक्षयोर्भावाभाभ्यां साधनवत् । स्वभेदैर्वा संवेदनवत् । सारम्भकावयवैर्वा घटादिवत् । तादृशं हि साधनं स्वार्थक्रियायाः तदन्तरेणापि पाठान्तरमिदं बहु संगृहीतं भवति' ३ आप्तमी० का० ३३

इससे स्पष्ट है कि समन्तभद्र अकलंकके बहुत पहिले हो चुके थे। यदि इनमें साक्षात् विद्याका सम्बन्ध होता तो अकलंक अपने गुरु समन्तभद्रके मुखसे पढ़े सुने पाठको ही रखकर व्याख्यान करते पाठान्तरकी कल्पना न करते। साथही समन्तभद्रको विवक्षित और अति प्रसिद्ध पाठकेही अनेक अर्थ करते हुये भी 'पाठान्तरमिदं बहु संगृहीतं भवति' जैसे शब्दोंका वे कदापि प्रयोग न करते। अतः प्रकट है कि समन्तभद्र और अकलंकमें साक्षात् विद्याका सम्बन्ध नहीं रहा और न समन्तभद्रके तुरन्तही अकलंक हुये हैं। किन्तु कई शताब्दी बाद हुये जान पड़ते हैं।[1]

३ तीसरे कारणके सम्बन्धमें मुझे यह कहना है कि संभावना ऐसी होनी चाहिये, जिसके कुछ आधार प्रमाण हों। हमें आश्चर्य है कि पं० सुखलालजी जैसे सूक्ष्म दृष्टिवाले दार्शनिक और ऐतिहासिक विद्वान् शांतरक्षितके तत्त्वसंग्रहमें मात्र स्वामी पदोपलक्षित पात्र-स्वामीके नामको देखकर उन्हें समन्तभद्र स्वामी होनेकी संभावना कर लेते हैं। शांतरक्षितने जब तत्वसंग्रहमें एकही जगह नहीं, अनेकों जगह पात्रस्वामीके नामसे उनके वाक्यों और कारिकाओंको उद्धृत किया है[2] तब पात्रस्वामी समन्तभद्र स्वामी कैसे संभवित हो सकते हैं? प्रथम तो यह कि दिगम्बर साहित्यमें समन्तभद्र स्वामीसे पात्रस्वामी जुदेही स्वीकार किये गये हैं और दोनोंकी जुदी जुदी कृतियाँ है। दूसरे यदि शांतरक्षित जैसे बहुश्रुत बौद्ध विद्वान्की दृष्टिमें पात्रस्वामी और समन्तभद्र स्वामी एक होते तो वाचस्पति मिश्रकी तरह आप्तमीमांसाकी कारिकाओंको भी वे उद्धृत करते और उनका खंडन करते। तीसरे शान्तरक्षितने जिन वाक्यों और श्लोकोंको पात्रस्वामीके नामसे उद्धृत किया है वे वाक्य और श्लोक कोई भी समन्तभद्रकी वर्तमान आप्तमीमांसादि कृतियोंमेंसे किसीमें भी नहीं पाये जाते है। चौथे शान्तरक्षितने पात्रस्वामीका कहकर जिस 'अन्यथानुपपन्न' वाले श्लोकको उद्धृत करके खंडन किया है और जो पात्रस्वामीके 'त्रिलक्षणकदर्थन' नामक अनुपलब्ध ग्रन्थकाही जान पड़ता है उसे अकलङ्क विद्यानन्दादि जैनाचार्योंने भी पात्रस्वामीकाही स्पष्टतया प्रतिपादन किया है। यदि

१ मालूम पड़ता है कि अकलङ्क ग्रन्थत्रयके प्राक्कथनमें 'समन्तभद्र और अकलङ्कके बीच साक्षात् विद्याका सम्बन्ध माननेपर पंडितजीको जब बादमें ऊपर जैसी आपत्तियां मालूम पड़ी हैं तब इसीसे वे न्यायकु० द्वि० भागके प्राक्कथनमें उक्त सम्बन्धको कुछ अस्वीकार भी करते हुये पाये जाते हैं। परन्तु वहां भी 'अगर' जैसे अनिर्णायक शब्दोंका प्रयोग करते हैं जिनसे पाठक भ्रममें पड़े बगैर नहीं रह सकते।

२ देखो, तत्त्वसंग्रह पृ० ४०६, ४१४

समन्तभद्र और पात्रस्वामी एक होते और अन्यथानुपपन्नत्व आपकी दृष्टिमें समन्तभद्रका है तो ये जैनाचार्य भी उसे समन्तभद्रके नामसेही प्रकट करते। किन्तु ऐसा नहीं है, सभीने समन्तभद्रसे पृथक् पात्रस्वामीके नामसेही उसका उल्लेख किया है। ऐसी हालतमें उक्त संभावना तत्वसंग्रहगत पात्रस्वामी समन्तभद्र हैं बिल्कुल निराधार और निष्प्रमाणिक जैसी है। ऐसी कच्ची संभावनाओंको स्थायी साहित्यमें देनेसे बड़ी भारी हानि हो सकती है। अतः यह साफ है कि तत्वसंग्रहगत पात्रस्वामी और समन्तभद्र स्वामी एक व्यक्ति नहीं हैं, भिन्न-भिन्न व्यक्ति हैं।

४ चौथे कारण के विषयमें मेरा निम्न प्रकार कथन है :—

प्रथम तो समन्तभद्र जब दिग्नागके पूर्ववर्ती हैं तो दिग्नागके उत्तरवर्ती धर्मकीर्तिके ग्रन्थमें यदि किसी विषयमें समन्तभद्रके विचारके साथ धर्मकीर्तिका कोई विचार मिलता जुलता पाया जाता है तो वह समन्तभद्रकाही आभारी है—अर्थात् उनकी आप्तमीमांसासेही लिया हुआ वह धर्मकीर्त्तीय विचार है।

दूसरे, धर्मकीर्तिने प्रमाण-समुच्चय गत 'प्रमाणभूताय' मंगल पद्यको लेकर प्रमाणवार्तिक या उसके प्रथम परिच्छेद (द्वितीय परिच्छेद ?) की रचनाही नहीं की है। बात यह है कि जैमिनीसूत्र और उसके शबर-भाष्य तथा न्यायसूत्र और उसके वात्स्यायन-भाष्यका खंडन करनेके लिये 'प्रमाणसमुच्चय' आदि प्रकरण ग्रन्थ रचे थे। बादमें हुये उद्योतकर और भट्ट कुमारिलको जब दिग्नागके उक्त ग्रन्थ मिले और उनमें अपने पूर्वजोंके सिद्धान्तोंका खण्डन उन्हें मिला तो दिग्नागके ग्रन्थों और बौद्ध सिद्धान्तोंका खंडन करने तथा स्वमत स्थापित करनेके लिये उद्योतकरने 'न्यायवार्त्तिक' और कुमारिलने 'मीमांसाश्लोक वार्त्तिक' की रचना की। न्यायवार्तिक जहां गद्यात्मक वार्तिक ग्रन्थ है वहां मीमांसा श्लोक वार्तिक पद्यात्मक वार्तिक ग्रन्थ है। उपलब्ध दार्शनिक साहित्यमें जहां तक मुझे मालूम है दार्शनिक युगमें वार्तिक ग्रन्थोंकी रचनाका प्रारंभ प्रायः इन्हीं दोनों वार्तिक ग्रन्थोंसे हुआ है। बौद्ध तार्किक धर्मकीर्तिको भी जब ये दोनों वार्तिक ग्रन्थ मिले और उनमें अपने अग्रज दिग्नाग प्रभृतिका खंडन देखा तो व्याज सहित उक्त बदला चुकानेके लियेही धर्मकीर्तिने 'प्रमाणवार्तिक' सटीक पद्यबंध ग्रन्थकी रचना की, जो उक्त वार्तिक ग्रन्थोंका अपने नामकरणमें भी पूरा आभारी है। इस तरह धर्मकीर्तिके प्रमाणवार्तिक' की रचना उद्योतकर और कुमारिलके जवाबकाही सबल प्रयत्न है न कि प्रमाण-समुच्चयके 'प्रमाणभूताय' मंगल पद्यको लेकर मुख्यतः उसकी रचना हुई है। हमारे इस कथनकी पुष्टि ईसाकी ९वीं शताब्दी (८४१ A. D.) के विद्वान् वाचस्पति मिश्रके न्यायवार्तिक तात्पर्य टीकागत निम्न उल्लेखसे भी हो जाती है। यथा—

'यद्यपि भाष्यकृता (वात्स्यायनेन) कृतव्युत्पादनमेतत् तथापि दिग्नागप्रभृतिभिरर्वाचीनैः

कुहेतुसन्तमससमुत्थापनेनाच्छादितं शास्त्रं न तत्वनिर्णयाय पर्याप्तमित्युद्योतकरेण स्वनिबन्धोद्योतेन तदपनीयत इति प्रयोजनवानयमारम्भ इति,—न्या० ता० पृ० २

यहां वाचस्पति मिश्रने स्पष्टतया बतलाया है कि यद्यपि न्यायदर्शनका व्याख्यान भाष्यकार (वात्स्यायन) ने कर दिया था तथापि दिग्नाग आदि अर्वाचीन कुतार्तिकोंने उसे कुतर्करूपी अन्धकारसे आच्छादित कर दिया। अतः वह तत्वनिर्णय करनेके लिये पर्याप्त नहीं है। इसलिये उनके (दिग्नागादिके) कुहेतुरूप अन्धकारको दूर करने और अपने मतका प्रकाश करनेके लिये उद्योतकरने 'न्यायवार्तिक' का उद्योग किया। इस तरह 'न्यायवार्तिक' की रचना सप्रयोजन है इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि दिग्नाग प्रतिपादित प्रमाण-समुच्चय गत सिद्धान्तोंका खंडन करनेके लिये 'न्यायवार्तिक' की रचना हुई। इस बातको न्या० पं० महेन्द्रकुमारजी भी मानते हैं जैसा कि उनके निम्न शब्दोंसे प्रकट है :—

'इन्होंने (उद्योतकरने) दिग्नागके प्रमाण समुच्चयके खंडनके लिये न्यायवार्तिक बनाया था……।'—न्यायकु० द्वि० भा० प्र० पृ० १२

और इस न्यायवार्तिकका खंडन करनेके लिये ही धर्मकीर्तिने अपना प्रमाण वार्तिक रचा था, यह भी इन दोनों ग्रन्थोंका आभ्यन्तर परीक्षण करनेसे स्पष्टतया मालूम हो जाता है। अतः यह मानना होगा कि धर्मकीर्तिने प्रमाणवार्तिक या उसके प्रथम परिच्छेद (द्वितीय परिच्छेद ?) की रचना प्रमाण-समुच्चयके मंगल पद्यको लेकर नहीं की, बल्कि उद्योतकरके न्यायवार्तिक और कुमारिलके मीमांसाश्लोकवार्तिकके खण्डनके लिये की थी। नाम साम्य भी बड़े मार्केका है और जिसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती।

यह दूसरी बात है कि दिग्नागके प्रमाण समुच्चय पर प्रहार करनेवाले उद्योतकरके न्यायवार्तिकका सबल जवाब प्रमाणवार्तिकके द्वारा देनेके साथ धर्मकीर्ति ने प्रमाण समुच्चयगत सिद्धान्तों, वाक्यों, मंगलपदों और हेतुओंका भी सयुक्तिक समर्थन किया है और वह उचित एवं स्वाभाविक ही है। दर्शन-युगमें प्रत्येक दार्शनिकने ऐसाही किया है। अपनेसे भिन्न दर्शन और उसके अनुयायिओंके विचारोंकी आलोचना करके अपने दर्शन और पूर्वजोंके विचारोंका सयुक्तिक समर्थन किया है। हो सकता है, किसी विचारमें अपना मतभेद भी प्रकट किया हो। इस तरह जब प्रमाण समुच्चयके मंगल पद्यपर प्रमाणवार्तिक या उसके किसी परिच्छेदके लिखे जानेकी बात नहीं बनती है तब 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' इस मंगल पद्यको पूज्यपादका कहकर उसपर समन्तभद्रके आप्तमीमांसा लिखनेके विचारके साथ धर्मकीर्त्तीय विचारकी उपर्युक्त साम्यता कैसे बिठाई जा सकती है? उपमानकी स्थितिही नहीं तब उपमेयके साथ उसकी संगति बिठाना किसी भी प्रकार संगत नहीं कहा जा सकता। यहाँ मैं यह भी स्पष्ट कर देना चाहता हूं कि पंडितजी, विद्यानन्दके जिन आधारोंपर

'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' को पूज्यपादका बतलाते थे वह सब आधार सूत्रकार-उमास्वातिका बतलाते हैं[1], इस बातको अनेक प्रमाणों के साथ 'तत्वार्थसूत्रका मंगलाचरण' शीर्षक दो लेखों द्वारा स्पष्टकर दिया गया है। अतः उसे अब पूज्यपादका बतलाना बड़ा भारी भ्रम है। आश्चर्य है इस भ्रमकी पुनरावृत्ति ज्ञानविन्दुकी प्रस्तावना पृ० ५५ में भी आपने की है।

इस तरह 'विचार-साम्य' रूप चौथे कारणके एक भागपर विचार करनेके बाद अब मैं दूसरे भाग पर जो शब्द-साम्यकी तरह यह कहा जा सकता है कि समन्तभद्रीय हैं। दूसरे, वह शब्द साम्य भी जैसा होना चाहिये वैसा नहीं है। सुगतको जहां एक जगह धर्मकीर्तिने 'युक्त्यागमाभ्यां विमृशन्' कहकर युक्ति और आगमसे विचार करनेवाला बतलाया है और दूसरी जगह 'वैफल्याद्वक्ति नानृतम्' के द्वारा मिथ्या भाषण न करनेवाला सत्यभाषी बतलाया है वहां समन्तभद्रने एकही जगह जैन तीर्थंकरको 'युक्तिशास्त्राविरोधिवाक्' कहकर मात्र यथार्थवक्ता प्रकट किया है—उसे धर्मकीर्तिकी तरह विचारक नहीं बतलाया। तीसरे युक्ति और आगम जैसे शब्द तो ऐसे हैं जिनका प्रयोग धर्मकीर्तिसे पहिले भी दृष्टिगोचर होता है। हां, यदि इन शब्दोंके प्रयोगका आद्य पुरस्कर्ता धर्मकीर्तिही होता, उसके पहिले बौद्ध या बौद्धेतर साहित्यमें इनका प्रयोग उपलब्ध न होता, तो यह किसी अंशमें मान्य भी था कि धर्मकीर्तिके अमुक शब्दोंको अपनानेके कारण समन्तभद्र धर्मकीर्तिके उत्तरवर्ती हैं। किन्तु ऐसा नहीं है। अतः शब्द साम्यवाली दलील भी आपत्तियोंसे रहित निरापद नहीं है और इसलिये वह समन्तभद्रको धर्मकीर्तिका उत्तरवर्ती सिद्ध करनेमें असमर्थ है।

५ अब रह जाता है पांचवां कारण सो उसके सम्बन्ध में मेरा निम्न प्रकार कहना है। प्रथम तो, यह कोई आवश्यक नहीं है कि कोई उत्तरवर्ती ग्रन्थकार अपने पूर्ववर्ती ग्रन्थकारका अपने ग्रन्थमें आलोचन एवं खण्डन करे ही। दूसरे, समन्तभद्रके 'द्रव्यपर्याययोरैक्यं' तथा 'संज्ञासंख्या विशेषाच्च' इन दो पद्योंको और उनके प्रत्येक शब्दका खण्डन यदि धर्मकीर्तिने नहीं किया, उनके टीकाकार अर्चट (९०० D.A.) ने किया है तो इससे समन्तभद्र धर्मकीर्तिके उत्तरवर्ती सिद्ध नहीं हो जाते और न कहे जा सकते हैं। यदि नागार्जुनके किसी विचार या पद वाक्यका खण्डन अकलङ्कदेवने नहीं किया, उनके टीकाकार विद्यानन्दने किया हो तो क्या नागार्जुन अकलङ्कके उत्तरवर्ती हो जायेंगे? गौतमीय छल, जाति, निग्रहस्थानोंके सूत्रों और उद्योतकरके अमुक अमुक पद वाक्योंका खण्डन अकलङ्कदेवने नहीं किया है पर

१ विद्यानन्दके उल्लेखोंके अलावा उक्त मंगल श्लोकको सूत्रकार-उमास्वामी कृत बतलानेवाला एक अति स्पष्ट, अभ्रान्त उल्लेख और प्राप्त हुआ है। गोम्मटसार जीवकांडकी 'मंदप्रबोधिनी' नामक संस्कृत बड़ी टीकाके रचयिता सिद्धान्तचक्रवर्ती आ० अभयचन्द्र (१२, १३वीं सदी) उक्त मंगलस्तोत्रको उमास्वामी अपर नाम गृद्धपिच्छाचार्यकाही प्रकट करते हैं। यथा—

'गृद्धपिच्छाचार्येणापि तत्त्वार्थशास्त्रस्यादौ 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' इत्यादिना अर्हन्नमस्कारस्यैव परममङ्गलतया प्रथम मुक्तत्वात्'—गो० जी० मं० टी० पृ० ४

विद्यानन्दने किया है।[1] इसी तरह भर्तृहरिकी 'आख्यात शब्दः संघातो' और 'पदमाद्य पदश्चान्त्यं' (वाक्यय० २, १, २) इन दो पद्योंका खण्डन अकलङ्कदेवने नहीं किया, उनके उत्तरवर्ती विद्यानन्द और प्रभाचन्द्रने किया है।[2] ऐसी हालतमें आपके तर्कानुसार गौतम, उद्योतकर और भर्तृहरिको भी अकलंकके उत्तरवर्ती होना चाहिये। किन्तु ऐसा नही है, यह प्रकट है। तीसरे, यह भी संभव है कि समन्तभद्रकी आप्तमीमांसा शान्तरक्षितकी तरह धर्मकीर्तिको भी उपलब्ध न हुई हो और इसीसे उसने आप्तमीमांसा गत विचारों, पद वाक्योंका खण्डन नहीं किया है। जो ग्रन्थ आजसे कई सौ वर्ष पहिलेके विद्वानोंको नहीं मिल सके वे आज हमें मिल रहे हैं। अतः अनुपलब्धिकी हालतमें धर्मकीर्तिका उक्त पद्योंका खण्डन न करना भी पूर्णतया संभवित है। पांचवें, धर्मकीर्तिने समन्तभद्रकी अन्य दो कारिकाओं ('स्याद्वादः सर्वथैकान्तत्यागत्किंवृत्तचिद्विधिः' और 'सदेव सर्वं को नेच्छेत्') का 'प्रमाणवार्तिक' (२-१८२ और १-१८३, १८५) में 'एतेनैव' 'सर्वस्योभयरूपत्वे' और 'सर्वात्मत्वे च सर्वेषां' इन कारिकाओं द्वारा स्पष्टतया खण्डन कियाही है। जिनका जवाब अकलङ्कदेवने 'न्याय-विनिश्चय (का० १७८, ३७१, ३७२, ३७३ और ३७४) में दिया है। यदि समन्तभद्र, धर्मकीर्तिके उत्तरकालीन या समकालीन होते तो वे निश्चयही धर्मकीर्तिकी इन कारिकाओंका स्वयं जवाब देते और ऐसी हालतमें अकलङ्कको इनका जवाब देनेका अवसर ही न मिलता। इससे स्पष्ट है कि समन्तभद्र धर्मकीर्तिके उत्तरवर्ती नहीं हैं। यह दूसरी बात है कि धर्मकीर्तिने आप्तमीमांसाका खण्डन करनेके लिये उक्त कारिकाओंको चुना। 'द्रव्यपर्याययोरैक्यं' और 'संख्याविशेषाच्च' इन दो पद्योंको नहीं चुना वाचस्पति मिश्रने भी इन कारिकाओंसे भिन्नही दो कारिकाओंको[3] उद्धृत करके खण्डन किया है।[4] सो यह खण्डनका चुनाव स्वयं खण्डन-कारकी दृष्टि पर निर्भर है। अतः यह साफ है कि समन्तभद्रके मात्र उक्त दो पद्योंका धर्मकीर्तिके खण्डन न करने और उसके टीकाकार अर्चटके करनेसे समन्तभद्र धर्मकीर्तिके उत्तरवर्ती नहीं कहे जा सकते।

इस तरह हम देखते हैं कि समन्तभद्रको दिग्नाग और धर्मकीर्तिका उत्तरकालीन सिद्ध करनेके लिये जो कारण प्रस्तुत किये गये हैं, उनमें कोई भी कारण समन्तभद्रको उक्त दोनों विद्वानोंका उत्तरवर्ती सिद्ध करनेमें समर्थ नहीं है। प्रत्युत इस प्रकारसे सिद्धिका प्रयत्न बहुविध आपत्तियोंसे युक्त है।

---

१ देखो, श्लोकवार्तिक १-३३ का 'तत्वार्थाधिगम भेद' प्रकरण।

२ देखो, अष्टस० पृ० २८४, न्यायकुमुद पृ० ७३६

३ देखो, आप्तमी० १०३, १०४

४ देखो, भामती पृ० ४८२

स्वप्न और उसका फल

(ले०—श्रीयुत साहित्यरत्न, न्याय-ज्योतिषतीर्थ पं० नेमिचन्द्र जैन शास्त्री, आरा)

विश्व का प्रत्येक अणु रहस्यमय है। अनादिकाल से आजतक इस रहस्य का उद्घाटन करने के लिये दार्शनिक जगत् अनवरत उद्योग करता आ रहा है, तो भी रहस्य की तह में पहुंचनेवाले इने-गिने केवलज्ञानी ही हो सके हैं। यथार्थ में ज्ञानोदधि इस तरह गम्भीर है कि इसकी थाह विरले ही लगा पाये हैं, फिर भी अपने-अपने ढंग से प्रत्येक विचारक ने सिद्धान्त निर्णय किये हैं। प्रस्तुत स्वप्न जगत् भी उनके विवेचन क्षेत्र से पृथक् नहीं है। इसके रहस्य और महत्ता की भी प्राच्य और पाश्चात्य दार्शनिकों ने गहरी खोज की है। यही कारण है कि स्वप्न के विषय में भी दो प्रकार की प्रमुख विचार धाराएँ पाई जाती हैं, जिन्हें हम प्राच्य विचारधारा और पाश्चात्य विचारधारा कहते हैं। यह बात दूसरी है कि इनमें से भी प्रत्येक में कई उपधाराएँ फूट निकली हैं।

प्राच्य दर्शनाचार्यों और पाश्चात्य दर्शनाचार्यों की विवेचन प्रणाली के मूल में यही अन्तर है, कि पहली प्रणाली की नींव आत्मा की अमरता पर है और दूसरी की नींव भौतिकता पर। इससे स्वप्न के आन्तरिक स्वरूप में महान् अन्तर पड़ जाता है। द्वितीय प्रणाली के विचारकों की विचार सीमा बुद्धि तत्त्व तक ही सीमित है, आजतक वे इसके परे पहुँचने में असमर्थ ही रहे हैं, और अनुमान भी यही किया जाता है कि वैज्ञानिक शक्ति आत्मतत्त्व तक पहुंचने में असमर्थ ही रहेगी। इसी भित्ति पर स्थित उनका स्वप्न सम्बन्धी विचार भी अधूरा ही रह गया है, यथार्थतः स्वप्न का सम्बन्ध आत्मा से ही है, जैसा कि प्राच्य आचार्यों ने सुबोध एवं व्यावहारिक ढंग से प्रमाणित कर संसार के सामने उपस्थित किया है। प्राच्य विवेचनानुमोदित आत्मा की अमरता के सिद्धान्त से यह स्पष्टतया सिद्ध होता है कि हमारे वर्तमान जीवन का सांस्कारिक सम्बन्ध पूर्व भवों से भी है, इसलिये यह स्वयं सिद्ध है कि स्वप्न पर भी पूर्वभवों के संस्कार शासन करते हैं।

पाश्चात्य जगत् में स्वप्न के ऊपर काफी खोज की गई है, अब तक अंग्रेज़ी में अनुमानतः १००-१५० पुस्तकें इस सम्बन्ध में लिखी जा चुकी हैं। इस छोटे-से लेख में प्रधान-प्रधान सिद्धान्तों के दिग्दर्शन कराने की चेष्टा की जायगी। वैज्ञानिकों ने अधिकांश रूप में स्वप्न के कारणों की खोज की है, उसके फलाफल की नहीं। अरस्तू (Aristotle) कारणों का अन्वेषण करते हुए लिखते हैं कि जागृत अवस्था

में जिन प्रवृत्तियों का ओर व्यक्ति का ध्यान नहीं जाता है, वे ही प्रवृत्तियाँ अर्द्धनिद्रित अवस्था में उत्तेजित होकर मानसिक जगत् में जागरूक हो जाती हैं। अतः स्वप्न में हमें हमारी छुपी हुई प्रवृत्तियों का ही दर्शन होता है। एक[१] दूसरे पश्चिमीय दार्शनिक ने मनोवैज्ञानिक कारणों की खोज करते हुए बतलाया है कि स्वप्न में मानसिक जगत् के साथ बाह्य जगत् का सम्बन्ध रहता है, इसलिये हमें भविष्य में घटनेवाली घटनाओं की सूचना स्वप्न की प्रवृत्तियों से मिलती है। डाक्टर सी० जे० ह्विटबे[२] (Dr. C. J. Whitby) ने मनोवैज्ञानिक ढंग से स्वप्न के कारणों की खोज करते हुए लिखा है कि गर्मी की कमी के कारण हृदय की जो क्रियाएँ जागृत अवस्था में सुषुप्त रहती हैं, वे ही स्वप्नावस्था में उत्तेजित होकर सामने आ जाती हैं। जागृत अवस्था में कार्य संलग्नता के कारण जिन विचारों की ओर हमारा ध्यान नहीं जाता है, निद्रित अवस्था में वे ही विचार स्वप्न रूप से सामने आते हैं। पृथग् गोरियन सिद्धान्त में माना गया है कि शरीर आत्मा की कब्र है। निद्रित अवस्था में आत्मा शरीर से स्वतन्त्र होकर अपने असल जीवन की ओर प्रवृत्त होती है और अनन्त जीवन की घटनाओं को ला उपस्थित करती है। इसीलिये हमें स्वप्न में अपरिचित वस्तुओं के भी दर्शन होते हैं। शुकरात कहते हैं कि—जागृत अवस्था में आत्मा बद्ध है, किन्तु स्वप्नावस्था में आत्मा स्वतन्त्र रहती है, इसलिये स्वप्न में स्वतन्त्रता की बातें सोचती रहती है। इसी कारण हमें नाना प्रकार के विचित्र स्वप्न आते हैं। जो आत्माएँ कलुषित हैं उनके स्वप्न गन्दे और साधारण होते हैं, पर पवित्र आत्माओं के स्वप्न अधिक प्रभावोत्पादक एवं अन्तर्जगत् और बाह्यजगत् से सम्बन्धित होते हैं। इनके द्वारा हमें भावी जीवन की सूचनाएँ मिलती हैं। नेरंगा[३] (Narrangga) मानते हैं कि जैसे हम अवकाश मिलने पर आमोद-प्रमोद करते हैं उसी प्रकार स्वप्नावस्था में आत्मा भी स्वतन्त्र होकर आमोद-प्रमोद करती है और वह मृत आत्माओं से सम्बन्ध स्थापित करके उनसे बातचीत करती है, इसीलिये हमें स्वप्न में अपरिचित चीज़ें भी दिखाई पड़ती हैं। पवित्र आत्माओं के स्वप्न उनके भूत और भावी जीवन के प्रतीक हैं। विबलोनियन (Bablylonian) कहते हैं स्वप्न में देव और देवियाँ आती हैं तथा स्वप्न में हमें उन्हीं के द्वारा भावी जीवन की सूचनाएँ मिलती हैं, इसलिये कभी-कभी स्वप्न की बातें सच होती हैं। (Giljames) गिलजेम्स नामक महाकाव्य में लिखा है कि वीरों को रात में स्वप्न द्वारा उनके भविष्य की सूचना दी जाती

विशेष जानने के लिये देखो—

१ Dreams by Henri Bergson,

२ The Dream problem, Volume, second Part I P. 309.

३ The Dream Problem by Ram Narayan L. M, S. P. 105.

थी। स्वप्न का सम्बन्ध देवी-देवताओं से है, मनुष्यों से नहीं। देवी-देवता ही स्वभावतः व्यक्ति से प्रसन्न होकर उसके शुभाशुभ की सूचना देते हैं।

आधुनिक वैज्ञानिकों ने स्वप्न के कारणों का अन्वेषण दो प्रकार से किया है। कुछ ने स्वप्न का कारण शारीरिक विकार और कुछ ने मासिक विकार माना है। शारीरिक क्रियाओं को प्रधानता देने वाले विद्वान् मानते हैं कि मस्तिष्क के मध्यस्थित कोष के आभ्यन्तरिक परिवर्तन के कारण मानसिक चिन्ता की उत्पत्ति होती है। विभिन्न कोष जागृतावस्था में संयुक्त रहते हैं, किन्तु निद्रितावस्था में संयोग टूट जाता है, जिससे चिन्ताधारा की शृंखला नष्ट हो जाती है और स्वप्न की सृष्टि होती है। मानसिक विकार को कारण माननेवाले ठीक इससे विपरीत हैं, उनका मत है कि निद्रितावस्था में कोषों का संयोग भंग नहीं होता, बल्कि और भी घनिष्ठ हो जाता है, जिससे स्वाभाविक चिन्ता की विभिन्न धाराएँ मिल जाती हैं, इन्हीं के कारण स्वप्न जगत की सृष्टि होती है। किन्हीं-किन्हीं विद्वानों ने बतलाया है कि निद्रितावस्था में हमारे शरीर में नाना प्रकार के विषाक्त पदार्थ एकत्रित हो जाते हैं, जिनसे कोषों की क्रिया में बाधा पहुँचती है, इसलिये स्वप्न देखे जाते हैं। शारीरिक विज्ञान के विश्लेषण से पता लगता है कि निद्रितावस्था में मानसिक वृत्तियाँ सर्वथा निस्तेज नहीं हो जाती हैं। हाँ, जागृतावस्था में जो शृंखला मानसिक वृत्तियों में देखी जाती है वह अवश्य नष्ट हो जाती है। नाना प्रकार की अद्भुत चिन्ताएँ और दृश्य मन में उत्पन्न होते हैं। जागृतावस्था में दर्शन, श्रावण स्पार्शन एवं चाक्षुष आदि प्रत्यक्षानुभूतियों के प्रतिरूप वर्तमान रहते हैं, किन्तु सुषुप्तावस्था में सिर्फ दार्शन प्रत्यक्ष के प्रतिरूप ही वर्तमान रहते हैं।

चिन्ताधारा दिन और रात दोनों में सामान रूप से चलती है, लेकिन जागृतावस्था की चिन्ताधारा पर हमारा नियन्त्रण रहता है, पर सुषुप्तावस्था की चिन्ताधारा पर हमारा नियंत्रण नहीं रहता है, इसीलिये स्वप्न भी नाना अलंकारमय प्रतिरूपों में दिखलाई पड़ते हैं। स्वप्न में दार्शन प्रत्यक्षानुभूति के अतिरिक्त शेषानुभूतियों का अभाव होने पर भी सुख, दुःख, क्रोध, आनन्द, भय, ईर्षा आदि सब प्रकार के मनोभाव पाये जाते हैं। इन भावों के पाये जाने का प्रधान कारण अज्ञात इच्छा ही है। पाश्चात्य विद्वानों ने केवल विज्ञान के द्वारा ही स्वप्न के कारणों की खोज नहीं की, क्योंकि विज्ञान आदि कारण का अनुसन्धान नहीं करता है, आदि कारण का अनुसन्धान करना दर्शन शास्त्र का काम है। पाश्चात्य दर्शन के अनुसार स्वप्न निद्रावस्था की चिन्तामात्र है। हमारी जो इच्छाएँ जागृत जगत् में पूरी नहीं होतीं या जिनके पूरे होने में बाधाएँ रहती हैं, वे ही इच्छाएँ स्वप्न में काल्पनिक भाव से परितृप्त होती हैं। किसी चिन्ता या इच्छा के पूर्ण न होने से मन में जिस अशान्ति का उदय होता है, स्वप्न में कल्पना द्वारा उसकी शान्ति हो जाती है। मन की अशान्ति दूर करने के कारण स्वप्न निद्रा का सहायक है।

उपर्युक्त पंक्तियों में बताया गया है कि रुद्धइच्छा ही स्वप्न में काल्पनिक रूप से परितृप्त होती है। अब यह बतलाना है कि रुद्ध-इच्छा क्या है ? और इसकी उत्पत्ति कैसे होती है ? दैनिक कार्यों की आलोचना करने से स्पष्ट है कि हमारे प्रायः सभी कार्य इच्छाकृत होते हैं। किन्हीं-किन्हीं कार्यों में हमारी इच्छा स्पष्ट रहती है और किन्हीं-किन्हीं में अस्पष्ट एवं रुद्ध-इच्छा रहती है। जैसे गणित करने की आवश्यकता हुई और गणित करने की इच्छा होते ही एक स्थान पर गणित करने के लिये जा बैठे। यहाँ गुणा, भाग, जोड़, घटाव आदि में बहुत-सी क्रियाएँ ऐसी रहेंगी जिनमें इच्छा के अस्तित्व का पता नहीं लगेगा, पर वहाँ हम इच्छाओं के अस्तित्व का अभाव नहीं कह सकते हैं। ज्ञात और अज्ञात इच्छाओं का पता लगाने के लिये मन का विश्लेषण करना अत्यावश्यक है। कुछ मनोवैज्ञानिकों ने इच्छाओं को प्रधान रूप से छः भागों में बाँटा है—(१) स्पष्ट इच्छा—जिन इच्छाओं का अस्तित्वरूप सरलता से जाना जा सकता है। (२) अस्पष्ट-इच्छा—जो इच्छाएँ मन में स्पष्टरूप से उदित नहीं हुई हैं, किन्तु जिनके अस्तित्व में सन्देह नहीं है और जो ज्ञान के प्रान्त में अवस्थित हैं। (३) अपरिस्फुट—जो उदित नहीं हुई हैं, किन्तु जिनका अस्तित्व सहज में ही जाना जा सकता है। (४) अनुमान-सापेक्ष—जिन इच्छाओं के अस्तित्व का मन के विश्लेषण करने पर भी पता न लगे; कार्य या पहली इच्छा से जिसका अनुमान किया जा सके। (५) इच्छाभास या अविश्वासिक-इच्छा—जिन इच्छाओं का अस्तित्व अनुमान सापेक्ष हो, विश्लेषण से जिनकी प्रकृति का ज्ञान होने पर भी, मन में उनका होना इतना असंभव जँचता हो जिससे विश्वास भी न किया जा सके। (६) अज्ञात—जो इच्छा इतनी सूक्ष्म हो कि ज्ञान में भी न लाई जा सके।

किसी-किसी पाश्चात्य दार्शनिक ने इच्छा के चार ही प्रधान भेद बतलाये हैं, इन चारों को अज्ञात-इच्छा के अन्तर्गत रखा जाय तो अनुचित न होगा। (१) संज्ञात—जो इच्छा ज्ञान के अधिकार के भीतर हो। (२) असंज्ञात—चेष्टा द्वारा जहाँ ज्ञान का अधिकार विस्तृत किया जाय। (३) अन्तर्ज्ञात—ज्ञान के अधिकार के बहिर्भूत होते हुए भी जिस इच्छा का मन में किसी न किसी दिन उठना संभव हो। (४) अज्ञात या निर्ज्ञात—जो इच्छा कभी न उठ सके, जिसका अस्तित्व केवल अनुमान गम्य हो। इच्छा के इस दार्शनिक विश्लेषण से पता लगता है कि स्वप्न में नाना प्रकार की अज्ञात-इच्छाएँ अपना जाल बिछाती रहती हैं। इसलिये स्वप्नगत अवदमित-इच्छाएँ सीधे-सादे रूप में चरितार्थ न होकर ज्ञान के पथ में बाधक होती हैं। तथा अज्ञात रुद्ध इच्छा ही अनेक प्रकार से मनके प्रहरी को धोखा देकर विकृत अवस्था में प्रकाशित होती है और अवदमित इच्छाओं के आत्मप्रकाश में उनकी रुद्ध इच्छाएँ बाधा पहुंचाती हैं—जैसे मरने की इच्छा को जीने की इच्छा पनपने नहीं देती। जिस समय भी मरने की इच्छा हमारे मन में प्रकट होने की चेष्टा करती है,

उसी समय जीने की इच्छा प्रकट होकर बाधा पहुँचाती है। फलस्वरूप मरने की इच्छा सीधे-सादे रूप में मन में न उठकर तरह-तरह से प्रकाशित होती है। संकट-पूर्ण परिस्थिति में उतरकर बहादुरी दिखाने की इच्छा केवल मृत्यु की इच्छा का ही रूपान्तर है। इस इच्छा के इस परिवर्तित रूप को देखकर नहीं समझ सकते हैं कि वह यथार्थ में मरने की इच्छा है। यदि इस परिस्थिति में जीने की इच्छा को प्रहरी मान लेते हैं तो यह स्पष्ट हो जाता है कि इस प्रहरी के कारण ही मृत्यु इच्छा अपने असली रूप में प्रकाशित नहीं हो सकी। मृत्यु इच्छा विपत्ति के कार्यों में वाहवाही लेने की इच्छा से छद्मवेश धारण कर लेती है और इस प्रकार इस प्रहरी को सहज में धत्ता बता सकती है। अतः उपर्युक्त विश्लेषण से यह स्पष्ट है कि स्वप्न में अज्ञात-इच्छा विरुद्ध-इच्छा को धोखा देकर नाना रूपकों और उपरूपकों में हमारे सामने आती है।

स्वप्न के अर्थ का विकृत होने का प्रधान कारण अवदमित इच्छा—जो इच्छा अज्ञात होकर स्वप्न में प्रकाशित होने की चेष्टा करती है, प्रहरी को—मन के जो-जो भाव रुद्ध-इच्छा के प्रकाशित होने में बाधा पहुँचाते हैं उनके समष्टि रूप प्रहरी को धोखा देने के लिये छद्मवेश में प्रकाशित होकर शान्त नहीं होती है, बल्कि पाखण्डरूप धारण कर के अपने को प्रहरी की नज़रों से बचाने की चेष्टा करती है। इस प्रकार नाना इच्छाओं का एक जाल बिछ जाता है, इससे स्वप्न का यथार्थ अर्थ विकृत हो जाता है। दार्शन परिणिति (Visuabmagery) अभिक्रान्ति (Displacement), संक्षेपन (Condensation) और नाटकीय परिणिति (Dramatization) ये चार अर्थ विकृति के आकार हैं। मन का प्रहरी जितना सजग होगा, स्वप्न भी उतने ही विकृत आकार में प्रकाशित होगा। प्रहरी के कार्य में ढिलाई होने पर स्वप्न की मूल इच्छा अविकृत अवस्था में प्रकाशित होती है। मन का प्रहरी जागृतावस्था में सजग रहता है और निद्रितावस्था में शिथिल। इसी कारण निद्रितावस्था में मन की अपूर्ण इच्छाएँ स्वप्न द्वारा काल्पनिक तृप्ति का साधन बनती हैं।

इसी प्रकार विश्वविश्रुत मनोवैज्ञानिक[१] फ्रायड ने स्वप्न के कारणों की खोज करते हुए बतलाया है कि बहुधा स्वप्न अत्यन्त विकृत रूप में हमारे सामने आते हैं और अर्थहीन जान पड़ते हैं, पर मनोविज्ञान के पण्डित उस अर्थहीनता में भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अर्थ खोज निकालते हैं। प्रत्येक स्वप्न हमारी किसी आशा या आशंका का रूपक होता है। हमारी गुप्त-भावना स्वप्न में यथार्थ रूप में अपने को प्रकट न करके गुप्तवेश में नाना रूपकों के जाल बिछाकर

१ (a) देखें—The interpretation of dreams. (b) Delusion & dream.
Studies in Dreams by Mary Arnaldforster P. 8 to 30.
Dreams Scientific & Practical Interpretations by C. H, Miller P, 8 to 24.

व्यक्त होती है। मनुष्य अपने स्वभावगत असमर्थता की क्षति पूर्त्ति जिन-जिन रूपों में करता है, उसके स्वप्नों की भी गणना उन्हीं में की जा सकती है। क्योंकि स्वप्नों के द्वारा वह अपनी उन इच्छाओं की पूर्त्ति करता है जिन्हें वह वास्तविक जगत् में पूरा नहीं कर पाता। स्वप्न वास्तव में मनुष्य की अन्तर्भावनाओं के दर्पण होते हैं। किसी मनुष्य के भीतर की सच्ची बात जानने की आवश्यकता हो तो उसके स्वप्नों को जान लेना ही यथेष्ट होगा। एक भारतीय विद्वान्[1] ने एक जगह लिखा है कि मनुष्य के भीतर कमसे कम दो व्यक्तित्व सदा, सब समय वर्त्तमान रहते हैं। उसका एक व्यक्तित्व उसे अपनी स्वाभाविक इच्छाओं की पूर्त्ति के लिये प्रेरित करता है और दूसरा व्यक्तित्व समाज के कड़े नियमों के पालने के लिये उत्कण्ठित रहता है। पहला व्यक्तित्व उसकी अन्तर्भू मि में सोई हुई अवस्था में दबा पड़ा रहता है, पर दूसरा व्यक्तित्व (समाज के शासनचक्र को मानकर चलने वाला व्यक्तित्व) सब जगह जागता रहता है, यहाँ तक कि हमारी निद्रित अवस्था से वह पुलिस के चौकीदार की तरह चौकन्ना रहता है। जब स्वप्न देखते हैं तब हमारे दोनों व्यक्तित्व सचेष्ट रहते हैं। दोनों व्यक्तित्व एक दूसरे पर कड़ी निगाह रखते हैं। पुलिस का काम करने वाला व्यक्तित्व स्वाभाविक इच्छाओं की ओर झुकने वाले व्यक्तित्व को धर पकड़ने के लिये तैयार रहता है, पर दूसरा व्यक्तित्व उस पुलिस प्रहरी को धोखा देकर अपनी सहज इच्छाओं को वेश बदल कर चरितार्थ कर लेता है। यही कारण है कि हमारे स्वप्न हमें अर्थहीन और विचित्र जान पड़ते हैं पर वे वास्तव में अर्थ हीन नहीं होते, बल्कि हमारे भीतर वर्तमान पुलिस प्रहरी को धोखा देने के लिये निराले रूपक-मय रूप धारण कर लेते हैं। इस प्रकार हमारे मूल व्यक्तित्व की आकाँक्षाएँ पूरी होती हैं। जेम्स[2] एलेन लिखते हैं कि मानव के अन्तस्तल में जो सद् या असद् इच्छाएँ वर्तमान रहती हैं वे स्वप्न में आती हैं। कल्पनाओं के संसार का दूसरा नाम स्वप्न उन्होंने रक्खा है। लिलीने स्वप्न का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करते हुए लिखा हैं कि जितने भी ऊँचे स्वप्न देखने वाले हुए हैं या जिनके ऊँचे मन्तव्य रहे हैं वे संसार के मुक्तिदाता हुए है। स्वप्न मनुष्य की अन्तर्भावनाओं के सच्चे प्रतीक हैं। जी० एच० मिलर सा० ने अपनी Dreams Scientific पुस्तक में लिखा है कि "A dream is an event transpiring in that world belonging to the mind when the objective senses have withdrawn into rest or oblivion.

Than the spiritual man is living alone in the future or ahead of objective life and consequently lives man's future first developing conditions in a way that enables waking man to shape his actions by warnings, so as to make life a perfect existence". अर्थात् सुषुप्तावस्था में मस्तिष्क का

---

१ दैनिक जीवन और मनोविज्ञान।

२ Asyns Thinkett P. 18. A, H. Sayce P, 33.

आन्तरिक संसार से सम्बन्ध रहने के कारण व्यक्ति में आध्यात्मिकता अधिक रहती है। इस लिये व्यक्ति का सम्बन्ध वास्तविक अर्थात् बाह्य संसार से न रहकर आन्तरिक संसार से रहता है, अतः स्वप्न के द्वारा भावी जीवन की घटनाओं की सूचना मिलती है। स्वप्न से ही मानव जीवन में पूर्णता आती है। अतएव स्वप्नों को भविष्य की सूचना देने वाले मानना चाहिये।

प्राच्यविचार धारा को सुविधा के ख्याल से विचार करने के लिये प्रधानतया तीन भागों में बाँट सकते हैं—(१) दार्शनिक विचार धारा, (२) आयुर्वेदिक विचार धारा और (३) ज्योतिषिक विचार धारा। दार्शनिक विचार धारा की तीन उपधाराएँ हैं—(१) जैन, (२) बौद्ध और (३) वैदिक।

जैन दर्शन—जैन मान्यता में स्वप्न संचित कर्मों के अनुसार घटित होने वाले शुभाशुभ फल के द्योतक हैं। स्वप्नशास्त्रों के अध्ययन से स्पष्ट अवगत हो जाता है कि कर्मबद्ध प्राणीमात्र की क्रियाएँ सांसारिक जीवों को उनके भूत और भावी जीवन की सूचना देती हैं। स्वप्न का अन्तरंग कारण ज्ञानावरणी, दर्शनावरणी और अन्तराय के क्षयोपशम के साथ मोहनीय का उदय है। जिस व्यक्ति के जितना अधिक इन कर्मों का क्षयोपशम होगा, उस व्यक्ति के स्वप्नों का फल भी उतना ही अधिक सत्य निकलेगा। तीव्र कर्मों के उदय वाले व्यक्तियों के स्वप्न निरर्थक एवं सारहीन होते हैं, इसका मुख्य कारण यही है कि सुषुप्तावस्था में भी आत्मा तो जागृत ही रहती है केवल इन्द्रियां और मन की शक्ति विश्राम करने के लिये सुषुप्त-सी हो जाती है। जिसके उपर्युक्त कर्मों का क्षयोपशम है उसके क्षयोपशमजन्य इन्द्रिय और मन सम्बन्धी चेतनता या ज्ञानावस्था अधिक रहती है। इसलिये ज्ञान की मात्रा की उज्ज्वलता से निद्रित अवस्था में जो कुछ देखते हैं, उसका सम्बन्ध हमारे भूत, वर्तमान और भावी जीवन से है। इसी कारण स्वप्नशास्त्रियों ने स्वप्न को भूत, वर्तमान और भविष्य जीवन का द्योतक बतलाया है। पौराणिक अनेक आख्यानों से भी यही सिद्ध होता है कि स्वप्न मानव को उसके भावी जीवन में घटने वाली घटनाओं की सूचना देते हैं।

बौद्धदर्शन—बौद्ध मान्यता में स्वभावतः पदार्थों के क्षणिक होने के कारण सुषुप्तावस्था में भी क्षण-क्षण ध्वंसी आत्मा की ज्ञानसन्तान चलती रहती है, पर इस ज्ञानसन्तान का जीवात्मा के ऊपर कोई स्थायी प्रभाव नहीं पड़ता है और न पूर्व संचित संस्कार ही वस्तुभूत हैं। इसलिये स्वप्न का फल जीवात्मा से कुछ सम्बन्ध नहीं रखता है। केवल शारीरिक विकार के कारण स्वप्न आते हैं, आत्मा स्वप्न से पृथक् रहती है। बौद्ध ग्रन्थों के पौराणिक आख्यानों में कुछ स्वप्न सम्बन्धी कथायें अवश्य मिलती हैं, पर दार्शनिकों ने स्वप्न के सम्बन्ध में विचार नहीं किया है।

वैदिक दर्शन—इस मान्यता में प्रधानतः अद्वैत, द्वैत और विशिष्टाद्वैत ये तीन दार्शनिक सिद्धान्त हैं, अवान्तर विचार धाराएँ इन्हीं के अन्तर्गत हैं।

अद्वैत दर्शन—इस मान्यता में पूर्व और वर्तमान संचित संस्कारों के कारण जागृत अवस्था में जिन इच्छाओं की पूर्त्ति नहीं होती हैं, स्वप्नावस्था में उन्हीं इच्छाओं की पूर्त्ति बताई गई है। स्वप्न आने का प्रधान कारण अविद्या है, इसलिये स्वप्न का सम्बन्ध अविद्या सम्बद्ध जीवात्मा से है, परमब्रह्म से नहीं। स्वप्न के फल का प्रभाव जीवात्मा के ऊपर पड़ता है, पर यह फल भी मायारूप भ्रान्त है।

द्वैत दर्शन—इस दर्शन में पुरुष प्रकृति के सम्बन्ध के कारण विकृतावस्था को धारण कर लेता है। इस विकृत पुरुष में ही जन्म-जन्मान्तर के संस्कार संचित रहते हैं। पूर्व तथा वर्तमान जन्म के संस्कारों के कारण विकृत पुरुष स्वप्न देखता है। अतः स्वप्न का सम्बन्ध निर्लेपी पुरुष से न होकर प्रकृति मिश्रित पुरुष के भूत, वर्तमान और भावी जीवन से है।

विशिष्टाद्वैत—इस मान्यता में बताया गया है कि संचित, प्रारब्ध, काम्य और निषिद्ध इन चार प्रकार के कर्मों में से संचित और प्रारब्ध कर्मों के अनुसार प्राणियों को स्वप्न आते हैं। स्वप्न का सम्बन्ध ब्रह्म के अंशभूत जीव से है। इस दर्शन की मान्यता के अनुसार प्राणी संचित कर्मों का फल भी स्वप्न में भोग सकता है। पौराणिक आख्यानों में महाराज सत्य हरिश्चन्द्र का उदाहरण भी इसी प्रकार का है, जिन्होंने स्वप्न में अनेक भावों के संचित "डोम के यहाँ बिक्रय होने के" फल को प्राप्त कर लिया था।

आयुर्वेदिक विचार धारा[1]—इस मान्यता के अनुसार मन के बहने वाली नाड़ियों के छिद्र जिस समय अति बली तीनों दोषों से (वात, पित्त और कफ) परिपूर्ण हो जाते हैं उस समय प्राणियों को शुभ और अशुभ स्वप्न आते हैं। जिस समय प्राणी न अत्यन्त सोता है और न जागता हो अर्थात् अर्द्ध निद्रित अवस्था में इन्द्रियों के अधिपति मन के द्वारा सफल और निष्फल अनेक प्रकार के स्वप्न देखता है। इस मान्यता में बताया गया है कि व्यक्तियों को नाना प्रकार के रोगों की स्वप्न द्वारा चेतावनी दी जाती है। चरक और सुश्रुत के आधार पर से कुछ का उल्लेख किया जाता है।

जो मनुष्य स्वप्न में कुत्ता, ऊँट और गधे पर चढ़ कर दक्षिण दिशा को जाता है, उसको राजयक्ष्मा; जो स्वप्न में लाख और लाल वस्त्र के समान आकाश को देखता है, उसे रक्त-पित्त; जिसे स्वप्न में शूल रोग, अफरा, आँतों का रोग, अत्यन्त दुर्बलता का अनुभव हो

१ मनोवहानां पूर्णत्वाद्दोषैरतिबलैस्त्रिभिः
स्रोतसां दारुणान्स्वप्नान्काले पश्यत्यदारुणान्
विशेष जानने के लिये देखो—वाग्भट्ट शारीर स्थान ६वाँ अध्याय

और नखों का रंग विकृत मालूम हो, उसे गुल्म; जो स्वप्न में शरीर में घाव देखे, नग्न हो घृत लगावे, ज्वाला रहित अग्नि में हवन करे और हृदय में कमल प्रकट हुआ देखे, उसे कुष्ठरोग; जो स्वप्न में चाण्डाल, चर्मकार आदि नीच वर्ण वाले व्यक्तियों के साथ घृत, तैल आदि स्निग्ध पदार्थों का पान करे, उसे मधु मेह; जो स्वप्न में अनेक व्यक्तियों सहित नाचता हुआ जल में निमग्न होता देखे, उसे उन्माद; स्वप्न में कुत्ते से प्रेम करते हुए देखने से ज्वर; राक्षसों के साथ प्रीति करते हुए देखने से अपस्मार; बन्दरों के साथ प्रीति करते हुए देखने से गुप्त रोग; स्वप्न में चने की तिल मिली पूड़ी खाने से मस्तक और छर्दि रोग; स्वप्न में मार्ग चलता हुआ देखने से श्वास; स्वप्न में हल्दी मिले पदार्थ का सेवन करता हुआ देखने से पाण्डु रोग और स्वप्न में लाल तथा काले वस्त्रवाली स्त्री के साथ वार्त्तालाप करने से भयानक रोग होते हैं। वाग्भट्ट ने बताया है कि जिस मनुष्य की वात प्रकृति होती है, वह स्वप्न में आकाश में भ्रमण करना, उड़ना तथा काले रंग की वस्तुओं को और प्रचण्ड पवन-आँधी आदि देखता है। पित्ताधिक प्रकृति वाला सोने या रत्नों की मालाओं, सूर्य, अग्नि और बिजली आदि प्रकाशमान पदार्थों को देखता है। कफाधिक प्रकृतिवाला चन्द्रमा, नक्षत्र, श्वेत पुष्प और नदी, तालाब आदि को देखता है। अपनी-अपनी प्रकृति के अनुकूल देखे गये स्वप्न निरर्थक होते हैं अर्थात् वाताधिक प्रकृतिवाला आकाश में उड़ना देखे या वात प्रकृति सम्बन्धी अन्य स्वप्नों को देखे तो ऐसे स्वप्नों का फल नहीं होता है।

ज्यौतिषिक विचारधारा—उपलब्ध जैन ज्योतिष में निमित्त शास्त्र अपना विशेष स्थान रखता है। जहाँ जैनाचार्यों ने जीवन में घटनेवाली अनेक घटनाओं के इष्टानिष्ट कारणों का विश्लेषण किया है, वहाँ स्वप्न के द्वारा भावी जीवन की उन्नति और अवनति का विश्लेषण भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ढंग से किया है। यों तो प्राचीन वैदिक धर्मावलम्बी ज्योतिषशास्त्रियों ने भी इस विषय पर पर्याप्त लिखा है, पर जैनाचार्यों द्वारा प्रतिपादित स्वप्न शास्त्र में कई विशेषताएँ हैं। वैदिक ज्योतिषशास्त्रियों ने ईश्वर को सृष्टिकर्त्ता माना है, इसलिये स्वप्न को भी ईश्वरकी प्रेरित इच्छाओं का फल बताया है। वाराहमिहिर, बृहस्पति और पौलस्त्य आदि विख्यात गणकों ने ईश्वर की प्रेरणा को ही स्वप्न में प्रधान कारण बताया है। फलाफल का विवेचन जैनाजैन ज्योतिषशास्त्र में दश-पाँच स्थलों को छोड़ कर प्रायः समान ही है।

जैन स्वप्न शास्त्र[1] में प्रधानतया निम्न सात प्रकार के स्वप्न बताये गये हैं। (१) दृष्ट जो कुछ जागृत अवस्था में देखा हो उसी को स्वप्नावस्था में देखा जाय; (२) श्रुत—सोने के

विशेष जानने के लिये देखो—

१ भद्रबाहु निमित्तशास्त्र का स्वप्नाध्याय और केवलज्ञानहोरा का स्वप्न प्रकरण

पहले कभी किसी से सुना हो उसी को स्वप्नावस्था में देखा जाय; (३) अनुभूत—जिसका जागृतावस्था में किसी भाँति अनुभव किया हो, उसी को स्वप्न में देखे; (४) प्रार्थित—जिनकी जागृतावस्था में प्रार्थना—इच्छा की हो उसी को स्वप्न में देखे; (५) कल्पित—जिसकी जागृतावस्था में कभी भी कल्पना की गई हो उसी को स्वप्न में देखे; (६) भाविक—जो कभी न तो देखा गया हो और न सुना हो, पर जो भविष्य में होने वाला हो उसे स्वप्न में देखा जाय और (७) दोषज—वात. पित्त और कफ इनके विकृत हो जाने से देखा जाय। इन सात प्रकार के स्वप्नों में से पहले के पाँच प्रकार के स्वप्न प्रायः निष्फल होते हैं, वस्तुतः भाविक स्वप्न का फल ही सत्य होता है।

रात्रि के प्रहर के अनुसार स्वप्न का फल—रात्रि के पहले प्रहर में देखे गये स्वप्न एक वर्ष में; दूसरे प्रहर में देखे गये स्वप्न आठ महीने में (चन्द्रसेन मुनि के मत से ७ महीने में); तीसरे प्रहर में देखे गये स्वप्न तीन महीने में; चौथे प्रहर में देखे गये स्वप्न एक महीने में (वराहमिहिर के मत से १६ दिन में); ब्राह्म मुहूर्त्त (उषाकाल) में देखे गये स्वप्न दस दिन में और प्रातःकाल सूर्योदय से कुछ पूर्व देखे गये स्वप्न अति शीघ्र शुभाशुभ फल देते हैं।

अब जैनाजैन ज्योतिष-शास्त्र के आधार पर कुछ स्वप्नों का फल नीचे उद्धृत किया जाता है—

अगुरु—जैनाचार्य भद्रबाहु के मत से—काले रंग का अगुरु देखने से निःसन्देह अर्थलाभ होता है। जैनाचार्य चन्द्रसेन मुनि के मत से सुख मिलता है। वराहमिहिर के मत से धन लाभ के साथ स्त्री लाभ भी होता है। बृहस्पति के मत से—इष्ट मित्रों के दर्शन, और आचार्य मयूख एवं दैवज्ञवर्य गणपति के मत से अर्थ लाभ के लिये विदेश गमन होता है।

अग्नि—जैनाचार्य चन्द्रसेन मुनि के मत से धूम युक्त अग्नि देखने से उत्तमकान्ति, वराहमिहिर और मार्कण्डेय के मत से प्रज्वलित अग्नि देखने से कार्य सिद्धि; दैवज्ञ गणपति के मत से अग्नि भक्षण करना देखने से भूमि लाभ के साथ स्त्री रत्न की प्राप्ति और बृहस्पति के मत से जाज्वल्यमान अग्नि देखने से कल्याण होता है।

अग्निदग्ध—जो मनुष्य आसन, शय्या, यान और वाहन पर स्वयं स्थित होकर अपने शरीर को अग्निदग्ध होते देखे (मतान्तर से अन्य को जलता हुआ देखे और तत्क्षण जाग उठे तो उसे धन-धान्य की प्राप्ति होती है। अग्नि में जलकर मृत्यु देखने से रोगी पुरुष की मृत्यु और स्वस्थ पुरुष बीमार होता है। गृह अथवा दूसरी वस्तु को जलते हुए देखना शुभ है। वराहमिहिर के मत से अग्नि लाभ भी शुभ है।

अन्न—अन्न देखने से अर्थ लाभ और सन्तान की प्राप्ति होती है। आचार्य चन्द्रसेन के मत से श्वेत अन्न देखने से इष्ट मित्रों की प्राप्ति; लाल अन्न देखने से रोग; पीला अनाज देखने से हर्ष और कृष्ण अनाज देखने से मृत्यु होती है।

अलङ्कार—अलंकार देखना शुभ है, पर पहनना कष्ट प्रद होता है।

अस्त्र—अस्त्र देखना शुभ फल प्रद; अस्त्र द्वारा शरीर में साधारण चोट लगना तथा अस्त्र लेकर दूसरे का सामना करना विजय प्रद होता है।

अनुलेपन—श्वेत रंग की वस्तुओं का अनुलेपन शुभ फल देने वाला होता है। वराहमिहिर के मत से लाल रंग के गन्ध, चन्दन और पुष्पमाला आदि के द्वारा अपने को शोभायमान देखे तो शीघ्र मृत्यु होती है।

अन्धकार—अन्धकार मय स्थानों में वन, भूमि, गुफा और सुरंग आदि स्थानों में प्रवेश करते हुए देखना रोग सूचक है।

आकाश—भद्रबाहु स्वामी के मत से निर्मल आकाश देखना शुभ फल प्रद; लाल वर्ण की आभा वाला आकाश देखना कष्ट प्रद और नील वर्ण का आकाश देखना मनोरथ सिद्ध करने वाला होता है।

आरोहण—वृष, गाय, हाथी, मन्दिर, वृक्ष, प्रासाद और पर्वत के ऊपर स्वयं आरोहण करते हुए देखना या दूसरे को आरोहित (चढ़ता हुआ) देखना अर्थ लाभ सूचक है।

कपास—कपास देखने से स्वस्थ व्यक्ति रुग्ण होता है और रोगी की मृत्यु होती है। दूसरे को देते हुए कपास देखना शुभ फल प्रद है।

कबन्ध—नाचते हुए छिन्न कबन्ध देखने से आधि, व्याधि और धन नाश होता है। वराहमिहिर के मत से मृत्यु होती है।

कलश—कलश देखने से धन, आरोग्य और पुत्र की प्राप्ति होती है। कलशी देखने से गृह में कन्या उत्पन्न होती है।

कलह—कलह एवं लड़ाई-झगड़े देखने से स्वस्थ व्यक्ति रुग्ण होता है और रोगी की मृत्यु होती है।

काक—स्वप्न में काक, गिद्ध, उल्लू और कुकुर जिसे चारों ओर से घेरकर त्रास उत्पन्न करें तो मृत्यु और अन्य को त्रास उत्पन्न करते हुए देखे तो अन्य की मृत्यु होती है।

कुमारी—कुमारी कन्या को देखने से अर्थ लाभ एवं सन्तान की प्राप्ति होती है। वराहमिहिर के मत से कुमारी कन्या के साथ आलिङ्गन करना देखने से कष्ट एवं धन क्षय होता है।

कूप—गन्दे जल या पंक वाले कूप (कुँआ) के अन्दर गिरना या डूबना देखने से स्वस्थ व्यक्ति रोगी और रोगी की मृत्यु होती है। तालाब या नदी में प्रवेश करना देखने से रोगी को मरण तुल्य कष्ट होता है।

क्षौर[1]—नाई के द्वारा स्वयं अपना या दूसरे का क्षौर (हजामत) करना देखने से कष्ट के साथ-साथ धन और पुत्र का नाश होता है। गणपति दैवज्ञ के मत से माता-पिता की

१ विशेष जानने के लिये देखो—मुहूर्त्तगणपति का २७वाँ प्रकरण।

मृत्यु; मार्कण्डेय के मत से भार्या मरण के साथ माता-पिता की मृत्यु और बृहस्पति के मत से पुत्र-मरण होता है।

खेल[1]—अत्यन्त आनन्द के साथ खेल खेलते देखना दुःस्वप्न है। इसका फल बृहस्पति के मत से—रोना, शोक करना एवं पश्चात्ताप करना; ब्रह्मवैवर्त पुराण के मत से—धन नाश, ज्येष्ठ पुत्र या कन्या का मरण और भार्या को कष्ट होता है, नारद के मत से सन्तान नाश और पाराशर के मत से—धन क्षय के साथ-साथ अपकीर्त्ति होती है।

गमन—दक्षिण दिशा की ओर गमन करना देखने से धन नाश के साथ कष्ट; पश्चिम दिशा की ओर गमन करना देखने से अपमान; उत्तर की ओर गमन करना देखने से स्वास्थ्य लाभ और पूर्व दिशा की ओर गमन करना देखने से धन प्राप्ति होती है।

गर्त्त—उच्च स्थान से अन्धकारमय गर्त्त में गिर जाना देखने से रोगी की मृत्यु और स्वस्थ पुरुष रुग्ण होता है। यदि स्वप्न में गर्त्त में (गड्ढे) गिर जाय और उठने का प्रयत्न करने पर भी बाहर न आसके तो उसकी १० दिन के भीतर मृत्यु होती है।

गाड़ी—गाय या बैलों के द्वारा खींचे जाने वाली गाड़ी पर बैठे हुए चलना देखने से पृथ्वी के नीचे से चिर संचित धन की प्राप्ति होती है। वराहमिहिर के मत से—पीताम्बर धारण किये स्त्री को एक ही स्थान पर कई दिन तक देखने से उस स्थान पर धन मिलता है। बृहस्पति के मत से—स्वप्न में दाहिने हाथ में साँप को काटता हुआ देखने से १०००००) रुपये की प्राप्ति अतिशीघ्र होती है।

गाना—स्वयं को गाना गाता हुआ देखने से कष्ट होता है। भद्रबाहु स्वामी के मत से स्वयं या दूसरे को मधुर गाना गाते हुए देखने से मुकद्दमा में विजय, व्यापार में लाभ और यश प्राप्ति; बृहस्पति के मत से अर्थ लाभ के साथ भयानक रोग; नारद के मत से—सन्तान कष्ट और अर्थ लाभ एवं मार्कण्डेय के मत से अपार कष्ट होता है।

गाय—दुहने वाले के साथ गाय को देखने से कीर्त्ति और पुण्य लाभ होता है। गणपति दैवज्ञ के मत से—जल पीती गाय देखने से लक्ष्मी के तुल्य गुणवाली कन्या का जन्म और वराहमिहिर के मत से—स्वप्न में गाय का दर्शनमात्र ही सान्तानोत्पादक है।

गिरना—स्वप्न में लड़खड़ाते हुए गिरना देखने से दुःख, चिन्ता एवं मृत्यु होती है।

गृह—गृह में प्रवेश करना, ऊपर चढ़ना एवं किसी से प्राप्त करना देखने से भूमि लाभ और धन-धान्य की प्राप्ति एवं गृह का गिरना देखने से मृत्यु होती है।

घास—कच्चा घास, शस्य (धान) और कच्चे गेहूँ एवं चने के पौधे देखने से भार्या को गर्भ रहता है, परन्तु इनके काटने या खाने से गर्भ पात होता है।

---

[1] ब्रह्मवैवर्त पुराण के गणेशखण्ड का ३३ वाँ और ३४वाँ अध्याय।

घृत—घृत देखने से मन्दाग्नि; अन्य से लेना देखने से यश प्राप्ति; घृत पान करना देखने से प्रमेह और शरीर में लगाना देखने से मानसिक चिन्ताओं के साथ शारीरिक कष्ट होता है।

घोटक—घोड़ा देखने से अर्थ लाभ, घोड़े पर चढ़ना देखने से कुटुम्बवृद्धि और घोड़ी का प्रसव करना देखने से सन्तान लाभ होता है।

चक्षु—स्वप्न में अकस्मात् चक्षु द्वय का नष्ट होना देखने से मृत्यु और एक आँख का फूट जाना देखने से कुटुम्ब में किसी की मृत्यु होती है।

चादर[1]—स्वप्न में शरीर की चादर, चोगा या कमीज आदि को श्वेत और लाल रंग की देखने से सन्तान हानि होती है।

चिता—अपने को चिता पर आरूढ़ देखने से बीमार की मृत्यु और स्वस्थ व्यक्ति बीमार होता है।

जल—स्वप्न में निर्मल जल देखने से कल्याण, जल द्वारा अभिषेक देखने से भूमि की प्राप्ति; जल में डूबकर विलग होना देखने से मृत्यु; जल को तैरकर पार करना देखने से सुख और जल पीना देखने से कष्ट होता है।

जूता—स्वप्न में जूता देखने से विदेश यात्रा, जूता प्राप्त कर उपभोग करना देखने से ज्वर एवं जूता से मार-पीट करना देखने से ६ महीने में मृत्यु होती है।

तिल-तैल—तिल, तैल और खली की प्राप्ति होना देखने से कष्ट, पीना और भक्षण करना देखने से मृत्यु और मालिश करना देखने से मृत्यु तुल्य कष्ट होता है।

दधि—स्वप्न में दधि देखने से प्रीति, भक्षण करना देखने से यश प्राप्ति, भात के साथ भक्षण करना देखने से सन्तान लाभ और दूसरों को देना लेना देखने से अर्थ लाभ होता है।

दाँत—दाँत कमजोर हो गये हैं और गिरने के लिये तैयार हैं या गिर रहे हैं, ऐसा देखने से धन का नाश और शारीरिक कष्ट होता है। वराहमिहिर के मत से स्वप्न में नख, दाँत और केशों का गिरना देखना मृत्यु सूचक है।

दीपक—स्वप्न में दीपक जला हुआ देखने से अर्थ लाभ, अकस्मात् निर्वाण प्राप्त हुआ देखने से मृत्यु और उर्ध्व लौ देखने से यश प्राप्ति होती है।

देव-प्रतिमा—स्वप्न में इष्टदेव का दर्शन, पूजन और आह्वानन करना देखने से विपुल धन की प्राप्ति के साथ परम्परा से मोक्ष मिलता है। स्वप्न में प्रतिमा का कम्पित होना, गिरना हिलना, चलना, नाचना और गाते हुए देखने से आधि, व्याधि और मृत्यु होती है।

नग्न—स्वप्न में नग्न होकर मस्तिक के ऊपर लाल रंग की पुष्पमाला धारण करना देखने से मृत्यु होती है।

[1] विशेष जानने के लिये देखो—मत्स्यपुराण का २४२ वाँ अध्याय।

नृत्य—स्वप्न में स्वयं का नृत्य करना देखने से रोग और दूसरे को नृत्य करता हुआ देखने से अपमान होता है। वराहमिहिर के मत से—नृत्य का किसी भी रूप में देखना अशुभ सूचक है।

पक्वान—स्वप्न में पक्वान कहीं से प्राप्त कर भक्षण करता हुआ देखे तो रोगी की मृत्यु हो और स्वस्थ व्यक्ति बीमार हो। स्वप्न में पूरो, कचौरी, मालपुआ और मिष्टान्न खाना देखने से शीघ्र मृत्यु होती है।

फल—स्वप्न में फल देखने से धन की प्राप्ति, फल खाना देखने से रोग एवं सन्तान नाश और फल का अपहरण करना देखने से चोरी एवं मृत्यु आदि अनिष्ट फलों की प्राप्ति होती हैं।

फूल—स्वप्न में श्वेत पुष्पों का प्राप्त होना देखने से धन लाभ, रक्तवर्ण के पुष्पों का प्राप्त होना देखने से रोग; पीतवर्ण के पुष्पों का प्राप्त होना देखने से यश एवं धन लाभ; हरितवर्ण के पुष्पों का प्राप्त होना देखने से इष्ट-मित्रों का मिलन और कृष्णवर्ण के पुष्प देखने से मृत्यु होती हैं।

भूकम्प[1]—भूकम्प होना देखने रोगी की मृत्यु और स्वस्थ व्यक्ति रुग्ण होता है। चन्द्रसेन मुनि के मत से—स्वप्न में भूकम्प देखने से राजा का मरण होता है। भद्रबाहु स्वामी के मत से—स्वप्न में भूकम्प होना देखने से राज्य विनाश के साथ देश में बड़ा भारी उपद्रव होता है।

मल-मूत्र—स्वप्न में मल-मूत्र का शरीर में लग जाना देखने से धन प्राप्ति; भक्षण करना देखने से सुख और स्पर्श करना देखने से सम्मान मिलता है।

मृत्यु—स्वप्न में किसी की मृत्यु देखने से शुभ होता है और जिसकी मृत्यु देखते हैं वह दीर्घजीवी होता है, परन्तु अन्य दुःखद घटनाएँ सुनने को मिलती हैं।

यव—स्वप्न में जौ देखने से घर में पूजा, होम और अन्य माङ्गलिक कार्य होते हैं।

युद्ध—स्वप्न में युद्ध में विजय देखने से शुभ; पराजय देखने से अशुभ और युद्ध सम्बन्धी वस्तुओं को देखने से चिन्ता होती है।

रुधिर—स्वप्न में शरीर में से रुधिर निकलना देखने से धन-धान्य की प्राप्ति; रुधिर से अभिषेक करता हुआ देखने से सुख; स्नान देखने से अर्थ लाभ और रुधिर पान करना देखने से विद्या लाभ एवं अर्थ लाभ होता है।

लता—स्वप्न में कण्टकवाली लता देखने से गुल्म रोग; साधारण फल-फूल सहित लता देखने से नृप दर्शन और लता के साथ क्रीड़ा करने से रोग होता है।

लोहा—स्वप्न में लोहा देखने अनिष्ट और लोहा या लोहे से निर्मित वस्तुओं के प्राप्त करने से आधि, व्याधि और मृत्यु होती है। —क्रमशः

१ विशेष जानने के लिये देखो—
देवीपुराण का २२वाँ अध्याय और कालिकापुराण का ८७वाँ अध्याय।

वर्तमान तिलोयपण्णत्ति और उसके रचनाकाल आदि का विचार।

लें०—श्रीयुत् पं० फूलचन्द्र सिद्धान्त शास्त्री सम्पादक 'जयधवला' बनारस

(१) सामान्य परिचय

दिगम्बर सम्प्रदाय में 'तिलोयपण्णत्ति' को ऊंचा स्थान प्राप्त है। इसका परिमाण आठ हजार[1] श्लोक है यह इसके अन्त में आई हुई एक गाथा से जाना जाता है। भाषा प्राकृत है। ग्रन्थ का बहुभाग गाथाबद्ध और कुछ भाग गद्य में है। इसमें सामान्य[2] लोक, नारक लोक, भवनवासी लोक, मनुष्य लोक, तिर्यंच लोक, व्यन्तर लोक, ज्योतिषीलोक, कल्पवासी लोक और सिद्धलोक ये नौ महाधिकार हैं। तथा प्रत्येक अधिकार के भीतर छोटे छोटे और भी अनेक अधिकार हैं। इसका विषय अधिकारों के नामों से ही स्पष्ट है। आशय यह है कि इस ग्रन्थ में सामान्य लोकका आकार, उसका परिमाण, लोकके भेद, मनुष्य, तिर्यंच, नारकी और देवों के निवास स्थान आदि का विस्तार से कथन किया है। इसका एक भाग सोलापुर से प्रकाशित हो चुका है। सम्पादक डा० ए० एन० उपाध्ये, कोल्हापुर और प्रो० हीरालालजी अमरावती है। इसमें प्रारम्भ के चार अधिकार प्रकाशित हुए हैं। शेष पांच अधिकार अभी प्रकाशित होने हैं।

(२) रचनाकाल

मनुष्य लोक नामक चौथे महाधिकार में मनुष्यों का निवास स्थान, उनके भेद आदि का जिस प्रकार विचार किया है उसी प्रकार उसमें भगवान् महावीर के पश्चात् की आचार्य-परम्परा और उसके काल का तथा राज्यकाल गणना का भी उल्लेख किया है। राज्यकाल गणना का उल्लेख करते हुए उसमें बताया है कि जिस समय[3] वीर जिनने मोक्ष लक्ष्मी को प्राप्त किया उसी समय अवन्ति के पुत्र पालक का अभिषेक हुआ। पालक ने साठ

---

१ चुण्णिसरूवछक्करणसरूवपमाण होदि किं जं तं।
अट्ठसहस्सपमाणं तिलोयपण्णत्तिणामाए॥

२ देखो तिलोयपण्णत्ति प्रथम अधिकार गाथा ८८, ८९।

३ देखो तिलोयपण्णत्ति चतुर्थ अधिकार गाथा १५०५ से १५१४ तक।

नोट—हिन्दू विश्वविद्यालय बनारस में ३१ दिसम्बर तथा १ और २ जनवरी सन् ४४ को प्राच्य-विद्या-परिषद् का अधिवेशन हुआ था। उसके प्राकृत और जैन विभाग के अध्यक्ष प्रो० हीरालालजी एम० ए०, प्रो० किंग एडवर्ड कालेज अमरावती थे। उसमें यह लेख पढ़ा गया था। —सं०

वर्ष तक राज्य किया। अनन्तर १५५ वर्ष तक विजय वंश के राजाओं ने, ४० वर्ष तक मौर्य वंश के राजाओं ने, ३० वर्ष तक पुष्यमित्र ने, ६० वर्ष तक वसुमित्र और अग्निमित्र ने, १०० वर्ष तक गन्धर्व राजाओं ने, और ४० वर्ष तक नरवाहन ने राज्य किया। उसके बाद भृत्यान्ध्र राजा हुए। उनका राज्यकाल २४२ वर्ष होता है। तदनन्तर २३१ वर्ष तक गुप्तों का राज्य रहा। इसके बाद इन्द्रपुत्र कल्की हुआ। उसका नाम चतुर्मुख था और आयु ७० वर्ष थी। उसने ४२ वर्ष तक राज्य किया। इस प्रकार इन सब राज्य कालोंका जोड़ ६०+१५५+४०+३०+६०+१००+४०+२४२+२३१+४२ =१००० वर्ष होता है। इसके बाद कल्कि के पुत्र अजितंजय ने दो वर्ष तक धर्म राज्य किया इसका उल्लेख किया है। त्रिलोकप्रज्ञप्ति में आये हुए इस उल्लेख परसे अन्य सभी विद्वानों का मत है कि तिलोयपण्णत्ति की रचना[1] श० सं० ४०० के करीब हुई होगी। यदि इसके बहुत काल बाद हुई होती तो उसमें अजितंजय के बाद के अन्य राजाओं का भी उल्लेख किया जाता।

किन्तु इसका सूक्ष्म निरीक्षण करने से जो अन्य ऐतिहासिक सामग्री उपलब्ध होती है उस पर दृष्टिपात करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि इसका रचनाकाल ९ वीं शताब्दी के पहले का किसी भी हालत में नहीं हो सकता। अब आगे इसके निरीक्षण से निष्पन्न हुए परिणामों का क्रमवार निर्देश करते हैं—

(१) आचार्य वीरसेन वि० ९ वीं शताब्दी के प्रसिद्ध टीकाकार हैं। इन्होंने षट्-खण्डागम पर ७० हजार श्लोक प्रमाण और कसायपाहुड पर ६० हजार श्लोक प्रमाण धवला और जयधवला टीका लिखी हैं। जयधवला टीका पूरी होने के पहले ही वे दिवंगत हो गये थे अतः इसे इनके पट्टशिष्य आचार्य जिनसेन ने पूरा किया है। इन दोनों टीकाओं में प्रचुरमात्रा में ऐतिहासिक सामग्री विद्यमान है। उन्होंने इन टीका ग्रन्थों में जो अपने काल तक के विविध आचार्यों के मतों का उल्लेख किया है उन मत भेदों से भी मालूम पड़ता है कि उनके काल तक किस विषय का कितना साहित्य पाया जाता था। उन्होंने भी स्वयं उसमें क्या सुधार किया, तथा ऐसा करने के लिये उनके पास आधार क्या था। जीवट्ठाण क्षेत्रानुयोगद्वार की धवला टीका में पृष्ठ १२ से लेकर लोक के आकार और परिमाण के विषय में उन्होंने इसी प्रकार के एक मतभेद का उल्लेख किया है जिससे प्रकृत तिलोयपण्णत्ति के रचनाकाल के निर्णय करने में पर्याप्त सहायता मिलती है।

उसे देखने से मालूम पड़ता है कि उनके काल तक उपमा लोक के प्रमाण से पांच द्रव्यों के आधारभूत लोक का प्रमाण भिन्न माना जाता था। उसकी पुष्टि राजवार्तिक से

[1] जैन साहित्य और इतिहास पृष्ठ ८।

भी होती है। वहां पहले अध्याय के २० वें सूत्र की टीका करते हुए पांच द्रव्यों के आधारभूत लोक का स्पष्ट निर्देश किया है। यथा—

'अधः लोकमूले दिग्विदिक्षु विष्कम्भः सप्त रज्जवः, तिर्यग्लोके रज्जुरेका, ब्रह्मलोके पंच पुनर्लोकाग्रे रज्जुरेका। मध्यलोकादधो रज्जुमवगाह्य शर्करान्ते अष्टास्वपि दिग्विदिक्षु विष्कम्भः रज्जुरेका रज्वाश्च षट् सप्तभागाः।' इत्यादि

अर्थ—दिशाओं और विदिशाओं में लोक का विस्तार नीचे लोक के मूल में सात राजु, तिर्यग्लोक में एक राजु, ब्रह्म लोक के अन्त में पांच राजु और लोकाग्र में एक राजु है। तथा मध्यलोक से नीचे एक राजु जाने पर शर्करा पृथिवी के अन्त में आठों ही दिशा और विदिशाओं में लोक का विस्तार एक राजु और एक राजु के सात भागों में से छह भाग प्रमाण है; आदि।

राजवार्तिक का यह उल्लेख इतना स्पष्ट है जिससे वर्तमानमें लोक को उत्तर और दक्षिण में जो सर्वत्र सात राजु मानते हैं तथा जिसकी वीरसेन स्वामी ने स्थापना की है उसका खण्डन तो हो ही जाता है साथ ही अन्य आचार्यों के द्वारा माने गये जिस लोक का वीरसेन स्वामी ने खण्डन किया है उसकी सिद्धि भी हो जाती है।

वीरसेन स्वामी ने जिस लोक की सिद्धि की है उससे राजवार्तिक में बताये गये लोक में निम्न प्रकार से अन्तर है—

वीरसेन स्वामी का बतलाया हुआ लोक अधोलोक के मूल में सात राजु तो है पर वह चारों दिशाओं में ही सात राजु है विदिशाओं में नहीं, इसलिये इसका आकार चौकोर हुआ। राजवार्तिक में बतलाया हुआ लोक भी अधोलोक के मूल में सात राजु है पर यह आठों दिशा और विदिशाओं में सात राजु है, अतः इसका आकार गोल हुआ। आगे वीरसेन स्वामी का बतलाया हुआ लोक पूर्व और पश्चिम दिशा में क्रम से घटकर मध्यलोक के पास एक राजु रह जाता है पर यह उत्तर और दक्षिण दिशा में नहीं घटता किन्तु उत्तर और दक्षिण दिशा में सर्वत्र सात राजु रहता है। किन्तु राजवार्तिक में बतलाया हुआ लोक आठों दिशा और विदिशाओं में घटता हुआ मध्यलोक के पास आठों दिशा और विदिशाओं में एक राजु रह जाता है। इसी प्रकार मध्यलोक से ऊर्ध्वलोक तक जानना चाहिये। इनमें से वीरसेन स्वामी के द्वारा बतलाये हुए लोक का घनफल ३४३ घनराजु होता है। फिर भी राजवार्तिककार ने इस पांच द्रव्यों के आधारभूत लोक का आकारमात्र दिया है उसका घनफल नहीं दिया।

यह तो राजवार्तिक में बतलाया गया पाँच द्रव्यों का आधारभूत लोक हुआ। आगे हम राजवार्तिक के आधार से उपमालोक का निर्देश करते हैं जो तीसरे अध्याय के ३८ वें सूत्र की व्याख्या में आठ उपमा प्रमाणों का वर्णन करते समय बतलाया है। वह उल्लेख इस प्रकार है—

'ततोऽसंख्येयान् खण्डानपनीयासंख्येयमेकं भागं बुद्ध्या विरलीकृत्य एकैकस्मिन् घनांगुलं दत्वा परस्परेण गुणिता जगच्छ्रेणी। सापरया जगच्छ्रेण्या अभ्यस्ता प्रतरलोकः। स एवापरया जगच्छ्रेण्या संवर्गितो घनलोकः।'

अर्थ—अद्धापल्य के असंख्यात खण्ड करे। उनमेंसे असंख्यात बहुभाग खण्ड अलग रख दे और असंख्यात एक भाग प्रमाण खण्डों का बुद्धि से विरलन कर के विरलित राशि के प्रत्येक एक एक पर घनांगुल को दे दे और उनका परस्पर में गुणा कर ले। इस प्रकार जो राशि उत्पन्न होगी उतना जगच्छ्रेणी का प्रमाण होता है। तथा इसका वर्ग जगप्रतर और घन घनलोक है।

चालु मान्यता के अनुसार जगश्रेणी का प्रमाण ७ राजु है अतः घनलोक का प्रमाण ३४३ घनराजु होगा। यह उपमालोक है। इसके द्वारा अन्य जीवादि पदार्थों की संख्या, वर्तमान निवास आदि जाना जाता है।

राजवार्तिक के उपर्युक्त दो उल्लेखों से यह बात भली भांति समझ में आ जाती है कि वीरसेन स्वामी के समय तक जैन आचार्य उपमा लोक से पांच द्रव्यों के आधारभूत लोक को भिन्न मानते थे।

श्वेताम्बर[1] परम्परा में उपमालोक का निर्देश हमारे देखने में नहीं आया। हां, पांच द्रव्यों के आधारभूत लोक का निर्देश सभी श्वेताम्बर साहित्य में किया है। वहां उसका आकार राजवार्तिक के समान बतलाया है। पर उसका घनफल ३४३ घनराजु बिठाने का प्रयत्न किया गया है।

अब प्रश्न यह उठता है कि वीरसेन स्वामी ने इन दोनों लोकों की मान्यताओं को अबाधित क्यों नहीं चलने दिया। उनके सामने ऐसी कौन सी कठिनाई आ खड़ी हुई जिसके कारण उन्होंने उपमालोक और पांच द्रव्यों के आधारभूत लोक को एक सिद्ध किया और उपमालोक के प्रमाण को मुख्यता दी।

यह हम ऊपर ही लिख आये हैं कि जीवादि पदार्थों की संख्या आदि का ज्ञान कराने के लिये उपमालोक का उपयोग किया जाता है। अब यदि पांच द्रव्यों के आधारभूत लोक को ऊपर बतलाये गये अनुसार उपमालोक के संख्यातवें भाग प्रमाण मान लेते हैं तो लोकपूरण समुद्घात को प्राप्त हुए केवली का क्षेत्र जो सब लोक बतलाया है वह नहीं बनता है क्योंकि यहां सब लोक का कथन उपमालोक से हुआ पर पांच द्रव्यों का आधार-

१ 'चउदसरज्जू लोओ बुद्धिकाओ हाइ सत्तरज्जुघणो।' पञ्चमकसंग्रन्थ, गा० ९७। 'चतुर्दश रज्ज्वोथस्य सचतुर्दशरज्जुः,×× उच्छ्रयमानमिदमस्य। अधस्ताद्देशोनसप्तरज्जुविस्तरः, तिर्यग्लोक-मध्ये एकरज्जुविस्तरः, ब्रह्मलोकमध्ये पञ्चरज्जुविस्तीर्णः, उपरि तु लोकान्ते एकरज्जुविस्तृतः शेषस्थानेषु पुनःकोऽपि कियानस्य विस्तर इति। तदेवंरूपो लोकः बुद्धिकृतः × × × सप्तरज्जु-घनः। स चेत्थं—' टीका।

भूतलोक उतना बड़ा है नहीं। वह तो उसके संख्यातवें भाग प्रमाण है। पर लोकपूरण समुद्घात को प्राप्त हुआ केवली पांच द्रव्यों के आधारभूत लोक के बाहर अपना आत्मप्रदेश फैला नहीं सकता है, क्योंकि आगे धर्मद्रव्य नहीं है। अतः पांच द्रव्यों के आधारभूत लोक को यदि उपमालोक के समान नहीं मानते हैं तो 'लोगपूरणगदो केवली केवडि खेत्ते? सव्वलोगे'[1] यह या इस प्रकार के और दूसरे आगम वचन निरर्थक हो जाते हैं। यह वह कठिनाई है जो वीरसेन स्वामी के सामने उपस्थित थी। इस कारण उन्होंने उक्त दोनों लोकों की मान्यताओं को आगे नहीं पनपने दिया तथा उपमालोक के प्रमाण को मुख्य माना।

वीरसेन स्वामी ने अपने इस मत की पुष्टि के लिये जिन प्राचीन दो गाथाओं का उल्लेख किया वे उनके मत से प्रतर समुद्घात को प्राप्त केवली के क्षेत्र की सिद्धि के लिये आयीं हैं। वे इस प्रकार हैं—

> 'मुहतलसमासअद्धं[2] वुस्सेधगुणं गुणं च वेधेण।
> घणगणिदं जाणेज्जो वेत्तासणसंठिए खेत्ते ॥१॥
> मूलं मज्झेण गुणं मुहसहिदद्धमुस्सेधकदिगुणिदं।
> घणगणिदं जाणेज्जो मुइंगसंठाणखेत्तम्मि ॥२॥'

अर्थ—'मुख और तल के प्रमाण को जोड़कर आधा करो। पुनः उसका उत्सेध से गुणा कर के मोटाई से गुणा करो। इस प्रकार वेत्रासन के आकारवाले अधोलोक का घनफल उत्पन्न होता है, जिसे जानो ॥१॥

मूल के प्रमाण को मध्यके प्रमाण में जोड़ो या मध्य के प्रमाण में मुख का प्रमाण जोड़ो पुनः इसे आधा कर के ऊँचाई के वर्ग से गुणा करो। ऐसा करने पर मृदंग के आकारवाले क्षेत्र का घनफल प्राप्त होता है, जिसे जानो ॥२॥

उपर्युक्त दो गाथाओं में जहां वेत्रासन और मृदंग संस्थानवाले लोक के घनफल के निकालने की विधि दी है वहां उससे लोक के आकार का भी परिज्ञान हो जाता है। इन दो गाथाओं से लोक के उसी आकार और प्रमाण की पुष्टि होती जिसकी वीरसेन स्वामी ने सिद्धि की है।

इस प्रकार इतने विवेचन से यह निश्चित हो जाता है कि वीरसेन स्वामी के सामने राजवार्तिक आदि में बतलाये गये आकार के विरुद्ध लोक के आकार के सिद्धि करने के लिये केवल उपर्युक्त दो गाथाएं ही थीं। इन्हीं के आधार से वे लोक के आकार को भिन्न प्रकार से सिद्ध कर सके तथा यह भी कहने में समर्थ हुए कि 'जिन[3] ग्रन्थों में

---

१ धवला क्षेत्रानुयोगद्वार पृ० १२।

२ धवला क्षेत्रानुयोगद्वार पृष्ठ २०।

३ 'ण च तइयाए गाहाए सह विरोहो, एत्थ वि दोसु दिसासु चउव्विहविक्खंभदंसणादो।' धवला क्षेत्रानुयोगद्वार पृ० २१।

लोक का प्रमाण अधोलोक के मूल में सात राजु, मध्यलोक के पास एक राजु, ब्रह्मस्वर्गके पास पांच राजु और लोकाग्र में एक राजु बतलाया है वह वहां पूर्व और पश्चिम दिशा की अपेक्षा से बतलाया है। उत्तर और दक्षिण दिशा की अपेक्षा से नहीं। इन दोनों दिशाओं की अपेक्षा तो लोक का प्रमाण सर्वत्र सात राजु है। यद्यपि इसका विधान[1] करणानुयोग के ग्रन्थों में नहीं है तो भी वहां निषेध भी नहीं है अतः लोक को उत्तर और दक्षिण में सर्वत्र सात राजु मानना चाहिये।'

अब यदि इतने वक्तव्य को सामने रखकर तिलोयपण्णत्ति के सामान्य लोकाधिकार का निरीक्षण करते हैं तो स्पष्ट मालूम हो जाता है कि इस अधिकार में सामान्यलोक, अधोलोक व ऊर्ध्वलोक के आकार और घनफल का जो विविध प्रक्रियाओं द्वारा निर्देश किया गया है वह स्पष्टतः वीरसेन स्वामी के सामने तिलोयपण्णत्ति के इस अंश के रहते हुए वे इसका प्रमाण रूप से उल्लेख नहीं करते यह कभी संभव नहीं था। वीरसेन स्वामी तिलोयपण्णत्ति से अपरिचित थे यह बात भी नहीं है उन्होंने अनेक स्थलों पर इसका[2] प्रमाण रूप से उल्लेख किया है। अतः जिस तिलोयपण्णत्ति का वीरसेन स्वामी उल्लेख कर रहे हैं वह वर्तमान तिलोयपण्णत्ति से भिन्न होनी चाहिये यह निश्चित होता है।

आगे हम वर्तमान तिलोयपण्णत्ति के वे उद्धरण दिये देते हैं जो वीरसेन स्वामी के मत का अनुसरण करते हैं—

'जगसेढिघणपमाणो[3] लोयायासो सपंचदव्वरिदी।
एस अणंताणंतलोयायासस्स बहुमज्झे ॥९१॥
सयलो एस य लोओ णिप्पण्णो सेढिविंदमाणेण।
तिवियप्पो णादव्वो हेट्ठिम मज्झिमउड्ढभेएण ॥१३६॥
सेढिपमाणायामं भागेसु दक्खिणुत्तरेसु पुढं।
पुव्वावरेसु वासं भूमिमुहे सत्त एक्क पंचेक्का ॥१४९॥'

अर्थ—'पांच द्रव्यों से व्याप्त यह लोकाकाश जगश्रेणी के घन प्रमाण है और अनन्तानन्त अलोकाकाश के मध्य में स्थित है ॥९१॥ यह सब लोक जगश्रेणी के घनप्रमाण है। तथा इसके अधोलोक, मध्यलोक और ऊर्ध्वलोक ये तीन भेद हैं ॥१३६॥ लोक का प्रमाण दक्षिण और उत्तर दिशा में सर्वत्र जगश्रेणी अर्थात् सात राजु है। तथा पूर्व और पश्चिम दिशा में अधोलोक के पास सात राजु, मध्यलोक के पास एक राजु, ब्रह्मकल्प के पास पांच राजु और लोकाग्रमें एक राजु है ॥१४९॥'

---

१ 'ण च सत्तरज्जुबाहल्लं करणाणिओगसुत्तविरुद्धं, तत्थविधिप्पडिसेधाभावादो।' धवला क्षेत्रानुयोगद्वार पृ० २२।

२ तिरियलोगोत्ति तिलोयपण्णत्तिसुत्तादो। धवला खंड ३, पृष्ठ ३६

३ तिलोयपण्णत्ति प्रथम अधिकार।

यहां हमने तिलोयपण्णत्ति का केवल वही उद्धरण दिया है जिसकी सिद्धि वीरसेन स्वामी 'मुहतलसमास' इत्यादि दो गाथाओं और युक्ति से कर रहे हैं। वैसा तो पहला महाधिकार सामान्य लोक, अधोलोक व ऊर्ध्वलोक के विविध प्रकार से निकाले गये घनफलों[1] से भरा पड़ा है जिससे वीरसेन स्वामी की मान्यता की ही पुष्टि होती है।

(२) तिलोयपण्णत्ति में पहले अधिकार की ७ वीं गाथा से लेकर ८७ वीं गाथा तक ८१ गाथाओं में मंगल आदि छह अधिकारों का वर्णन है। यह पूरा का पूरा वर्णन संतपरूवणा की धवला टीका में आये हुए वर्णन से मिलता हुआ है। ये छह अधिकार तिलोयपण्णत्ति में अन्यत्र से संग्रह किये गये हैं इस बात का उल्लेख स्वयं तिलोयपण्णत्तिकार ने पहले अधिकार की ८५ वीं गाथा[2] में किया है तथा धवला में इन छह अधिकारों का वर्णन करते समय जितनी गाथाएं या श्लोक उद्धृत किये गये हैं वे सब अन्यत्र से लिये गये हैं तिलोयपण्णत्ति से नहीं। इससे मालूम पड़ता है कि तिलोयपण्णत्तिकार के सामने धवला अवश्य रही है।

दोनों ग्रन्थों के कुछ समान उद्धरण निम्न प्रकार हैं—

'इहिणायमाइरियपरंपरागयं मणेणावहारिय पुव्वाइरियायाराणु सरणं तिरयणहेउत्ति × × । धवला संतपरूवणा पृ० ८।'

'इय णायं अवहारिय आइरियपरंपरागदं मणसा।
पुव्वाइरियायाराणुसरणं तिरयणणिमित्तं ॥८८॥' ति० प० १ अ०

प्रमाणनयनिक्षेपैर्योऽर्थो नाभिसमीक्ष्यते।
युक्तं चायुक्तवद्भाति तस्यायुक्तं च युक्तिवत् ॥' ध० सं० पृ० १६।

'जो ण[3] पयाणणएहिं णिक्खेवेण णिरक्खदे अत्थं।
तस्साजुत्तं जुत्तं जुत्तमजुत्तं च पडिहादि ॥८२॥' ति० प० १ अ०

'ज्ञानं[4] प्रमाणमित्याहुरुपायो न्यास उच्यते।
नयो ज्ञातुरभिप्रायो युक्तितोऽर्थपरिग्रहः ॥' ध० सं० पृ० १७

'णाणं होदि पमाणं णओ विणादुस्स हिदयभावत्थो।
णिक्खेओ विउवाओ जुत्तीए अत्थपडिगहणं ॥८३॥' ति० प० १ अ०

'मङ्गलस्यैकार्थमुच्यते—मङ्गलं पुण्यं पूतं पवित्रं प्रशस्तं शिवं शुभं कल्याणं भद्रं सौख्यमित्येवादीनि।' धवला सं० पृ० ३१।

---

१ देखो तिलोयपण्णत्ति के पहले अधिकार की २१५ से २५१ गाथा तक।

२ मंगल पहुदिच्छक्कं वक्खाणिय विविहगंथजुत्तीहि।

३ इसी प्रकार की एक गाथा विशेषावश्यकभाष्यमें आई है। यथा—
अत्थं जो ण समिक्खइ णिक्खेवणयप्पमाणओ विहिणा।
तस्साजुत्तं जुत्तं जुत्तमजुत्तं च पडिहाइ ॥२७६४॥

४ यह अकलंक के लघीयस्त्रय के छठें अध्याय का दूसरा श्लोक है।

'पुरणां पूद पवित्ता पसत्थ सिवभद्दखेमकल्याणा ।
सुहसोक्खादी सव्वे णिद्दिट्ठा मंगलस्स पज्जाया ॥८॥' ति० प० १ अ०
'मङ्गलस्य निरुक्तिरुच्यते—मलं गालयति विनाशयति दहति हन्ति
विशोधयति विध्वंसयतीति मङ्गलम् ।' धवला सं० पृ० ३२ ।
'गालयदि विणासयदे घादेदि दहेदि हंति सोधयदे ।
विद्धंसेदि मलाहं जम्हा तम्हा य मङ्गलं भणिदं ॥९॥' ति० प० १ अ०

इसी प्रकार के पचासों उद्धरण दिये जा सकते हैं जिनसे यह जाना जा सकता है कि एक ग्रन्थ लिखते समय दूसरा ग्रन्थ अवश्य सामने रहा है। यहां पाठक एक विशेषता और देखेंगे कि धवला में जो गाथा या श्लोक अन्यत्र से उद्धृत हैं तिलोयपण्णत्ति में वे भी मूल में शामिल कर लिये गये हैं। इससे तो यही ज्ञान होता है कि तिलोयपण्णत्ति लिखते समय लेखक के सामने धवला अवश्य रही है।

(३) लघीयस्त्रय आदि अनेक ग्रन्थों के कर्त्ता भट्टाकलंक देव आठवीं शताब्दी के प्रसिद्ध तार्किक विद्वान् हैं। इनके बनाये हुए तत्वार्थभाष्य का उल्लेख वीरसेन स्वामी ने धवला[1] टीका में अनेक जगह किया है। 'ज्ञानं प्रमाणमात्मादेः' इत्यादि श्लोक इनकी मौलिक कृति है जो लघीयस्त्रय के छटें अध्याय में आया है। तिलोयपण्णत्तिकार ने इसे भी नहीं छोड़ा। लघीयस्त्रय में जहां यह श्लोक आया है वहां से इसके अलग कर देने पर प्रकरण ही अधूरा रह जाता है। पर तिलोयपण्णत्ति में इसके परिवर्तित रूप की स्थिति ऐसे स्थल पर है कि यदि वहां से उसे अलग भी कर दिया जाय तो भी प्रकरण की एक रूपता बनी रहती है। वीरसेन स्वामी ने धवला में उक्त श्लोक को उद्धृत किया है। तिलोयपण्णत्ति को देखने से ऐसा मालूम होता है कि तिलोयपण्णत्तिकार ने इसे लघीयस्त्रय से न लेकर धवला से ही लिया है, क्योंकि धवला में इसके साथ जो एक दूसरा श्लोक उद्धृत है उसे भी उसी क्रम से तिलोयपण्णत्तिकार ने अपना लिया है। इससे भी यही प्रतीत होता है कि तिलोयपण्णत्ति की रचना धवला के बाद हुई है।

(४) धवला द्रव्यप्रमाणानुयोग द्वार के पृष्ठ ३६ में तिलोयपण्णत्ति का एक गाथांश उद्धृत किया है। जो निम्न प्रकार है—

'दुगुणदुगुणो दुवग्गो णिरंतरो तिरियलोगो' त्ति ।

वर्त्तमान तिलोयपण्णति में इसकी पर्याप्त खोज की, किन्तु उसमें यह नहीं मिला। हां, इस प्रकार की एक गाथा स्पर्शनानुयोगद्वार में वीरसेन स्वामी ने अवश्य उद्धृत की है; जो इस प्रकार है—

'चंदाइच्चगहेहिं चेवं णक्खत्ततारुरूवेहिं ।
दुगुणदुगुणेहिं णीरंतरेहि दुवग्गो तिरियलोगो ।'

---

1 देखो धवला संतपरूवणा पृष्ठ १०३ ।

किन्तु वहां यह नहीं बतलाया कि यह कहां की है। मालूम पड़ता है कि इसी का उपर्युक्त गाथांश परिवर्तित रूप है। यदि यह अनुमान ठीक हो तो कहना होगा कि तिलोयपण्णत्ति में पूरी गाथा इस प्रकार रही होगी। जो कुछ भी हो, पर इतना सच है कि वर्तमान तिलोयपण्णत्ति में इसका न पाया जाना यह सिद्ध करता है कि यह तिलोयपण्णत्ति उससे भिन्न है।

(५) यह हम ऊपर ही बतला आये हैं कि तिलोयपण्णत्ति में यत्र तत्र गद्य भाग भी पाया जाता है। इसका बहुत कुछ अंश धवला[1] में आये हुए इस विषय के गद्य भाग से मिलता हुआ है। अतः यह शंका होना स्वभाविक है कि इस गद्य भाग का पूर्ववर्ती लेखक कौन रहा होगा। इस शंका के दूर करने के लिये हम एक ऐसा गद्यांश उपस्थित करते हैं जिससे इसका निर्णय करने में बड़ी सहायता मिलती है। वह इस प्रकार है—

'एसा तप्पाओग्गसंखेज्जरूवाहियजंबूदीवछेदणयसहिददीवसायररूपमेत्तरज्जुच्छेदपमाणपरिक्खाविहीण अण्णाइरिओवएसपरंपराणुसारिणी केवलं तु तिलोयपण्णत्ति सुत्ताणुसारिजोदिसियदेवभागहारपदुप्पाइदसुत्तावलंबिजुत्तिबलेण पयदगच्छसाहणट्ठमम्हेहि परूविदा।'

यह गद्यांश धवला स्पर्शनानुयोगद्वार पृ० १५७ का है। तिलोयपण्णत्ति में यह इसी प्रकार पाया जाता है। अन्तर केवल इतना है कि वहां 'अम्हेहि' के स्थान में 'एसा परूवणा' पाठ है। पर विचार करने से यह पाठ अशुद्ध प्रतीत होता है, क्योंकि 'एसा' पद गद्य के प्रारम्भ में ही आया है अतः पुनः उसी पद के देने की आवश्यकता नहीं रहती। तथा 'परिक्खाविही' यह पद विशेष्य है; अतः 'परूवणा' पद भी निष्फल हो जाता है।

इस गद्यांश का यह भाव है—

'द्वीप और समुद्रों की संख्या में एक अधिक जम्बू द्वीप के अर्धच्छेद मिलाने पर जितनी संख्या आवे उससे तद्योग्य संख्यात अधिक राजु के अर्धच्छेद होते हैं। इस प्रकार की परीक्षा विधि यद्यपि अन्य आचार्यों के उपदेशपरम्परा का अनुसरण नहीं करती फिर भी हमने केवल ज्योतिषी देवों का भागहार बतानेवाले सूत्र का अवलम्बन करनेवाली युक्ति के बल से प्रकृत गच्छ के सिद्ध करने के लिये उसका कथन किया है। जो सूत्र का अनुसरण करनेवाली युक्ति तिलोयपण्णत्ति सूत्र के अनुसार दी गई है।'

इस गद्य भाग से यह स्पष्ट हो जाता है कि उक्त गद्य भाग में एक राजु के जितने अर्धच्छेद बतलाये हैं वे तिलोयपण्णत्ति में नहीं बतलाये गये हैं किन्तु तिलोयपण्णत्ति में जो ज्योतिषी देवों के भागहार का कथन करनेवाला सूत्र है उसके बल से सिद्ध किये गये हैं। अब यदि यह गद्य भाग तिलोयपण्णत्ति का होता तो उसी में 'तिलोयपण्णत्तिसुत्ताणुसारि'

1 धवला खेत्रानुयोगद्वार पृ० २१ और तिलोयपण्णत्ति प्रथम अधिकार पृ० ४३ का 'संपहि लोगपेरंतट्ठिदवादवलय' इत्यादि गद्यभाग मिलाओ। प्रायः तिलोयपण्णत्ति के अधिकांश गद्य भागों की यही स्थिति है।

पद देने की और उसी के किसी एक सूत्र के बल पर राजु के चालू मान्यता से संख्यात अधिक अर्धच्छेद सिद्ध करने की क्या आवश्यकता थी। इससे स्पष्ट मालूम पड़ता है कि यह गद्य भाग धवला से तिलोयपरणत्ति में लिया गया है। नहीं तो वीरसेन स्वामी जोर देकर 'हमने यह परीक्षाविधि कही है' यह न कहते। कोई भी मनुष्य अपनी युक्ति को ही अपनी कहता है। उक्त गद्य भाग में आया हुआ 'अम्हेहि' पद साफ बतला रहा है कि यह युक्ति वीरसेन स्वामी की है। इस प्रकार इस गद्य भाग मे भी यही सिद्ध होता है कि वर्तमान तिलोयपरणत्ति की रचना धवला के अनन्तर हुई है। तथा जैसा कि हम ऊपर बतला आये हैं कि वीरसेन स्वामी के सामने एक तिलोयपरणत्ति थी। इस गद्य भाग से भी उसकी पुष्टि होती है। दूसरे वर्तमान तिलोयपरणत्ति में उक्त गद्य भाग को सम्मिलित करते समय जिस प्रकार 'अम्हेहि' पद को बदल दिया उस प्रकार 'तिलोयपरणत्ति सुत्ताणुसारि' पद को नहीं बदला। इससे भी यही सिद्ध होता है कि जिसने वर्तमान तिलोयपरणत्ति का संग्रह किया है उसके सामने एक अन्य तिलोयपरणत्ति थी या उसे दूसरी तिलोयपरणत्ति के रहने का निश्चय था।

इस प्रकार हमने पांच मुख्य प्रमाण उपस्थित किये हैं जिनसे यह भली भांति सिद्ध हो जाता है कि वर्तमान तिलोयपरणत्ति का संग्रह धवला के अनन्तर हुआ है। धवला के अन्त में एक प्रशस्ति[1] दी है जिसमे ज्ञात होता है कि धवला की समाप्ति शक ७३८ में हुई थी। इससे हम वर्तमान तिलोयपरणत्ति के रचे जाने की पूर्वावधि तो जान लेते हैं। अब उत्तरावधि जानना शेष है।

दिगम्बर सम्प्रदाय में त्रिलोकसार का खूब प्रचार है। इसके रचयिता नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती हैं। ये शक सम्वत्[2] ९०० के लगभग हुए हैं। इन्होंने अपना त्रिलोकसार इसी तिलोयपरणत्ति के आधार से रचा है यह दोनों ग्रन्थों के देखने से अच्छी तरह ज्ञात हो जाता है। फिर भी हम दोनों ग्रन्थों की कुछ ऐसी गाथाएं उपस्थित किये देते हैं जिनसे यह जाना जा सके कि त्रिलोकसार की रचना करते समय सामने तिलोयपरणत्ति अवश्य रही है। यथा—

'जगसेढिघणपमाणो लोयायामो सपंचदव्व ठिदी।
एम अणंताणंतलोयायासस्स बहुमज्झे ॥' ति० प० गा० ९१।
'सव्वागासमणंतं तस्स य बहुमज्झदेसभागम्हि।
लोगोसंखपदेसो जगसेढिघणप्पमाणो हु ॥' त्रि० सा० पृ० ४।
'अट्ठविहं सव्वजगं सामण्णं तह य दोण्णि चउरस्सं।
जवमुरअं जवमज्झं मंदरदूसाइ गिरिगडयं ॥' ति० प० गा० २१५ अ० १।

१ देखो धवला प्रथम भाग भूमिका पृष्ठ ४२।
२ देखो जैनसाहित्य और इतिहास में 'चामुण्डराय और उनके समकालीन आचार्य' शीर्षक लेख।

'सामण्णं दो आयद जवमुर जवमज्झ मंदरं दूसं ।
गिरिगडगेण वि जाणह अट्ठवियप्पो अधोलोगो ॥' त्रि० सा० गा० ११५
'बत्तीसट्ठावीसं चउवीसं वीस सोलसट्ठं च ।
हेट्ठिमछप्पुढवीणं बहलत्तं जोयणसहस्सा ॥' ति० प० गा० २२, अ० २ ।
'बत्तीसमट्ठवीसं चउवीसं वीस सोलसट्ठाणि ।
हेट्ठिमछप्पुढवीणं सहस्समाणेहि बाहुल्लियं ॥' त्रि० सा० गा० १४६।
'तीसं पणवीसं च य पण्णरसं दस तिण्णि होंति लक्खाणि ।
पणरहिदेक्कं लक्खं पंच य रयणाइपुढवीणं ॥' ति० प० गा० २७, अ० २
'तीसं पणुवीसं पण्णरसं दस तिण्णि पंचहीणेक्कं ।
लक्खं सुद्धं पंच य पुढवीसु कमेण णिरयाणि ॥' त्रि० सा० गा० १५१।
'सत्तमखिदिबहुमज्झे बिलाणि सेसेसु अप्पबहुलत्तं ।
उवरिं हेट्ठे जोयणसहस्समुज्झिय हवंति पडलकमे ॥' ति०प०गा०२८, अ०२।
'सत्तमखिदिबहुमज्झे बिलाणिसेसासु अप्पबहुलोत्ति ।
हेट्ठुवरिं च सहस्सं वज्जिय पडलक्कमे होंति ॥' त्रि० सा० गा० १५०।

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से यह ज्ञात तो हो जाता है कि शक सम्वत् ७३८ से लेकर ९०० के मध्य में वर्तमान तिलोयपण्णत्ति की रचना हुई है। फिर भी यह जानना शेष है कि इसके संकलन करनेवाले कौन हैं और उन्होंने इस भूमण्डल को इस काल के मध्य में कब सुशोभित किया। अतः इसीका विचार करते हैं।

(३) कर्त्ताविचार—

यद्यपि तिलोयपण्णत्ति के अन्त में कोई प्रशस्ति नहीं दी है और न प्रत्येक अधिकार के अन्त में अधिकार की समप्ति के सूचक वाक्यों में ही कर्त्ता का निर्देश किया है फिर भी इसके अन्त में एक गाथा आई है जिससे इसके कर्ता और रचनाकाल के निश्चय करने में बहुत कुछ सहायता मिलती है। गाथा इस प्रकार है—

पणमह जिणवरवसहं गणहरवसहं तहेव गुणवसहं ।
दट्ठूण परिस (अरिस) वसहं जदिवसहं धम्मसुत्तपाठए वसहं ॥

अर्थ—आर्ष ग्रन्थों में श्रेष्ठ ऐसे अमुक आर्षग्रन्थ को देखकर जिनवरों में श्रेष्ठ ऐसे भगवान् महावीर को, गणधरों में श्रेष्ठ ऐसे गौतम गणधर को तथा गुणों में श्रेष्ठ और धर्मसूत्र के पाठकों में प्रमुख ऐसे यतिवृषभ आचार्य को तुम नमस्कार करो।

इस गाथा में तीन को नमस्कार किया है। भगवान् महावीर इस काल के अन्तिम तीर्थंकर हैं और गौतम उनके प्रधान गणधर हैं। जो श्रुत आचार्य परंपरा से प्रवाहित होता चला आ रहा है उसके जनक और प्रवर्तक ये ही दो महापुरुष हैं अतः प्रारम्भ में

इन दो को नमस्कार किया यह तो युक्त है पर आचार्यों में खास कर यतिवृषभ आचार्य को नमस्कार क्यों किया यह विचारणीय है।

अन्य विद्वानों का अनुमान है कि यहां 'जइवसह' पद श्लेषरूप में आया है अतः इस पद के द्वारा ग्रन्थकार ने अपने नाम का निर्देश किया है। और इस प्रकार वे वर्तमान तिलोयपण्णत्ति के कर्ता उन्हीं यतिवृषभ को मानते हैं जिन्होंने कसायपाहुड पर चूर्णिसूत्र लिखे। अतः हम यहां तिलोयपण्णत्ति के सिवाय अन्य प्रमाणों के आधार से उन्हीं के विषय में पहले विचार कर लेते हैं, क्योंकि ऐसा किये बिना न तो आचार्य यतिवृषभ के समय का ही ठीक तरह से निर्णय हो पाता है और न तिलोयपण्णत्ति के कर्त्ता और और समय का भी।

वीरसेन स्वामी ने जयधवला के प्रारम्भ में आचार्य यतिवृषभ का निम्न शब्दों द्वारा स्मरण किया है—

'जो अज्जमंखुसीसो अंतेवासी विणागहत्थिस्स।
सो वित्तिसुत्तकत्ता जइवसहो मे वरं देऊ ॥८॥

'अर्थात्—जो आर्यमंक्षु आचार्य के शिष्य हैं और नागहस्ति आचार्य के अन्तेवासी हैं वृत्तिसूत्रके कर्ता वे यतिवृषभ मुझे वर प्रदान करें।८।'

इससे स्पष्ट हो जाता है कि वीरसेन स्वामी के मत से यतिवृषभ आचार्य आर्यमंक्षु के शिष्य और नागहस्ति के अन्तेवासी रहे हैं। वीरसेन स्वामी ने इस विषय में इससे अधिक और कोई उल्लेख नहीं किया है। अन्यत्र भी हमें इस विषय की कोई महत्त्व की सामग्री नहीं प्राप्त हुई। हां, श्वेताम्बर परंपरा में कुछ ऐसी पट्टावलियां हैं जिनसे आर्यमंक्षु और नागहस्ति के समय और क्रम पर प्रकाश पड़ता है। उनमें नन्दिसूत्र की पट्टावली मुख्य है। वहां लिखा है—

'भणगं करगं झरगं पभावगं णाणदंसणगुणाणं।
वंदामि अज्जमंगुं सुयसागरपारगं धीरं ॥२८॥

अर्थ—'सूत्रों का कथन करने वाले, सूत्रानुसार आचार का पालन करने वाले, ध्यानी, ज्ञान और दर्शन गुणों के प्रभावक तथा श्रुत सागर के पारगामी और धीर आर्यमंगु को नमस्कार करता हूं।

इसके बाद आर्यनन्दलका उल्लेख करके नागहस्ती के विषय में लिखा है—

वड्ढउ वायगवंसो जसवंसो अज्जणागहत्थीणं।
वागरण करणभंगिय कम्मपयडीपहाणाणं।३०।'

अर्थ—जो व्याकरण, करण और चतुर्भंगी के प्रतिपादक शास्त्र और कर्म प्रकृति के ज्ञाताओं में प्रधान हैं ऐसे आर्य नागहस्ति का यशस्वी वाचक वंश वृद्धि को प्राप्त हो।

नन्दिसूत्र के इन उल्लेखों से स्पष्ट हो जाता है कि आर्यमंगु के शिष्य आर्यनन्दिल और आर्यनन्दिल के शिष्य नागहस्ती थे। इनमें आर्यमंगु को सूत्रों का व्याख्याता और नागहस्ति को कर्म प्रकृति का ज्ञाता भी बतलाया है अतः अधिक सम्भव तो यही है कि वीरसेन स्वामी ने धवला और जयधवला में जिन आर्यमंक्षु और नागहस्ति का उल्लेख किया है वे ये ही दोनों महापुरुष हैं। तथा यतिवृषभ स्थविर इन्हीं के शिष्य और अन्तेवासी रहे होंगे। साधारणतः इनका काल वीर नि० सम्वत् ४५० से ६०० के लगभग माना गया है, अतः यतिवृषभ स्थविर श० स० ४०० के विद्वान् न होकर वीरनिर्वाण सम्वत् ४५० से ६०० के मध्य के विद्वान् होना चाहिये।

यहां यह तो कहा ही नहीं जा सकता कि तिलोयपण्णत्ति में जो १००० वर्ष तक की राज्यकाल गणना दी है उसका क्या होगा, क्योंकि हम तिलोयपण्णत्ति के रचनाकाल का विचार करते समय यह सिद्ध कर आये हैं कि यह ग्रन्थ श० सं० ७३८ से लेकर ९०० तक के मध्य में कभी संकलित किया गया है, अतः इसके कर्ता यतिवृषभ किसी भी हालत में नहीं हो सकते।

हां, यहां एक प्रश्न यह उपस्थित किया जा सकता है कि धवला और जयधवला में वीर नि० से ६८३ वर्ष तक की अंगपूर्वधारियों की पट्टावलि दी है अतः गुणधर और धरसेन आचार्यों का इसके बाद होना ही सम्भव है। पर मेरा ख्याल है कि जो श्रुत धरसेन और गुणधर आचार्य को प्राप्त हुआ वह गौतम गणधर से लेकर किस क्रम से प्रवाहित हुआ इस बात का ज्ञान कराने के लिये तथा इन आचार्यों को प्राप्त हुए श्रुत में प्रमाणिकता का निश्चय कराने के लिये वहां वे पट्टावलियां दी गई हैं। पट्टावलियों के मध्य में आ० गुणधर और धरसेन के नाम का उल्लेख करना सम्भव था क्योंकि पट्टधर आचार्यों में उनका समावेश नहीं होता है। अतः उनके अन्त में इनका नामोल्लेख किया गया है। इसलिये ६८३ वर्ष की मर्यादा को छोड़कर ही इनके समय का निर्णय करना युक्त होगा।

इस समय आचार्य यतिवृषभ के रचे गये साहित्य में से कसायपाहुड पर लिखे गये चूर्णिसूत्र उपलब्ध हैं। उनमें उपशामना के भेद बतलाते हुए वे लिखते हैं—

'उवसामणा दुविहा करणोवसामणा अकरणोवसामणा च। जा सा अकरणोवसामणा तिस्से दुवे णामधेयाणि अकरणोवसामणा त्ति वि अणुदिण्णोवसामणा त्ति वि। एसा कम्मपवादे। जा सा करणोवसामणा सा दुविहा दे सकरणोवसामणा त्ति वि सव्वकरणोवसामणा त्ति वि। देसकरणोवसामणाए दुवे णामाणि देसकरणोवसामणा त्ति वि अप्पसत्थउवसामणा त्ति वि। एसा कम्मपयडीसु।

अर्थात्—'उपशामना के दो भेद हैं करणोपशामना और अकरणोपशामना। अकरणोपशामना के दो नाम हैं अकरणोपशामना और अनुदीर्णोपशामना। इसका कथन कर्मप्रवाद में

किया है। तथा करणोपशामना के दो भेद हैं देशकरणोपशामना और सर्व करणोपशामना। इनमें से देशकरणोपशामना के दो नाम हैं देशकरणोपशामना और * अप्रशस्त उपशामना। इसका कथन कर्म प्रकृति में किया है।'

यहां यतिवृषभ आचार्य स्पष्टतः निर्देश कर रहे हैं कि अकरणोपशामना का कथन कर्मप्रवाद में और देशकरणोपशामना का कथन कर्मप्रकृति में किया है। कर्मप्रवाद दूसरे पूर्वका नाम है और कर्मप्रकृति अग्रायणीय पूर्व का एक अवान्तर पाहुड है। यतिवृषभ आचार्य के इस उल्लेख से मालूम होता है कि वे उस समय इस भूमण्डल को सुशोभित कर रहे थे जब कर्मप्रवाद और कर्मप्रकृति का लोप नहीं हुआ था क्योंकि विषय भेद की सूचना पूर्वक पृथक् पृथक् ग्रन्थ का नामनिर्देश करना तभी सम्भव है जब इन ग्रन्थों का अवलोकन किया गया हो। यद्यपि उत्तरवर्ती बहुत से आचार्य इस प्रकार का निर्देश करते हुए पाये जाते हैं पर उनका यह अनुसरण मात्र है। किन्तु यतिवृषभ आचार्य की स्थिति इससे बहुत कुछ भिन्न है। वे उस समय के विद्वान् हैं जब जैन वाङ्मय को स्वतन्त्र पुस्तकारूढ़ करने का उपक्रम ही किया जा रहा था। अतः उनके द्वारा इस प्रकार का उल्लेख करना विशेष अर्थ रखता है। धवला आदि में जो ६८३ वर्ष की अंगपूर्वधारियों की पट्टावली पाई जाती है उसमें पूर्वधारियों का अस्तित्व काल वीर० नि० सं० के प्रारम्भ से लेकर ३३५ वर्ष तक माना है। तथा पहले हम यतिवृषभ आचार्य का काल ४५० से ६०० तक के भीतर लिख आये हैं। इस तरह पूर्वधारियों के काल से यतिवृषभ के काल तक मध्यका अन्तर ११५ वर्ष होता है, अतः बहुत सम्भव है कि परिपाटी क्रम से न भी सही तो भी यतिवृषभ आचार्य के काल तक पूर्व ज्ञानियों का परम्परा चालू रही होगी। और इस प्रकार यतिवृषभ स्थविरको भी उक्त पूर्व साहित्य जानकारों से सीधा सम्पर्क रहा होगा। यदि हमारा यह तर्क सच हो जिसके सच होने की बहुत कुछ सम्भावना है तो इससे भी यही सिद्ध होता है कि आचार्य यतिवृषभ उस समय के विद्वान् होने चाहिये जब पूर्वधारियों की त्रुटित परम्परा इस धरातल पर चालू थी।

इस प्रकार जब कि यतिवृषभ स्थविर का अस्तित्वकाल वी० नि० सं० ४५० से ६०० तक के बीच का निश्चित होता है तो वे वर्तमान तिलोयपण्णत्ति के कर्ता किसी भी हालत में नहीं हो सकते, क्योंकि इसका रचनाकाल, जैसा कि हम पहले बतला आये हैं, श० सं० ७३८ के बाद का ही निश्चित होता है।

अब हमें यह देखना है कि यदि इस तिलोयपण्णत्ति के कर्ता आचार्य यतिवृषभ नहीं हैं तो इसके अन्त में आई हुई जिस गाथा का उल्लेख हम पहले कर आये हैं उसमें यतिवृषभ आचर्य को नमस्कार क्यों किया गया है। इससे तो यही पता चलता है कि उनका इस ग्रन्थ के साथ साक्षात् या परम्परा रूप से किसी न किसी प्रकार का सम्बन्ध अवश्य होना चाहिये। किन्तु इस बात का विचार करने के पहले हम यह बतला देना

चाहते हैं कि थोड़े से परिवर्तन के साथ इसी प्रकार की एक गाथा जयधवला के सम्यक्त्व अनुयोगद्वार के आदि में भी आई है। जो इस प्रकार है— .

'पणमह जिणवरवसहं गणहरवसहं तहेव गुणहरवसहं।
दुसहपरीसह विसहं जइवसहं धम्मसुत्तपाढरवसहं ॥'

अर्थात्—'जिनवरों में श्रेष्ठ ऐसे भगवान् महावीर को, गणधरों में श्रेष्ठ ऐसे गौतम गणधर को, ऋषियों में श्रेष्ठ ऐसे गुणधर आचार्य को तथा कठिन परीषहों को जीतनेवाले और धर्मसूत्रों के पाठकों में श्रेष्ठ ऐसे यतिवृषभ स्थविर को नमस्कार करो।

कसायपाहुड और उस पर लिखे गये चूर्णिसूत्रों के अन्तिम अनुयोगद्वारों के टीकाकार जिनसेन स्वामी हैं। अतः यह मान लेने में कोई आपत्ति नहीं दिखाई देती कि इस मंगल गाथा के रचयिता भी वे ही होंगे। उन्होंने इसमें चार को नमस्कार किया है। यहां इन चारों को ही नमस्कार करने का कारण स्पष्ट है। मेरा राय में इस गाथा की और तिलोयपण्णत्ति के अन्त में आई हुई गाथा की स्थिति समान है। अतः हम इस निदान से इतना तो जान ही लेते हैं कि इस तिलोयपण्णत्ति से यतिवृषभ स्थविर का कुछ न कुछ सम्बन्ध अवश्य है किन्तु वह किस प्रकार है यह जानना फिर भी शेष है।

यह तो हम पहले ही बतला आये हैं कि वीरसेन स्वामी के सामने एक तिलोयपण्णत्ती थी जिसका उन्होंने अनेक जगह उल्लेख किया है। साथ ही यह भी बतला आये हैं कि वर्तमान तिलोयपण्णत्ति में भी इससे भिन्न एक तिलोयपण्णत्ति का अस्तित्व स्वीकार किया गया है। अतः बहुत कुछ सम्भव तो यही है कि इसके रचयिता यतिवृषभ आचार्य रहे हों। और वर्तमान तिलोयपण्णत्ति के संकलयिताने अन्तिम मंगलगाथा द्वारा इसी बात को स्वीकार किया हो। सम्यक्त्व अनुयोगद्वार की गाथा से तिलोयपण्णत्ति के अन्त में आई हुई गाथा में जो मौलिक परिवर्तन दिखाई देता है वह कुछ अर्थ अवश्य रखता है।

सम्यक्त्व अनुयोगद्वार की गाथा में 'गुणहरवसहं' पाठ है जब कि तिलोयपण्णत्ति की गाथा म उसके स्थान में 'गुणवसहं' पाठ पाया जाता है। इसी प्रकार सम्यक्त्व अनुयोगद्वार की गाथा में तीसरा चरण 'दुसहपरीसहविसहं' है जब कि तिलोयपण्णत्ति की गाथा में उसके स्थान में 'दट्ठूण परिसरअरिसो वसहं' पाठ पाया जाता है।

यह तो हम पहले ही बतला आये हैं कि कसायपाहुड के एक अधिकार का नाम सम्यक्त्व अनुयोगद्वार है। तथा कसायपाहुड के कर्ता गुणधर आचार्य और उस पर चूर्णिसूत्र के रचयिहता यतिवृषभ आचार्य हैं। इसी सबब से जिनसेन आचार्य ने सम्यक्त्व अनुयोगद्वार के आदि में मंगल करते हुए गुणधर और यतिवृषभ का भी स्मरण किया है। मालूम होता है कि इसी प्रकार जिस तिलोयपण्णत्तिसुत्त की सूचना वीरसेन स्वामी ने अपनी धवला टीका में की है उसके कर्ता यतिवृषभ आचार्य हों और वर्तमान तिलोयपण्णत्ति की रचना में वह मूल आधार रही हो, इसी बात का ज्ञान कराने के लिये वर्तमान

तिलोयपण्णत्ति में इन दोनों का स्मरण किया गया होगा। यद्यपि तिलोयपण्णत्ति की लिखित प्रतियों में 'परिमि' या 'परिस' पाठ पाया जाता है। पर हमने 'दट्ठूण' पद को ध्यान में रख कर 'अरिसवसहं' पाठ सुझाया है। इसका अर्थ 'आर्ष ग्रन्थों में श्रेष्ठ' होता है। हमारा अनुमान है कि इस पद के द्वारा पूर्ववर्ती तिलोयपण्णत्ति की सूचना की गई है।

इस प्रकार तिलोयपण्णत्ति के अन्त में आई हुई मंगल गाथा से हमें दो बातों की सूचना मिलती है। पहली यह कि वर्तमान तिलोयपण्णत्ति के पहले एक आर्ष ग्रन्थ था जिसे देख कर इसकी रचना की गई है और दूसरी यह कि उसके कर्ता यतिवृषभ स्थविर थे।

अब हमें दो बातों का और विचार करना है। पहली यह कि यदि वर्तमान तिलोयपण्णत्ति के पहले एक दूसरी तिलोयपण्णत्ति थी तो इसका संकलन क्यों किया गया। और दूसरी यह कि इसका संकलन करनेवाला कौन है—

इनमें से पहली बात के सम्बन्ध में हमारा निम्न वक्तव्य है—

जैन परम्परा में समस्त द्वादशांग और उसके अनुसार रचे गये अन्य प्रकीर्णक ग्रन्थों को श्रुत[१] कहते हैं। मेरे ख्याल से इस अर्थ में प्रयुक्त हुए श्रुत शब्द का ऐतिहासिक महत्त्व है। बात यह है कि पहले सुनकर याद रखने की परिपाटी थी। जो भगवान् महावीर के पश्चात् दिगम्बर मान्यतानुसार ६८३ वर्ष तक चली। इसके पश्चात् वह प्रायः लुप्त हो गई। इसका यह कारण प्रतीत होता है कि जिस प्रकार वैदिक परम्परा में अध्ययन और अध्यापन के लिये स्वतन्त्र रूप से एक वर्ग का ही निर्माण कर दिया गया था। जैन परम्परा में वह बात न थी। किन्तु यहां श्रावक[२] के दान और पूजा ये दो ही काम मुख्य माने जाते थे। यद्यपि जैन परम्परा में यह काम साधुओं को सौंपा गया था पर साधुओं के मुख्य काम संयम, ध्यान और तप रहे, अतः उनमें भी इसे गौण स्थान ही प्राप्त हुआ। परिणाम यह हुआ कि समस्त जैन वाङ्मय लुप्त होने लगा। यद्यपि इसके पहले ऋषियों का इधर ध्यान गया पर बहुत ही कम। यही सबब है कि हम अपनी पट्टावलियों में ग्रन्थ निर्माण और उनके पुस्तकारूढ़ होने का वृतान्त ६८३ वर्ष के बाद का ही पाते हैं। यद्यपि ६८३ वर्ष के भीतर भी ग्रन्थ निर्माण और उनके पुस्तकारूढ़ होने का क्रम चालू हो गया था पर वह नहीं के बराबर था। यह भी सम्भव है कि ६८३ वर्ष के भीतर इस परिपाटी को अनुचित माना जाता रहा होगा। अतः भगवान् महावीर ने जिसे अपनी दिव्यध्वनि में कहा और गौतम गणधर ने जिसे निबद्ध किया उसका उत्तरोत्तर ह्रास तो होता ही गया साथ ही वक्ताओं और श्रोताओं के स्मृति दोष से तथा अन्य कारणों से

१ श्रुतं द्व्यनेकद्वादशभेदम्। तत्त्वार्थसूत्र अ० १, सूत्र २०।

१ देखो जयधवला पृष्ठ ८३।

२ 'दाणं पूजा मुक्खं सावयधम्मेण सावया तेण विणा।' रयणसार।

उसमें विकार भी आता गया। तथा इसी विकार ने आगे चलकर मान्यता भेद का स्थान ग्रहण किया। इन मान्यताओं में कुछ ऐसी मान्यताएं भी रूढ़ हो गईं जिनका मूल साहित्य के साथ उसी रूप में मेल बिठाना कठिन हो गया। वीरसेन स्वामी ने अपनी धवला टीका में लोक के आकार सम्बन्धी जिस मान्यता का खण्डन किया है वह इसी प्रकार की एक मान्यता थी। बहुत कुछ सम्भव है कि इस कारण से या इसी प्रकार के और दूसरे कारणों से वीरसेन स्वामी के सामने एक अन्य तिलोयपण्णत्ति के संकलन करने का विचार चला होगा। हमें वर्तमान तिलोयपण्णत्ति के संकलन करने का यही कारण प्रतीत होता है।

अब हम वर्तमान तिलोयपण्णत्ति का संकलन किसने किया होगा इसका विचार करते हैं—

यह तो हम पहले ही लिख आये हैं कि तिलोयपण्णत्ति का संकलन शक सं० ७३८ से लेकर शक सं० ९०० के मध्य में हुआ है। साथ ही यह भी बतला आये हैं कि नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती ने शक सं० ९०० के आसपास इसी के आधार से अपने त्रिलोकसार की रचना की। ये वे ही नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती हैं जिन्होंने धवला आदि सिद्धान्त ग्रन्थों के आधार पर जीवकाण्ड, कर्मकाण्ड और लब्धिसार-क्षपणासार की रचना की है। इससे ज्ञात तो यही होता है कि इन्हें सिद्धान्त ग्रन्थों के साथ तिलोयपण्णत्ति भी वारिस में मिली होगी। अतः नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती के समय में होने वाले अन्य आचार्यों ने इसका संकलन किया होगा यह तो सम्भव नहीं। हां, यह अधिक सम्भव है कि इसका संकलन धवला और जयधवला की रचना होते समय या उसके कुछ काल बाद ही हो गया होगा। इसलिये हमें इसके संकलन कर्ता का विचार करते समय वीरसेन स्वामी और जिनसेन स्वामी को केन्द्र मान कर ही विचार करना चाहिये।

यद्यपि धवला टीका का कुछ गद्य भाग तिलोयपण्णत्ति में अक्षरशः ले लिया गया है, अतः यह सम्भव है कि स्वयं वीरसेन स्वामी ने ऐसा किया हो। किन्तु निम्न कारणों से ज्ञात होता है कि वीरसेन स्वामी ने इसका संकलन नहीं किया होगा।

(१) जयधवला के जिस भाग के लेखक आचार्य जिनसेन हैं उसकी एक गाथा कुछ परिवर्तन के साथ तिलोयपण्णत्ति के अन्त में पाई जाती है।

(२) धवला का जो गद्य भाग हम पहले उद्धृत कर आये हैं उसमें 'अम्हेहि' पद के बिना देखते हैं।

अब रही जिनसेन आचार्य की बात सो यद्यपि अभी तक ऐसा स्पष्ट प्रमाण तो नहीं मिला जिससे यह कहा जा सके कि वर्तमान तिलोयपण्णत्ति का संकलन इन्होंने किया है। फिर भी निम्न कारणों से ज्ञात होता है कि इसके संकलन कर्ता आचार्य जिनसेन होने चाहिये।

(१) वीरसेन स्वामी के साहित्यकार्य से ये अच्छी तरह परिचित थे। तथा उनके शेष कार्य को इन्होंने पूरा भी किया है। संभव है उन शेष कार्यों में उस समय की आवश्यकतानुसार तिलोयपरगत्ति का संकलन भी एक कार्य हो।

(२) वीरसेन स्वामी का काल प्राचीन साहित्य के संकलन, संशोधन और संपादन का रहा है। उन्होंने इसकी जो दिशा निश्चित की थी, वर्तमान तिलोयपरगत्ति का संकलन भी उसीके अनुसार हुआ है। तथा सम्पादन की इस दिशा से परिचित जिनसेन ही थे।

इस प्रकार वर्तमान तिलोयपरगत्ति के रचनाकाल और संकलन कर्ता का विचार करने से यही निष्कर्ष निकलता है कि इस तिलोयपरगत्ति का संकलन शक संवत् ७३८ से पहले का किसी भी हालत में नहीं है और यह बहुत सम्भव है कि इसका संकलन आचार्य जिनसेन ने किया हो। तथा इस विचार मीमांसा से यह भी ज्ञात होता है कि इसके पहले एक तिलोयपरगत्ति और थी और सम्भव है वह यतिवृषभ आचार्य की रही होगी।

समीक्षा

षट्खण्डागम [धवलाटीका समन्वित] — जीवस्थान-चूलिका, जिल्द ६ वीं—सम्पादक—प्रो० हीरालाल जैन एम० ए०, एल-एल० बी०; सहसम्पादक—पं० बालचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री; प्रकाशक—श्रीमन्त सेठ शितावराय लक्ष्मीचन्द्र, जैन-साहित्योद्धारक-फण्ड कार्यालय, अमरावती; मूल्य पुस्तकाकार—१०), शास्त्राकार—१२); पृष्ठ संख्या—४० + ५०२ + ४४; छपाई-सफाई सुन्दर।

इस भाग में प्रकृतिसमुत्कीर्तन, स्थानसमुत्कीर्तन, महादण्डक एवं उत्कृष्टस्थिति आदि नौ चूलिकाओं का वर्णन हैं। इन चूलिकाओं में कर्म सिद्धान्त का परिपूर्ण निरूपण बड़ी उत्तमता और व्यवस्था के साथ किया गया है। ग्रन्थ के प्रारम्भ में शंका-समाधान पूर्वक चूलिकाओं का अवतार और उसके भेदों का प्ररूपण बड़ी रोचकता से किया है। पहली चूलिका में कर्मों को मूल और उत्तर प्रकृतियों का विवेचन विस्तार के साथ व्यावहारिक ढंग से किया है। दूसरी चूलिका में प्रत्येक कर्म की कितनी उत्तर प्रकृतियाँ एक साथ बाँधी जा सकती हैं और उनका बन्ध कौन-कौन से गुणस्थान में संभव है, आदि बातों पर प्रकाश डाला गया है। इस चूलिका में विशेष-रूप से ज्ञानावरणीय के एक, दर्शनावरणीय के तीन, वेदनीय के एक, मोहनीय के दस, आयु के चार, नाम कर्म के आठ, गोत्र के दो और अन्तराय के एक बन्ध-स्थान का उत्पत्ति पूर्वक सविस्तर प्रतिपादन हुआ है। तीसरी महादण्ड नामक चूलिका में बताया गया है कि सम्यक्त्वोन्मुखी जीव के किस-किस परिणाम में कैसी विशुद्धता बढ़ती है और उससे किस प्रकार अशुभतम, अशुभतर और अशुभ प्रकृतियों का बन्ध व्युच्छेद होता है। इसके अनन्तर इस ग्रन्थ में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण विषय सम्यक्त्वोत्पत्ति नामक चूलिका का है। इसमें सबसे प्रथम "एदेसिं चेव सव्वकम्माणं जावे अंतोकोडाकोडिट्ठिदिं बंधदि तावे पढम सम्मत्तं लभदि" इस सूत्र की व्याख्या करते हुए धवलाकार ने प्रथम सम्यक्त्वोत्पत्ति योग्य सामग्री का अच्छा विश्लेषण किया है। सम्पूर्ण चारित्र को प्राप्त करने वाले के स्वरूप का निरूपण करते हुए बताया गया है कि यह जीव ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय इन घातिया कर्मों की अन्तर्मुहूर्त्तमात्र स्थिति को स्थापित करता है किन्तु वेदनीय की बारह मुहूर्त्त, नाम और गोत्र की आठ-आठ मुहूर्त्त और शेष कर्मों की भिन्न मुहूर्त्त स्थिति को स्थापित करता है।

सूत्रकार के इस संक्षिप्त विषय को धवलाकार ने बहुत सूक्ष्मता, गम्भीरता और विशालता के साथ समझाया है जिससे साधारण पाठक भी आसानी से समझ सकते हैं। इस सम्बन्ध में इस प्रकार का विवेचन अन्यत्र नहीं मिल सकेगा। पृष्ठ ३४४ से ३६४ तक वर्णित क्षपण का विधान भी बहुत महत्त्वपूर्ण हैं, इसमें अपूर्वकरण गुणस्थान से लेकर समय-समय की

क्रियाओं का विशद और सूक्ष्म निरूपण किया गया है तथा क्रमशः आठ कषाय और निद्रादि का संक्रमण, मनःपर्यय ज्ञानवरणादि के बन्ध का देश घातिकरण, चार संज्वलन और नोकषायों का अन्तरकरण तथा नपुंसकवेद और स्त्रीवेद का संक्रमण बताया गया है। इस प्रकार यह समस्त चूलिका महत्त्वपूर्ण और नवीन विषय से परिपूर्ण है। इसके पश्चात् गत्यागति नामक चूलिका में दार्शनिक ढंग से बौद्ध दर्शन सम्मत मोक्ष के निराकरण के साथ चारों गति के जीवों की गत्यागतिका भिन्न-भिन्न पहेलुओं से विवेचन किया है। यह भाग कर्म सिद्धान्त के जिज्ञासुओं के लिये बड़े काम का है।

सम्पादन बहुत सुन्दर हुआ है। ग्रन्थ के प्रारम्भ में ग्रन्थ का विषय संक्षेप में दिया गया है। अन्त में कई परिशिष्ट दिये गये हैं, जिनसे इस ग्रन्थ की उपयोगिता अत्यधिक बढ़ गई है। प्रथम परिशिष्ट में क्रमानुसार चूलिका सूत्रों की सूची, दूसरे में अवतरण गाथा सूची तीसरे में न्यायोक्तियाँ, चौथे में ग्रन्थोल्लेख और पाँचवें में अकारादिक्रम से पारिभाषिक शब्द सूची दी गई है। अन्त में विशेष टिप्पण दिये हैं। इन टिप्पणों में तुलनात्मक दृष्टि से विषय का प्रतिपादन किया है तथा कई नवीन प्राकृत-रूपों की छानबीन भी की गई है। इन टिप्पणों में कई मौलिक एवं महत्त्वपूर्ण बातें भी बतायी गयी हैं। अनुवाद सर्वाङ्ग सुन्दर हुआ है। विषय को सरलता से समझाने के लिये विशेषार्थ दिये गये हैं, इनके सहारे हिन्दी प्रेमी पाठक भी कर्म सिद्धान्त जैसे गहन विषय को आसानी से समझ सकते हैं। हर तरह से मूल ग्रन्थ के विषय को सरलातिसरल बनाने के लिये विद्वान् सम्पादक ने प्रयत्न किया है। छपाई-सफाई और गेटप आदि सभी चीजें मनमोहक हैं। प्रत्येक स्वाध्याय प्रेमी, मन्दिर और पुस्तकालय को अवश्य इसे मंगाकर जैन साहित्य के उद्धार करने में सहायक होना चाहिये।

अनित्यभावना हिन्दी-पद्यानुवाद और भावार्थ सहित—रचयिता—श्रीपद्मनन्द्याचार्य;
अनुवादक—पं० जुगलकिशोर मुख्तार; प्रकाशक—वीरसेवा मन्दिर सरसावा; पृष्ठसंख्या—८+४०; मूल्य विवेक प्राप्ति।

पुस्तक का विषय नाम से ही स्पष्ट है। इसके द्वारा संसार से उद्विग्न, शोक संतप्त प्राणी शान्ति प्राप्त कर सकते हैं। प्रायः देखा जाता है कि कर्मबद्ध प्राणी ज़रा-सी विपत्ति के आने पर घबड़ा जाता है और मोह के कारण हाय-तोबा मचाने लगता है। ऐसे समय में इस प्रकार की वैराग्य वर्धक एवं स्वस्वरूप का ज्ञान कराने वाली पुस्तकें अधिक उपयोगी सिद्ध होती हैं। ऐसी पुस्तकों से विपत्ति के दिनों में साहस और उत्साह तो मिलता ही है किन्तु सांसारिक भोग-विलास, स्त्री-पुत्र, धन-सम्पत्ति, यौवन और प्रभुता आदि की अस्थिरता भी प्रत्यक्ष गोचर हो जाती है। मोही सांसारिक प्राणी को सम्बल प्राप्त कराने में यह पुस्तक अधिक उपादेय है।

इसके श्लोक इतने मनोहर हैं कि पढ़ते ही अनित्यता का चित्र सामने अंकित हो जाता है। नमूने के बतौर एक श्लोक उद्धृत किया जाता है।

एकद्रुमे निशि वसन्ति यथा शकुन्ताः, प्रातः प्रयान्ति सहसा सकलासु दिक्षु । स्थित्वा कुले बत तथाऽन्यकुलानि मृत्वा, लोका· श्रयन्ति विदुषा खलु शोच्यते कः ।

अर्थ—जिस प्रकार बहुत से पक्षी एक वृक्ष पर आकर रात्रि को बसते हैं और प्रातःकाल सवेरा होते ही सब उठकर दशों दिशाओं को चले जाते हैं । उसी प्रकार बहुत से प्राणी एक कुल में आकर जमा हो जाते हैं, कुछ काल स्थित होकर आगे पीछे मर जाते हैं और अन्य कुलों में आकर जन्म ले लेते हैं । ऐसी वस्तु स्थिति के होते हुए बुधजन तब किसका किसलिये शोक करें ।

उपर्युक्त पद्य को पढ़ने से मोही से मोही जीव भी शान्ति प्राप्त कर सकता है । अस्तु, इस पुस्तक का पद्यानुवाद सुप्रसिद्ध साहित्यिक पं० जुगलकिशोर मुख्तार ने किया है । आपकी कलम से निकले पद्य अत्यन्त मनोहर और चित्ताकर्षक हैं । अनुवाद फबता हुआ है । हिन्दी पद्यों के द्वारा संस्कृत नहीं जानने वाले भी कविता का रस ले सकते हैं एवं मूल ग्रन्थ को हिन्दी पद्यों द्वारा भी समझ सकते हैं । सर्व साधारण को भी सरलता से ज्ञान कराने के लिये हिन्दी विस्तृत भावार्थ भी दिया गया है, इससे इसकी उपयोगिता अधिक बढ़ गई है । छपाई-सफाई और गेटप आदि सुन्दर हैं । प्रत्येक स्वाध्याय प्रेमी को इसका प्रतिदिन पाठ करना चाहिये ।

साहित्यरत्न, न्याय-ज्योतिष-तीर्थ
पं० नेमिचन्द्र जैन शास्त्री ।

स्वामी दयानन्द और वेद—लेखक—स्वामी कर्मानन्द जी, अम्बाला छावनी, प्रकाशक—श्री अजितकुमार जैन, मंत्री, प्रकाशन विभाग भा० दि० जैन शास्त्रार्थ संघ, अम्बाला छावनी। साइज—डबल क्राउन १६ पेजी, पृष्ठ संख्या—४४, छपाई-सफाई साधारण । मूल्य डेढ़ आना।

पुस्तक के प्रारम्भ में लेखक ने 'मेरी आत्मकथा' शीर्षक प्रकरण में अपने आर्य समाजी जीवन की मनोरंजक कहानी लिखी है । इस प्रकरण से यह पता चलता है कि स्वामीजी आर्यसमाज के एक कट्टर वक्ता होते हुए भी आर्यसमाज के मूल सिद्धान्तों में विश्वास नहीं रखते थे । उन्होंने इसकी पुष्टि में एक स्थान पर स्पष्ट लिखा है कि—'एक तो मुझे मेरे प्रारम्भिक जीवन से ही वेदों के ईश्वरीय ज्ञान होने में शंका थी, दूसरे जब मैंने इस विषय पर आर्य समाज की तरफ से शास्त्रार्थ किये, तब और भी आक्षेप मेरे सामने आये और उनका समाधान न कर सका ।'

लेखक ने आर्य समाज की वेदोत्पत्ति के आधार को अपनी दलीलों से गलत साबित करने की चेष्टा की है । कुछ अंशों में लेखक अपनी चेष्टाओं में सफल भी हुए हैं । जैसे, स्वामी

दयानन्द जी महाराज का कथन है कि वेद को स्वयं ईश्वर ने ही बनाया। लेखक ने इसके उत्तर में जो निम्न बातें लिखी हैं वे बहुत ही तर्क पूर्ण और मनन करने योग्य हैं। लेखक का कहना है कि जब ईश्वर वेदों का कर्त्ता है, तो वेद ईश्वर के कर्म हुए; क्योंकि जिसका जो कर्त्ता है वह उसका कर्म होता है।' इसमें ईश्वर के ऊपर दोष आता है। क्योंकि आर्य समाजियों के मतानुसार ईश्वर निर्गुण है, निराकार है, जब ईश्वर निर्गुण है, तो उसके कर्म कैसे साबित होंगे ? और कर्म भी तो तभी किये जाते हैं, जब मन में किसी बात की इच्छा उठती है। आर्य समाजी सिद्धान्त के अनुसार ईश्वर को न मन है, न इच्छा। ऐसी दशा में वेद, जो आध्यात्मिक, शारीरिक और व्यावहारिक ज्ञानों (जिसकी तह में इच्छाएँ मौजूद हैं) की खान हैं, ईश्वर निर्मित कैसे कहे जा सकते हैं ?

इस प्रकार बहुत सी ऐसी बातें हैं, जिन्हें लेखक ने अपनी तर्क की कसौटी पर कस कर निर्मूल साबित कर दिया है। लेखक ने, अपने विचारों की पुष्टि में जितनी दलीलें दी हैं, वे खोज की हैं; और वे अपने इस प्रयत्न के लिये प्रशंसा के पात्र हैं।

वैदिक ऋषिवाद—लेखक—स्वामी कर्मानन्दजी, अम्बाला छावनी; प्रकाशक—श्रीअजितकुमार जैन, मंत्री, प्रकाशन विभाग भा० दि० जैन शास्त्रार्थ संघ अम्बाला छावनी, साइज—डबल क्राउन सोलह पेजी। पृष्ठ संख्या—९६; मूल्य—चार आने।

उपर्युक्त पुस्तक में भी लेखक ने वेद का ही प्रसंग छेड़ा है। इसमें भी आर्य समाज के सिद्धांतों के ऊपर आक्षेप किये गये हैं। वेद कब और कहां तथा किसने बनाये, यह एक ऐसा प्रश्न है जिसका जल्द समाधान नहीं हो सकता, यह वास्तव में एक विवादास्पद विषय है। लेखक ने अपनी इस पुस्तक में सिर्फ विवादों का दिग्दर्शन कराया है, और यह साबित करने की चेष्टा की है कि वेद ईश्वर कृत नहीं हैं। कहीं कहीं लेखक की भाषा आक्षेप के जोश में आकर संयतहीन भी हो गयी है। भाषा तथा प्रूफ सम्बन्धी भूलें भी कहीं-कहीं बेहद खटकती हैं। आशा है, दूसरे संस्करण में इन त्रुटियों का सुधार कर दिया जायगा। तोभी यह छोटी सी पुस्तक सर्वसाधारण के लिये उपयोगी है। इसके द्वारा सत्य मार्ग का अन्वेषण किया जा सकता है। स्वामीजी ने अनेक प्रबल युक्तियों से ईश्वर कर्त्तृत्व का खण्डन किया है। खण्डन शैली रोचक और मनोहर है। छपाई-सफाई साधारण है।

—बनारसी प्रसाद भोजपुरी, हिन्दीरत्न।

स्वर्गीय हेमचन्द्र (संस्मरण) --संग्रहकर्ता और सम्पादक: श्रीयुत यशपाल जैन, बी० ए० एल-एल० बी०, भूमिका-लेखक: पं० बनारसीदास चतुर्वेदी, प्रकाशक: पं० नाथूराम प्रेमी, हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई। मूल्य : चार आँसू। छपाई-सफाई अत्यन्त सुन्दर। पाँच आवश्यक चित्रों से सुसज्जित। पृष्ठ संख्या : १५+१६०।

भारत के प्रसिद्ध साहित्य-सेवी पं० नाथूराम प्रेमी के एकमात्र दिवंगत पुत्र की स्मृति में हिन्दी के प्रसिद्ध साहित्यिकों की श्रद्धाञ्जलियों का यह संग्रह है। महात्मा भगवानदीनजी, पं० हजारी प्रसादजी द्विवेदी, जैनेन्द्रकुमारजी, प्रो० हीरालाल जैन, श्री रामचन्द्र वर्मा, पं० महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्य, पं० पद्मसिंह शर्मा, श्रीपदुमलालजी बख्सी, सियारामशरण जी गुप्त, नर्मदाप्रसाद खरे, पं० बनारसीदास जी चतुर्वेदी, सुभद्रा कुमारी चौहान, एम, एन कुलकर्णी, विश्वंभरदास जी गार्गीय, पं० जुगलकिशोर जी मुख्तार, श्रीयुत कामताप्रसादजी जैन प्रभृति ४९ विद्वानों के अश्रु-प्रवाह से यह संग्रह सिक्त है। पं० नाथूराम जी प्रेमी की पंक्तियों को पढ़कर भला कौन पाषाण-हृदय भी चार आँसू न बहा लेगा।

इस संस्मरण का नायक एक अल्हड़, स्पष्टवादी, निर्भीक और बेपरवाह व्यक्ति था। इन पंक्तियों का लेखक पहले से संस्मरणनायक के सम्बन्ध में कुछ भी न जानता है, फिर भी नायक के अल्हड़पन और निरंकुशता पर मन मुग्ध हो जाता है। ऐसे गुण कुछ ही भविष्णु और विजयोन्मुख युवकों में पाये जाते हैं। अपने माँ-बाप के प्यारे तो सभी बच्चे होते हैं, पर यह सरस्वती-पुत्र तो उस विद्वन्मण्डल का प्यारा था, जो साहित्य, समाज और संस्कृति आदि में सत्य के आधार पर नवीनता का उपासक है। यदि स्वर्गीय हेमचन्द्रजी के समान दो चार उद्धत (बोल चाल के अर्थ में नहीं) और चरित्रवान् नवयुवक साहित्य-क्षेत्र में उतर आवें, तब तो चाटुवादिओं, भीरुओं और साहित्य-सेवी के नाम पर चोरों को कहीं शरण न मिले।

हेमचन्द्रजी एक अध्ययन शील आलोचक थे। इनका अध्ययन इतना गम्भीर होता जा रहा था कि कुछ ही दिनों में यह एक अपना विशेष स्थान बना लेते। कुछ साहित्य ही नहीं, योग, विज्ञान, चिकित्सा और हस्त-सामुद्रिक आदि कई विषयों के ये मर्मज्ञ हो चले थे। धुन के ऐसे पक्के थे कि जिस विषय में कहीं ठोकर खाते, तो शीघ्र उस विषय की पुस्तकें एकत्र कर महीनों उस विषय में जुट जाते और उसके सम्बन्ध में ग्रन्थ ही लिख डालते। अपने अध्ययन के बल पर बड़े से बड़े लोगों की आलोचना ये कर बैठते थे। अन्तर्राष्ट्रीय वादों और नीतियों का इन्हें पूर्ण ज्ञान ही नहीं था, अपना गम्भीर मत भी रखते थे। संस्मरण के ५० पृष्ठ में उनके विचार-गाम्भीर्य का पता चलता है।

ज्ञात होता है, हेमचन्द्र जी लिखने की अपेक्षा अभी अध्ययन में अधिक समय बिता रहे थे और उनके जानते वे अभी कुछ लिखने योग्य न थे। अभिभावक के दबाव का शायद यह परिणाम था। हेमचन्द्रजी साधरण संस्कृत के अतिरिक्त अंगरेजी, मराठी, गुजराती और बंगला बढ़िया जानते थे पर उनके अध्ययन का माध्यम अंगरेजी और हिन्दी था। उनकी इतने थोड़े समय में लिखी अप्रकाशित और प्रकाशित ३४ रचनाएँ पुस्तक, निबन्ध आलोचना और अनुवाद आदि हैं। जिनमें 'मंगलमय महावीर, योग-विषयक-लेखमाला, जाति भेद की वैज्ञानिक नींव, साहित्य शिक्षा का अध्ययन, ब्रह्मचर्य दर्शन, जल चिकित्सा, युक्तिवाद के प्रति बगावत, रीति या शैली आदि प्रमुख हैं।

प्रेमी जी उन्हें एक लोकविद् के रूप में देखना चाहते थे, क्योंकि सभी पिता यही चाहते हैं। पुत्र की प्रकृति और महत्ता का ज्ञान पिता को अभी पूर्ण रूप से न हो पाया था। इसी लिये प्रेमी जी उन्हें फटकारते भी थे। उचित भी था, कितना भी बड़ा विद्वान् पुत्र आखिर पुत्र ही था। किन्तु अचानक पुत्र की मृत्यु से पिता को यह लगता है कि वे उसे प्यार न कर सके। आखिर भवितव्यता के आगे वश ही क्या चल सकता है। हेमचन्द्रजी के उत्तराधिकारी उनके दोनों पुत्रों को देख-देख कर अब उन्हें सन्तोष करना है।

अब इस सम्बन्ध में विशेष न लिखकर यही कहूँगा कि स्व० हेमचन्द्रजीकी महत्ता जानने के लिए यह संस्मरणात्मक ग्रन्थ देखना चाहिये। मैं ठीक कहता हूं कि एक अपरिचित होते हुए भी मैं बिना पूरी पुस्तक देखे नहीं छोड़ सका। कारण यह कि हेमचन्द्रजी की प्रकृति, जीवन-गति और चरित आदि ऐसे हैं कि कुल जान लेने की ही इच्छा होती गयी। दूसरी बात यह कि अनेक सुप्रसिद्ध साहित्यिकों ने संस्मरण लिखा है, तो प्रसंगतः विभिन्न साहित्यिक, राजनीतिक और व्यावहारिक ज्ञान चर्चा के समावेश ने इस ग्रन्थ की उपादेयता बढ़ा दी है।

अन्त में विद्वद्वर यशपाल जी तथा प्रेमी से प्रार्थना है कि इस दिवंगत युवक के संस्मरण के समान ही उसकी रचनाओं से जनता को परिचित कराने के लिए उनका एक संकलन सम्पादित और प्रकाशित कर दें।

कमलाकान्त उपाध्याय, व्याकरण-वेदान्त-साहित्याचार्य,
काव्यतीर्थ, हिन्दीरत्न।

THE JAINA ANTIQUARY

VOL. X. JUNE, 1944 No. 1

Edited by

Prof. Hiralal Jain, M. A., LL.B.
Prof. A. N. Upadhye, M. A., D. Litt.
Babu Kamata Prasad Jain, M. R. A. S.
Pt. K. Bhujabali Shastri Vidyabhushana.

Published at
THE CENTRAL JAINA ORIENTAL LIBRARY,
[JAINA SIDDHANTA BHAVANA]
ARRAH, BIHAR, INDIA

Annual Subscription

Inland Rs. 3. Foreign 4s. 8d. Single Copy Rs. 2

CONTENTS

" श्रीमत्परमगम्भीरस्याद्वादामोघलाञ्छनम् ।
जीयात् त्रैलोक्यनाथस्य शासनं जिनशासनम् ॥ "
(अकलंकदेव)

Vol. X No. I | ARRAH (INDIA) | June, 1944

THE NATIVITY SCENE ON A JAINA RELIEF FROM MATHURA.

By

Dr V. S Agrawala, M. A., Ph. D., Curator, Provincial Museum, Lucknow.

The Jaina collection in the Lucknow Museum originally brought from the Kankālī Tīlā of Mathurā is distinguished by a number of sculptures of high artistic quality including some pieces which are important for iconography and for the early history of the Jaina religion itself. The sculpture discussed here merits attention, as from a stylistic point of view it is quite an early figure assignable to about 1st century B. C., and secondly, because it portrays a religious scene which may have something to do with the life of Tirthaṅkara Mahāvīra. The nude standing figure in the crowd of persons filling the proper right half of the scene leaves little room for doubt about the Jaina character of the representation.

The relief consisted of a running frieze of which only the central scene is now preserved. Originally used as a piece for horizontal position, the stone was later on remade into an upright railing pillar with a mortice hole which is partly preserved on the right side. This hole has been rather fatal to the most important figure of the whole story which is almost cut away by it.

The scene on the left side consists of a dance festival celebrated with music. It should be connected with some event or occasion justifying a festive display of human feelings. The structure under which the dance scene is laid is an open Maṇḍapa supported on four columns having plain circular shafts and capitals with two volutes each. The gabled roof is apparently covered with tiles on the outside. It was supported on a high central beam from which its two divisions sloped and rested on the columns. The roof is held on a frame work of triple lengthwise beams and shorter rafters placed crosswise, which is even today the prevailing arrangement for supporting tiled roofs on a framework of *ballis*. The structure was apparently in wood except the tiles which may hāve been of fired clay.

Inside the Maṇḍapa is a dancing female figure shown in an attractive pose. On her right is a squatting male figure beating a gong with a small rod. On her left is another seated male figure playing on a pair of drums, the one in horizontal position placed in his lap was technically known as *Aṅkya*(अंक्य), and the other placed vertically in front of him was given the name of Ūrdhva (ऊर्ध्व). Both the male figures wear typically heavy turbans with a central knob above the forehead. There are on this side also some standing female figures one of which is in the act of beating time with the palms of her hands and was known as *pāṇi-vādikā* or *pāṇighnī*. The other two female figures apparently very attentive participate in the general atmosphere of the scene, but not by any visible performance. Outside the Maṇḍapa on this side on the left of the fourth pillar commenced another scence of which only a mutilated male figure is now left.

The proper right side of the composition beginning from the first pillar consists of two rows of human figures. About two-thirds of them are connected as witnesses of the dancing scene and the rest on the extreme end form an independent part of the story. Of the visitors the first one sitting by the side of the pillar seems to be the leader of the group being more conspicuously treated and wearing a prominent head turban. He must represent either a rich *Śreshṭhī* or a royal personage. The man squatting next to him is seated in the

manner of Pramathas, has a scarf tied round the waist which passes on the outside of left folded leg. His hair is flowing on shoulders. His queer look perhaps shows him to be a light character. The third figure is standing and is of secondary rank, his left hand being placed on the right shoulder of the middle figure. In the upper row are four male figures who appear to form part of the retinue and are witnessing the festive scene in front of them.

The scene in the extreme right end was vital to the whole composition but has very badly suffered. In it there is a male figure at the top of whom only the bust remains. It is shown in adoration apparently offering homage to the figure carved below it. On the proper left of the scene is a nude young figure holding a kamaṇḍalu in the left hand and a piece of cloth in the right of which the ends fall below. This figure is a little in profile and although its head is now lost, it paid attention to the figure seated on his right. Unfortunately the main figure is extremely fragmentary of which only the right leg in an oblique suspended position and a part of the drapery is preserved. It appears that it was a male figure seated in *lalitāsana* with the left leg suspended and the right one folded. The figure was intended to be one worthy of homage as is made apparent by the adoring figure at the top; that it had something to do with Jainism is warranted by the nude boyish figure shown in front.

The correct identification of the scene is not beyond doubt but has every likelihood of referring itself to the story of the birth, of the Tirthaṁkara Mahāvīra. The seated figure of whom only the left leg is preserved appears to have been seated in an attitude similar to that of the god Hari-Naigamesha preserved in the Lucknow Museum on relief No. J. 626 (Smith's *Jaina Stūpa*, Plate XVIII). In that also the figure of a nude young boy is shown in the foreground. The Mother and the Child occurring in the Hari-Naigamesha scene connect it definitely with the Nativity of Mahāvīra depicting the transference of the child from the embryo of the Brāhmaṇī Devananda to the body of the Kshatriyāṇī Triśalā effected by the god Harinaigamesha. The present scene is earlier in date by about a couple of centuries, and obviously represents the birth celebration of the same Tirthaṁkara.

In this connection we may also notice the well-known Āryavatī sculpture of the time of Mahākshatrapa Śoḍāsa (Smith's *Jaina Stūpa*, Pl XIV). The figure of Āryavatī is shown standing in *abhayamudrā* with two attendant female figures holding a royal parasol (*chattra*) and the fly-whisk (*chaunri*). The existence of a goddess of the name of Āryavatī is unknown to the Jaina pantheon. It seems that the titte signifies "The Venerable Lady" and it would be most appropriate to designate the royal lady Triśalā, mother of Mahāvirā as Āryavatī. The Nativity idea must have been a popular one amongst the Jainas as it was amongst the Buddhists of Mathura, both of whom appear to have worked on a common pattern on the evolution of their iconographic formulas. This sculpture showing dance and music at the birth of the saint is in conformity with the art tradition as seen at Bharhut. We may compare with it the famous Sammada scene ushering in the birth of the Buddha (See, Barua, *Bharhut*, B. K. I., Pl. 2, B. K. III, Fig 34) Pāṇini also calls festive celebrations by the name of Sammada in sūtra III. 3-68 (संमदप्रमदौ हर्षे). The representation of the Nativity scene on the famous Hari-Naigameshi relief belongs to the Kushāṇa period, i. e. about 1st century A D. by which time the old formula had rather become more direct and shorn of its crowded material. But the present sculpture belongs the Śuṇga period and is worthy of greater attention, as an evidence of the early development of the idea of Nativity represented in Jaina art.

THE CONTRIBUTION OF JAINISM TO WORLD CULTURE.

A. Chakravarti.

(*Continued from Vol. IX No. II, Page 67.*)

This multiple aspect of reality with its relations with one another has its own philosophical corollary of religious importance The concept of Nirguṇa Brahmma is logically considered as meaningless by Jaina philosophers because according to them there can be no reality without quality, there can be no Dravya without Guṇas. Guṇa or quality without an underlying substance would be unreal because it would be unsupported. Similarly substance or Dravya without qualities or Guṇas would be unreal because of its being an empty abstraction from its qualities. You may talk of qualities as distinct from Dravyas for purposes of philosophical discussion. But in reality there can be no subsistence without qualities and no qualities without subsistence. So the highest religious concept instead of being the Nirguṇa Brahman of the Vedāntin becomes a Paramātman with infinite qualities according to Jainism. To attain this goal of Paramatmasvarūpa with the infinite qualities is the ideal set up by Jainism.

SYĀDVĀDA.

The logical predication relating to any object of reality, since it is bound to take a particular aspect of the same, must be in the form of a partial predication, You cannot assert anything about reality as an absolute predication. Any assertion made about realily therefore must be limited to the relative point of view. If the point of view is an emphasis on the nature of the underlying substance, the predication will be of one form; if the point of view is to emphasise the change, the form of predication will be different altogether. That the relative point of view determines the nature of predication is an obvious fact in logical assertion. Even in the ordinary world the value of a thing depends upon its relation to the point of view

adopted by a person. Thus for example a plant may be merely a weed to be rooted out from the point of view of the gardener or the agriculturist; but the same plant may be, beeause of its medicinal value, an important herb according to the doctor. The same plant may be of scientific value to the botanist because of its unique structure and function in the botanical world. To a poet it may be an entirely different thing and have a different significance as a symbol of Beauty and Truth and inspire the poet to exclaim "Thou flower in the crannied wall, if I could know thee, root and all, I could know what God and man is." Thus it is quite clear that logical predication is determined by the relative point of view. If you emphasise the substance, for example, of an ornament made of gold you say it is made of gold and not of silver or brass. If the question is 'what is substance of which the ornament is made?' the necessary answer will be it, is made of gold. If the question is, is it made of silver or brass?, the answer is negative—No, it is not made of silver or brass. Thus the same object, the same ornament is capable of being described by an affirmative predication as well as a negative predication according to the point of view adopted. This doctrine af partial predication according to which both affirmation and negation are possible with reference to the same object or reality is technically expressed as Syādvāda or Astināstivāda of Jaina philosophy. This is such a simple obvious truth and yet it is extremely surprising that it is misunderstood by almost all the non-Jaina thinkers who condemn it as self-contradictory and untrue.

JAINISM AND MODERN SCIENCE.

The view of Jaina thought will be better appreciated, if we can examine Jaina philosophy from the point of view of modern science. It is not possible for us in this short review to give a fuller account of the scientific aspect of the Jaina philosophy. However we can mention a few prominent doctrines which clearly appear to be an anticipation of modern scientific thought. In the physical realm Jaina philosaphy postulates five distinct categories as constituent elements for

the building up of the cosmos...Jīva, Pudgala, Dharma, Adharma and Ākāśa which may be translated respectively as lfie, matter, the principle of motion (Dharma), thc principle of rest (Adharma) and space. The first, the second, and, the last are obvious; but the two categories Dharma and Adharma are technical and peculiar to Jaina thought. These are not to be confused with the ethical concepts of merit and demerit They are entirely physical concepts, which are credited with powers of holding together the infinite quantity of physical molecules in the form of orderly constituted cosmos. If these categories are not postulated there will be no structure of the world maintained. Material atoms constituting the world will get dissipated throughout the infinite space. There will be merely a chaotic mass of cosmic dust with no world or life. From this description, it is evident that the early Jaina thinkers postulated two physical categories Dharma and Adharma for the purpose of explaining the physical structure of the universe. One other physical concept worth mentioning here is the Jaina account of sound All other Indian systems of thought spoke of sound as a quality of space. But it is interesting to know that Jainism explains sound in relation with material particles as a result of concussion of atmospheric mollcules. To prove this thesis the Jaina thinker employs arguments which are generally found in text books of physics :

That there is no sound if the atmosphere is removed, that it takes time to travel, that it is reflected in the form of an echo by the obstructive barrier are all facts known to ancient Jaina thinkers. Turning to Biology, Jaina thinkers were acquainted with many important truths relating to this branch of knowledge. The biological concepts found in Jaina thought are unique and interesting. The classification of the biological kingdom into diflerent groups according to the sense organs is an important point to be noted. This classification is based upon the number of sense organs present in the organisms. It is recognised that the plant world is also a living kingdom. Plant life is described as life with one sense organ namely touch alone. Next higher to that comes organism with two senses, touch and taste. Above that is the organism with the three senses, touch, taste and smell. Then comes the class of organisms with four senses, touch, taste, smell and sight. Next to that is the class

of five senses organisms having the sense of hearing in addition to the other four. The highest class of organisms consists of five senses of organisms with the additional characteristic of manas which is also a form of indriya. The last would represent human beings. Thus we have the gradation of the animal kingdom from the lowest organisms to the highest, Man figuring as the lord of the organic world This biological classification of animals is peculiar to Jaina philosophy, and it is nowhere found in Indian thought. We may further add that the doctrine that the vegetable kingdom consists of living organisms and that it is a part of the biological world is also peculiar to Jaina thought. We may assert with certainty that wherever this Jaina concept of life is introduced the author of the work must be a Jaina in faith for the simple reason that it is found nowhere outside Jainism as previously mentioned.

Here it is interesting to note that the existence of microscopic organisms were also known to Jaina thinkers. Microscopic organisms, technically called Sūkshma Ekendriya Jīvas or minute organisms with the sense of touch alone, are assumed to exist all over the world. They may abide in the earth, air, water and so on; and according to their abode they are classified as the microscopic organisms living in earth, air or water. These microscopic organisms are not preceptible to the ordinary senses though their existence is known by their function and activity, The doctrine of Ahiṁsā implies non-injury to these microscopic organisms also, but the injuction not to injure these is binding only on the ascetics or the yatis, because a householder cannot carry out strictly the doctrine of a higher Ahiṁsā with reference to these micrcsoopic organisms.

Next we shall consider the psychological concepts of Jainism. Without entering into details we may mention here the classification of knowledge and the knowing process recognised by Jaina thinkers. The knowing processes are divided into five distinct stages. Beside the ordinary sense-perception and the knôwledge through books Jaina thinkers recognise three other proeesses of cognition. The two former are called Mati-jñāna and Śruta-jñāna, knowledge by sense perception and knowledge hy study of books. The latter three are called Avadhi-jñāna, the Manahparyāya-jñāna and Kevala-jñāna.

Avadhi knowledge implies a sort of clairvoyant perception of distant objects and events. This is distinctly an extra-perceptual cognition in as much as it is not obtained through sense perception. In recent psychic researches, psychologists have been able to discover this clairvoyant capacity present in latent form in every human being Given proper facility this extra-perceptual cognition may be developed in all persons. Similarly the fourth variety, namely, Manaḥparyāya knowledge implies the capacity to appreciate what takes place in another person's mind This is called telepathy in modern Psychology The existence of telepathic cognition is also recognised by students of scientific research. These extra-perceptual activities of the mind were evidently developed by Yogic practices in ancient India, and the Jaina thinkers seem to have made a special study of these. The last is called Kevala knowledge on account of its excellence. This is infinite in its nature and comprehension and includes the whole of knowable reality; and it is associated with a Sarvajña or one who has obtained omniscience after destroying Karmas through Yoga or Tapas. Every individual human being, when he gets rid of all his Karmic bondage through elaborate process of discipline of Tapas or Yoga, is capable of attaining this stage of all-knowing state or Kevalajñāna which is the intrinsic characteristic of Paramātman. This process of self-realisation or attaining to the true self-hood with infinite knowledge is the goal of life prescribed by Jainism. This is Moksha, and the Jaina religious doctrines prescribed for reaching this stage constitute Moksha-mārga. From this point of view every living being has in itself in a latent from or in germ this Parāmātma-Svarupa and every individual has a right and the possibility of attaining the goal. Each individual personality by its own effort is capable of extricating itself from the trammels of Karma and attain this state of reality of supreme self. Each individual personality is according to Jainism an architect of its own destiny

Let us look at the Jaina contribution to Art. Fine arts are of different kinds: architecture, sculpture, painting, music and poetry. In all these different forms we have contributions made by early Jaina leaders and thinkers. In fact, in ancient India, architecture and

sculpture may be said to have been inspired by Jaina thinkers. Vedic Hinduism does not contemplate anything like temple worship. Its religious paraphernalia was confined to Yāgaśālā and the field of animal sacrifice. Jains have emphasised the importance of Chaitya and Chaityālaya-idol representing the Tīrthaṅkaras and the temples for these idols as objects of worship. Besides the five objects of worship Pañchaparameshṭhis, Jain thinkers speak of four other objects namely, Jina Dharma, Jina Śrutha, Jina Chaitya and Jina Chaityālaya the latter two being idols and the place for idols. Building temples dedicated to different Tīrthaṅkaras whose Pratibimba or idol was established therein must have started with Jaina conception of Samavasaraṇa According to Jaina tradition every Tīrthaṅkara after attaining Kevalajñāna has to spend the rest of his period in Dharma-prabhāvanā, preaching the Dharma when he is provided with an edifice called Śamavasaraṇa constructed by Devendra, a hall for the congregation assembled therein to listen to the divine words of wisdom The description of a Samavasaraṇa is generally given in Jaina literature It will not be far wrong to suppose that this concept of Samavasaraṇa is the source of inspiration for building up Chaityālayas or temples - a duty imposed upon Jaina kings and noble men. In early India even in the historical period most of the ruling chiefs, both in the north and south of India, were followers of Jaina faith, and they must have started temple building. From Chandragupta Mauryá in the north to the Pallava and Pāṇḍya kings in the south each vied with one another in putting up Chaityālayas dedicated to Jinas. Buddhism also must have had some such architectural scheme when Bhuddist builders specialised in putting up Stūpas over the relics of Goutama Buddha. Temple architecture as such was not encouraged by Buddhist builders Medievial India of Purāṇic Hinduism must have taken up the clue from the Jaina builders and constructed their own buildings, but very often converted most of the Jaina temples to serve their purpose.

This process of temple building not only implies skill in architecture but also necessarily implies a taste for the art of sculpture. Individual figures or idols designed and executed by Jaina sculptors even now remain as wonders of Indian sculptural art Wherever possible they employed painting as a source of instruction and propaganda of the

Jaina doctrine. Cave paintings which are even now existing such as Ajenta Frescoes are to a very great extent due to the inspiration of the Jaina artists. They were also patrons of music. The description of Samavasaraṇa contains a description of how Indra with his retinue of Devas appear before Jina with music and dancing. Devanartanā and the Deva-dundubhi are associated with the glory of Samavasaraṇa. Naturally therefore the temple worship according to Jainas must be a copy of this worship of the Jina by the Devas. Hence they encouraged music to a very great extent. It is enough to mention here one important fact as evidence of this. In Hindu epics and Purāṇas whereever there is a description of suayaṁvara, we always have victory in the Svayaṁvara-maṇḍapa achieved merely by physical prowess of breaking a bow or hitting a mark with an arrow to gain the hand of the princess. But in the case of Jīvaka winning the hand of Gandharvadatta as narrated in Jīvakachintāmaṇi we have the story laid in Svayaṁvara-maṇḍapa for a musical contest in which Jīvaka wins the hand of the Vidyādhara princess. Hence it is a point worthy of note that though Jainism seems to emphasise the ascetic aspect to a very great extent, it has not altogether forgotten the aesthetic aspect of life. Musical information given in the Tamil classic Śilappadigāraṁ, a Jaina kāvya, still contains a mine of information relating to the art of music. It has not been fully under stood and appreciated by Tamil scholars And lastly we have the art of poetry. It is in this that Jaina scholars have excelled all the rest Their contribution to literature in different languages is the pride of India. Their contribution to Sanskrit literature, their contribution to Prākrit literature are practically unrivalled. Jaina ascetics made it a point to study the language of the people for the purpose of educating them. Thus wherever they settled they enriched the literature of the land by their own contributions in the language of the land. The earliest Tamil works were most of them associated with Jaina writers. Not only the majority of the Kāvyas such as Chintāmaṇi, Śilappadigāraṁ and Vaḷayāpadi owe their existence to the Jaina writers but grammatical works such as Tolkappiyaṁ Nannūl and Yāpparuṅgalam and moral treatices as Kuraḷ and Nāladiyār all owed their existence to Jaina writers. But for the Jaina writers there would have been no Tamil literature worth

mentioning in South India. The same is the case with Kannaḍa litererature. The early works in Kannaḍa literature were all by Jaina writers. The literature in different languages thus contributed by the early Jainas served as a model for the later literature contributed by the non-Jaina writers.

The cheif Ethical aspect of Jainism the Ahiṁsā Dharma, forms the foundation of moral life for a Jaina. Rules are prescribed according to this fundamental principles. Jaina thinkers have formulated different types of moral injunctions one intended for the householder and the other intended for the ascetic. The latter is more strict and rigorous than the former. The former is called Śrāvakāchāra, the course of conduct prescribed for the householder. The latter is called Yatyāchāra, the course of conduct prescribed for the Yati or the ascetics. The course of conduct which is based on the basic principle of Ahiṁsā prescribed by Jainism consists of five Vratas:—Ahiṁsa, Satya, Asteya, Bhahmacharya and Parimitaparigraha. Ahiṁsā implies not merely non-injury to any insect but also the positive characteristic of love and sympathy towards all living creatures. The next vow is Satya or truth. This truth-speaking also is to be derived from the doctrine of Ahiṁsā which implies love and sympathy to all living creatures. As the term Asteye literally means non-stealing or non-acquiring any object belonging to others which are not voluntarily given to you. Brahmacharya as far as the householder is concerned means family life confined to the enjoyment of one's own wife and avoiding all types of sex-transgressions. The last item is limiting one's own personal possessions in the world. Acquiring of property in the form of land, cattle, gold or silver is the process of acquiring personal possessions. All these come under the class of Parigraha and the householder is enjoined to limit his personal possessions according to one's own status. Anything acquired beyond this limit must not be considered as one's own, must be used for the welfare and betterment of society as a whole. This last item has got an important economic significance for the modern world, as may be presently noticed. The same five vows or Pañchavratas when applied to the Yatis or the ascetics are called Pañcha Mahavratas, the five great vows as con-

trasted with the Pañcha Anuvratas, the five smaller vows which are related to the householder, Each of these Pañcha Mahāvratas is applied to the Yati without any limitation—a limitation which is imposed upon the householder as an economic unit of producer. For example the Brahmacharya which excludes sex perversity in the householder though it does not exclude sex life with one's own wife would be applied absolutely in the case of the Yati who must observe complete sex abstinance as an ascetic. Similarly in the case of the last vow of Parigrahaparimāṇa when the householder has to limit his personal possessions to suit his stātus the Jaina ascetic must have nothing as his own. He cannot even acquire a piece of cloth to cover his nakedness. He is to adopt the Jāta-rūpa, the form in which he wss born. Complete abstinance from personal possessions and undisturbed concentration upon one's own self would imply that one's own body itself is important only as a means of concentration, Yoga, to attain self-realisation. Otherwise even the body becomes superfluous, insignificant and useless. The Jaina ascetic has no home of his own. He is called Anagāra, the houseless. Whole living kingdom constitutes his family, the whole earth with the stars-spangled canopy of the heavens would constitute his home. This rigorous discipline imposed upon Jaina ascetic is very often mistaken by the non-Jaina students as characteristics of all Jainas because they are not aware of the twofold organisation of Jaina society the majority of which are the householders and a few ascetics, who devoted their life and energy for the cultural and moral betterment of the society.

In conclusion it is worth noticing the importance of the first and the last of the vratas for the modern world. The doctrine of Ahiṁsā which, though found in Hinduism, is peculiar to Jainism. Though it is adopted by the Hinduism it has not been fully appreciated by the Hindu thinkers. They try to reconcile with this their doctrine of Yāga or animal sacrifice and very ofen made a conflicting mixture of both as a Hindu religious doctrine. Its full implication has not been appreciated; and very often it is criticised as the cause of the political downfall of modern India, because it is assumed to be the weapon of the weak and helpless. It is assumed to be the mark of cowards, Those critics who talk in this strain are

ignorant of Indian history as well as of the significance of the doctrine of Ahiṁsā. The glorious periods of Indian history, the periods of Chandragupta and Aśoka of the Mauryan dynasty, the emperor Khāravela who came after him, the Chālukyas and the Pallavas in the Deccan and the Cheras and Cholas and Pandyas of the South till the period of Hindu revivalism had all been followers of Jaina faith based on the doctrine of Ahiṁsā, bui they were able to build up empires which had been the pride and glory of India and with which the foreign kings from the West and the East sought friendly alliance. Historically therefore the great periods of Indian history were all associated with the doctrine of Ahiṁsā. But political decline may be said to have begun with the Hindu revivalism which undermined the early Indian empires built by the Jaina sovereigns and which stood for social democracy. Intrinsically the doctrine of Ahiṁsā instead of being the mark of cowardice appears to be the quality of the courageous victor. It requires a greater strength of self to face injury than to inflict it. This was the attitude of Christ on the Cross; when he was insulted by Roman soldiers, he merely cried *'Father they know not what they do. Forgive them'*. Similarly whenever a Jaina saint is subjected to all sorts of persecutions by enemies, never swerved from the path of contemplation but merely smiled in pity for the folly of the ignorant enemy who by injuring the monk injured himself by walking the path of spiritual damnation. Smiling at the enemy in spite of persecution is a mark of superman, the victor, who walks on the path leading to the conquest of self. No doubt this doctrine is chosen as a method of liberating modern India to its full status of freedom and liberty by one of the greatest leaders of modern India. This experiment for the betterment of social conditions in India is not confined to India, its possibilities may have world wide value and may be applicable to the whole - world. The so-called Western civilisation based upon national aggrandisement and consequently generating national animosity cannot preserve itself unless it accepts this fundamental doctrine of Ahiṁsā as international ideal of live and let live. Not only this doctrine of Ahiṁsā is intended to be a panacea for the world ills but also the last doctrine of Parimita Parigraha is necessary for the economic reconstruction of the world.

The Russian experiment of communism, a form of economic levelling down the institutions of property is opposed to the existing system of capitalistic economics. As a compromise between these two economic institutions we must have a process of social reconstruction leading to voluntary limitation of personal property and setting apart the surplus for the betterment of general society as a whole. The social and economic reconstruction of the world must therefore adapt itself to important principle of Jaina ethics, the doctrine of Ahiṁsā and the voluntary limitation of personal property for in that way lies the Harmony among nations, as well as peace in this world.

VAIŚĀLI, MAHĀVIRA'S BIRTH PLACE.

By

Dr. B.C. Law, Ph. D., D. Litt.. M.A., B.L.. F.R.A.S.B.

Vaiśālī is famous in Indian history as the capital of the Licchavi Rājās and the headquarters of the powerful Vajjian confederacy. It is intimately associated with the early history of Jainism and Buddhism.

This great city claims Mahāvīra the founder of Jainism as its citizen. He has been described in a cannonical Jaina text[1] as the Arahat Jñātriputra, the revered, the famous inhabitant of Vaiśālī, who possessed the highest knowledge and the highest faith. He was known as Vesālie or Vaiśālika, that is, an inhabitant of Vaiśālī[2]. Abhayadeva in his commentary on the Bhagavati Sūtra (2, 1, 12, 2) explained Vaiśālika by Mahavīra and speaks of Viśālā as Mahāvīra-jananī or the mother of Mahāvīra[3]. From a comparison of the Buddhist and Jaina scriptures it appears that Kuṇḍagrāma, the birth place of Mahāvīra was a suburb of Vaiśāli[4]. Mahāvīrā's mother Triśalā was a sister of Ceṭaka who was one of the Vaiśālī Rajās. During his latter ascetic life Mahāvīra did not neglect the city of his birth and out of the fortytwo rainy seasons he spent no less than twelve at Vaisālī[5].

Vaiśālī, the capital of the Licchavis, has been identified with the present village of Basarh in the Muzafferpur district of north Bihar. The identity of Vaiśālī with Basarh has been proved still more decisively by the Archaeological explorations carried out on the site by T. Bloch in 1903—4.

Before the advent of Mahāvīra the faith of which he was the last exponent seems to have been prevalent in Vaiśālī and the surroun-

1. *Sūtrakritāṅga*, 1, 2, 3, 22.
2. Jacobi,*Jaina Sūtras*, pt. I, Into, xi.
3. Weber, *Indische Studien*, Band XVI., 263.
4. Jacobi, *Jainu sūtras*, SBE, Vol. XXII, pp. x—xi.
5. Jacobi, *Kalpa sūtru*, paragraph 122.

ding country in some earlier form. It appears from the Jain accounts that the religion as fixed and established by Pārśvanātha was followed by some at least of the Kṣatriya peoples of North-eastern India specially amongst the residents of Vaiśālī. We learn from the Āyārāṅga Sūtra that Mahāvīra's parents were worshippers of Pārśva and followers of the Śramaṇas[1]. Similar accounts are given in other Jain works of the prevalence in the country of a faith which was afterwards developed by Mahāvīra. Śramaṇas or wandering ascetics had been in existence ever since the time of the earlier Upaniṣads and evidently the Śramaṇas that were followed by the parents of Mahāvīra belonged to one of the numerous sects or classes of Indian ascetics. After Mahāvīra's time, the number of his followers among the Licchavis appears to have been large even including some men of the highest position in Vaiśālī, as for examples, Siha[2], a general-in-chief of the Licchavis, who was the disciple of Mahāvīra and Saccaka[3], a Nigaṇtha who had the hardihood to challenge the Buddha himself to a discussion on philosophical tenets before an assembly of five hundred Licchavis.

The Licchavis of Vaiśālī who were a great and powerful people of India in the Sixth country B. C. were Kṣatriyas of the Vāśiṣṭha gotra[4]. The Jaina sacred works tell us that Kṣatriyāṇī Triśalā mother of Mahāvīra and sister of Ceṭaka, one of the kings of Vāisālī, belonged to the same gotra[5]. The Licchavis did great honour to the memory of Mahāvīra as we read in the Kalpa Sūtra. In that night in which the venerable ascetic Mahāvīra died, the nine Licchavis along with others on the day of new moon instituted an illumination on the Poshadha which was a fasting day[6]. The Jain works tell us that these nine Licchavis were tributary to Ceṭaka, king of Vaiśālī and maternal uncle of Mahāvīra[7]. who was a Jñātri kṣatriya of the Kāśyapa gotra.

1. *Jaina sūtras*, pt. I, SBE, vol. XXII, p. 194.
2. *Vinayatexts*, SBE. vol. XVII, pp. 108*f Vinaya Mahāvagga.*
3. *Majjhima Nikāya*, I, pp. 227—37.
4. *Mahāvastu, Senart*, I, p. 283.
5. *S. B. E.*, Vol. XXII, p. xii; Jacobi, *Jaina Sūtras*, Vol. XXII, p. 193; *Āyārāṅga Sūtra*. II, 15, 15.
6. *Kalpa Sūtra*, paragraph, 128.
7. *S.B.E.*, Vol. XXII, p. 266, note I.

Mahāvīra, the son of Kṣatriya Siddhārtha who was otherwise known as Śreyāṃsa and Yasaṃsa who figured as a supremely gifted kṣatriya teacher and leader of thought, a great Brāhmaṇa, a great guardian, a great guide, a great teacher, a great pilot, and a great recluse, gathered unto him many men and women and was honoured and worshipped by many hundreds and thousands of lay disciples. Some among whom were Licchavis of Vaiśālī who had their peculiar form of government, their free institutions, their manners and customs, their religious views and practices which afford us glimpses of India of the transition period when the ancient vedic culture was developing in new directions and undergoing a transformation under the influence of the speculative activity out of which emerged the two great religions of Jainism and Buddhism. Mahāvīra was undoubtedly a great Vaiśālian who lived thirty years as a householder, more than full twelve years in a state inferior to perfection, something less than thirty years as a *Kevalin*, forty-two years as a recluse, and seventy two years on the whole At the age of seventy-two he died freed from all pains in the town of Pāvā after a long and remarkable career as a great religious reformer.

The Jaina Chronology.

By Kamta Prasad Jain, LL. D., M. R. A. S

(*Continued from Vol. VIII, No. I, page* 35.)

EVENTS OF THE ANCIENT HISTORICAL PERIOD

No.	Period & Date.	Events.
91	307 B. C	According to Kharatara Gachha Paṭṭāvalī Sthūlabhadra dies and Ārya Mahāgiri succeeds him.
92	308 B C.	Ārya Suhastin is created a sûri. (*Ibid.*)
93	305 B. C.	Seleukas Nikator, King of Syria, led an expedition against Chandragupta, but a treaty was made. Seleukos gave his daughter Helen in marriage to the Indian liberator. (SJI. li, i, p. 225).
94	300 B. C. or 297 B. C.	Bindusāra Maurya succeeds his father Chandragupta. The Greeks called him by the name 'Amitrochates', i.e. Amitraghātā, which shows that he was a great warrior. Daimachos was sent to him as ambassador by Antikhos and Dionysios. (EHI., p. 126 JRAS, 1928, I, pp. 132—135).
95	282 (245) B. C.	Ārya Mahāgiri dies. Suhastin succeeds him as the head of the Śvetambara Jaina Saṃgha. (Jacobi, Kalpasūtra, Intro. 10)

No	Period & Date	Events.
96	273 B. C.	Aśoka Maurya ascends to the throne of Magadha. After the conquest of Kalinga Aśoka became a humanitarian and set himself to preach the creed of Ahimsā, which was based on the teachings of Buddha and Mahāvira. (JA. V 54 ff.)
97	236 B. C.	Kuṇāla Maurya succeeds Aśoka, who was followed by Samprati, the grandson of Aśoka. Samprati was converted to Jainism and he sent Jain Śramanas to the countries of Arabia and Persia. (SJI. II, i. pp. 294—295 and JBORS., I. p. 116).
98		Śālisūka Maurya, the younger brother of Samprati, achieved the conquest of Jainism throughout Saurāṣṭra and enhanced the glory of the religiousness of his elder brother Samprati, amongst the various sections of the Jaina community. As a result, the Saṃgha of naked Jain saints gains prominence. (JBORS., XVI. pp. 29—31).
99	225 B. C.	Chedi Kings of Kalinga flourished.
100	207 B. C.	King Khāravela of Kalinga was born.
101	192 B. C.	King Khāravela was proclaimed Crown Prince of Kalinga.
102	184 B. C.	Viśākhāchārya and ten other Daśapūrvadhārî āchāryas flourished in the Digambara Saṃgha since the death of Bhadrabāhu

No.	Period & Date.	Events.
		Śrutakevalin. In the Nandi-āmnāya Paṭṭāvalî their names and respective period of pontiffship is given in the following manner :— 1. Viśākhāchārya Daśapûrvî, 10 years 2. Prosṭhila " 19 " 3. Kṣatriya " 17 " 4. Jayasena " 21 " 5. Nāgasena " 18 " 6. Siddhārtha " 17 " 7. Dhratiṣeṇa " 18 " 8. Vijaya " 13 " 9. Buddhilinga " 20 " 10. Deva " 14 " 11. Dharmasena " 14 " (Dhavalā, Intro : p. 26).
103	183 B. C.	King Khāravela ascends to the Imperial thrown of Kalinga. (JBORS. XIII, 244—245)
104	182 B. C.	Khāravela attacked Sātavāhana king Śātikarṇi in order to help the Kāśyapa Kṣatriyas and occupied the territory of the Muṣikas. (*Ibid.*)
105	179 B. C.	Khāravela conquered the Rāṣṭrikas and the Bhojakas. (*Ibid.*)
106	177 B. C.	Khāravela's mahārājābhiseka ceremony was performed and he proclaimed himself as King Emperor. (*Ibid.*)

No.	Period & Date.	Events.
107	176 B. C.	Probably the crown Prince of Kalinga, to succeed Khāravela was born (*Ibid.*)
108	175 B. C.	Battle of Gorathagiri was fought. Demetrius withdrew from Mathurā hearing about the invasion of Khāravela on Upper India. (*Ibid*)
109	173 B. C.	Khāravela invaded the Uttrāpatha.
110	172 B. C.	Khāravela celebrated reformed Jaina Pūjā.
111	171 B. C.	Khāravela defeated Puṣyamitra of Magadha and brought back the image of Kalinga Jina to his capital.
112	170 B. C.	Khāravela observes Jain penances snd austerities on the Kumāri hill. He calls together the Jaina Saṃgha and endeavours to restore the lost Jaina canons.
113	169—152 B. C.	Khāravela dies. (*Ibid*)
114	166 B. C.	Nakṣatrāchārya, the first among the eleven-Aṇgadhārīs flourished. (Dhavala, *loe. cit.*)
115	155 B. C.	King Menander attacked India and came into the touch of the Jaina monks. (Milinda : 108 & Hist. Gl. p. 78.)
116	150 B. C.	Jain Inscription from Mathurā. (Ep. Ind. II, 195)
117	146 B. C.	Jayapala, who knew the eleven Angas flourished. (Dhavalā, *loc. cit.*)

No.	Period & Date.	Events.
118	123 B. C.	Kālkāchārya invites 96 Shāhi Saka clans to Saurāṣṭra; who attacks later on Gardabhilla, the king of Ujjain and restores Āryikā Saraswati to Kālka. (Cambridge History of India, I, p 167.)
119	107 B. C	Pāndava, another eleven Anga-dhāri flourished. (Dhavalā, *loc. cit.*)
120	100 B. C.	During the reign of Azes I Jainism flourished at Taxilla. (SJI, II, 2, p 13.)
121	93 B. C.	Dhruvasen, eleven Angadhāri flourished. (Dhavalā, *loc. cit.*)
122	61 B. C	Kaṁsa, eleven Angadhari followed Dhruva
123	57 B. C.	Nahapāna Kṣatrapa was ruling at Bhragukachcha and was defeated by king Gautamiputra Sātākarṇi, who was known as 'Vikrmāditya' also. Nahapāna was a follower of Jainism at a time and Vikrmāditya was also converted to Jain faith. (SJI. II, 2. pp. 20—25 & 62—64 & JBORS. XVI. 250 ff.)
124	53 B. C.	Vik. Sam. 4. Mathurā Jain image inscription, edited by Buhler. (Ep. Ind. II, 201.)

No.	Period & Date.	Events.
125	"	Mathurā Jaina image inscriptions Saṃvat 5 & 18, edited by Buhler. (Ep. Ind. III, No. 12& 14.)
126	"	Mathurā Jaina image inscription of Saṃvat 5, edited by Buhler, records the dedication of an image of Vardhamāna Tīrthankara by the daughter of Pāla. (Ep. Ind. I, p 381 No. I.)
127	"	Mathura Jaina image inscription of Saṃvat 5, records the dedication of an image for the welfare and happiness of all creatures. (Arch :Survey Rep. III, p. 30, No. 2 and Ind. Ant., Vol 33, p. 16.)

—*To be contd.*

KṚṢṆA LEGEND IN THE JAIN CANONICAL LITERATURE.
PART I.

By

Mr. M.N. Deshpande[1], B. A

The life history of Kṛṣṇa has been from ancient times a favourite subject and a treasure-house to extract legendary material for all writers on various topics: religious, philosophical, didactic and mundane. Even to-day it inspires poets to pen enchanting lyrics and it will continue to be so even in future. Complex is the personality of Kṛṣṇa and oriental scholars have put before the scholar-world, diverse opinions on the point. Before entering in that controversial discussion, I propose to deal with the legend of Kṛṣṇa as found in the Jain Canonical literature, as the first part of my article. The second part will consist of a critical comparison of Jain tradition with the Brahmanic tradition as recorded in the Mahābhārata and some deductions based on that comparion.

Though we cannot assign exact date to the Jain Canonical Literature (for the writing activity extended over a period of about thousand years[1], the books from which I have culled the material, with the exception of one book (10th Aṅga)[2] can be said to represent the tradition before the beginning of the Christan era[3]. Thus this material will naturally interest the scholars interested in the study of Mahābhārata and the late Purāṇas.

I have arranged the material in a certain manner that will facilitate its comparison with the Mahābhārata tradition. The material

1. I am thankful to Professor *H. D. Sankalia* for giving me this subject and guiding me in its study.

2. *Uttarādhyayana* ed. J. *Charpentier*, Intro. 26—7

It is stated here that "It may as well be remarked at once that the 10th Anga is apparently in its present shape a very late composition."

3. *Ibid.* 31—2.

4. *Utta. op. cit.* 164.

in the present shape will interest the reader as it gives a coherent story of the Kṛṣṇa tradition.

1. *Kṛṣṇa's genealogy*[4]

(i) Vasudeva—He was a king in the city of Soriyapura. He had two wives Rohiṇī[5] and Devakī and each of them had a beloved son Rāma and Keśava.

(ii) *Kṛṣṇa—His birth*[6]—Devaī, wife of Vasudeva had borne seven sons, of whom Kaṇha (Kṛṣṇa) was the last, but she was not allowed the pleasure of rearing them. A lady by name Sulasā had brought forth in succession seven infants which were still-born in consequence of a course Now Sulasā was a devotee of the god Hariṇe—gamesī, and prayed to him for assistance. Her prayers and devotion prevailed : so the god Hariṇe-gamesi, out of compassion for the lady Sulasā took away her still born babes and carried them to Devai, taking back to Sulasā, Devaī's vigorous off-springs and so Sulasā became their reputed mother, and brought them up. Devai's six elder sons took no notice of her, but the youngest Kaṇha, the magnificient monarch, came every six months in state "to do homage at her feet." On one occasion he discovered his mother's sacred grief and that she longed for the joys of motherhood. Thereupon Kaṇha by the magic of his fasting induced Hariṇe—gamesi to grant Devaī her desires and an 8th son was born, who became a Jain monk and ultimately Arhat.

(a) *Kṛṣṇa's person*—He was ten Dhanus in height.

2. *Kṛṣṇa's sovereignty*[7]—

Kṛṣṇa Vāsudeva ruled and exercised snpremacy over half of Bhāratavarśa. He had under his sovereign power the following chiefs.

---

5. *Praśnavyakarana Āgamodaya Samiti* 83. "It is stated that the marriage ceremony of Draupadī, Rukmiṇī, Rakta-Subhadrā and Rohiṇī, brought in their train great battles."

6. *Antagaḍadasāo* ed. *P.L. Vaidya.* 12 and *Sthānanga Sūtra ed. Āgam. S.* 486.

7. *Anta.* op. cit. 4 and *Nāyādhammakahāo* ed. *N. V. Vaidya* 68. 176

(a) Samudravijaya[8]—He led the ten Dasāra Princes and is mentioned as a powerful king of Soriyapura, a city where Vasudeva ruled. The Dasāras descended from Yadu. The name of Samudravijaya's wife was Śivā. Ariṭṭhanemī and Rahanemī were his sons, the former being the 22nd Tirthankara of the Jainas. Ariṭṭhanemi is called the hero of the Vṛṣṅis. In the list of the sons of Andhakavṛṣṇī and Dhariṇi, we find the following names: Samudravijaya, Akśobhya, Acala, Dharaṇa, Puraṇa, Abhicandra and Vasudeva. Andhakavṛṣṇī is described as a king (belonging to the Royal family) of Dwārakā

(b) Baldeva[9] who led the five Mahāvīras is the brother of Kṛṣṇa and the son of Vasudeva and Rohiṇī. His other name is Rāma or Rāma Baladeva. He is said to have ruled Dwārakā, but under the sovereignty of Kṛṣṇa. He had a wife by name Revatī. Their son Nisāda having married 50 princesses on one day accepted the Law, having listened to the words of Tīrthankara. Baladeva was 10 dhanus in height and lived for 1200 years.

(c) Pajjunna[10] who led the three and half crores of Kumaras was the son of Rukmiṇī.

(d) Samba[11] led 60,000 invincible warriors.

(e) Vīrasena[12] led 50,000 warriors.

(f) Ugrasena[13] who led 21,000 warriors belonged to the family of Bhogas. The legend of Rathanemi from Uttarādhyayana does not mention his name. The Legend is as follows: The daughter of Ugrasena by name Raimai (Rājimati) was asked by Kṛṣṇa in marriage for Ariṣṭanemī. Ariṣṭanemī while going to the marriage pandal happens to see the flock of sheep intended to serve for the marriage feast. Moved to pity by the sight of these creatures,

8. *Utta.* op. cit. 164 and *Anta.* op. cit. 4—6.
9. *Nirayāvali* ed. *P. L. Vaidya.* 5. 70—71. and *Samavāyāṅga Sūtra Āgam. S.* 16 and 21.
10. *Nirayā.* op. cit. 44.
11. *Ibid.*
12. *Ibid.*
13. *Utta.* op. cit. 164.

he renounced the worldly life. He was followed by his brother and the bride Rājimatī. Kṛṣṇa performed their renunciation ceremonies and blessed them. Then there follows a very interesting but at the same time very didactic account of the meeting of Rājimati and Rathanemī.

(ii) *Kṛṣṇa's wives*[14]—The canonical tradition is not unanimous on this point. *Nāyā.* gives that he had 32,000 wives while *Anta.* and *Pra. Vyā.* give that he had 16,000 wives. His chief queen was Rukmiṇī. It is also stated that the marriage of Rukmiṇī brought in its train a great battle. We also get the list of his wives who became nuns. It runs as follows: Padmāvatī, Gorī, Gandhārī, Lakśnā, Jāmbuvaī, Saccabhāmā and Ruppiṇi

3. *Exploits of Kṛṣṇa*[15]—In *Pra. Vyā.* Kṛṣṇa is described as having killed Maustika and Canūra. He also killed Vijjāhara, Kesi Sauṇi and Putaṇā. He is described as the destroyer of the crown of Kaṁsa and the pride of Jarāsaṅdha. In *Sūtrakṛatāṅga* we get a reference to the fight of Kṛṣṇa with Śiśupāla.

4. *Destruction of Dwārakā and the death of Kṛṣṇa*[16]—Kṛṣṇa once asked the sage Ariṣṭanemī about the source of destruction of Dwārakā. He told that it will be caused by wine, fire and anger of Dwaipāyana. When the city of Dwarakā will be burning, Kṛṣṇa going to Pandu-Mathura to see Pāṇḍavas accompanied by Rāma Baladeva, with all his relatives killed and passing through Kosaṁba forest, and while sitting on a slab of stone under a bunyan tree will be killed being pierced in the foot by a sharp arrow discharged by Jarakumara. He lived for 10,000 years.

(i) *Future births of Kṛṣṇa*[17]

(a) First he will be born in the Vālukaprabhā hell.

(b) Then he will be born as the 12th Prophet by name Amama in the Utsarpiṇī era in the Pandu country.

---

14. *Anta.* op. cit. 5 and 25 and *Nāyā.* op cit. 68 and *Pra. Vyā.* op. cit. 85.
15. *Pra. Vyā.* op. cit. 71—2 and *Sūtrakṛitāṅga* ed. *P. L. Vaidya* 18.
16. *Anta.* op. cit. 25 and *Sthā. S.* op. cit. 486.
17. *Anta.* op. cit. 26.

5. *Kṛṣṇa and the Pāṇḍavas*[18]

(i) Paṇḍu-He is mentioned as the king of Hastināpura with Kuṅtī as his wife. Kuṇtī is the sister of Vasudeva. Paṇḍu had in all five sons: Yudhiṣṭhira, Bhīma, Arjuna, Nakula and Sahadeva.

(ii) *Drupada*[19] – He is the king of Kampillapura, a city in the country of Pañcāla in Bhāratavarṣa. The name of his wife is Cellaṇā. They had a son by name Dhuṭṭhajjumma and a daughter by name Draupadī.

(a) *Draupadī*[20]—Her former births—She is born first as the wife of a Brahmin. In this birth she becomes the cause of the death of the monk by offering him poisonous alms. Due to this impious act, she is put to great torment and after her death she is born in a hell, then as a fish, again as a hellish creature, then as a dog, again as a hellish creature and so on for a number of times. In the end she is born as the daughter of a merchant. When she came of age, she was married to a merchant youth, but because of her burning touch he ran away. The same thing happened in the case of a beggar who was married to her subsequently. Afterwards she becomes a nun but she does not obey her female preceptor and performs penance in a garden where she sees a courtisan enjoying in the company of five men. She longs for the same enjoyments and performs 'Nidāna' and then becomes loose in conduct and ultimately dies to be born as the daughter of Drupada.

(b) *Svayaṁvara of Draupadī*[21]—Invitations for the svayaṁvara ceremony were sent to the following kings and Princes:—Kṛṣṇa, along with the chiefs of Dwārakā-Samudravijaya etc. (This contains the list of all kings mentioned under Kṛṣṇa's sovereignty). Paṇḍu the king of Hastināpura along with his five sons:—Juhiṭṭhilla, Bhīmasena, Ajjuna, Naula, Sahadeva and Duryodhana along with his 100 brothers. So also Sauṇī, Sahadeva the son of Jarāsandha of Rāyagiha, Āsatthāma, Javaddaha and Salla. Also Kaṇha

18. *Nāyā* op. cit. 178.
19. *Nāyā* op. cit. 175—6.
20. *Nāyā*. op. cit. 152—76.
21. *Nāyā*. op. cit. 178.

Angirāya, Nandiraya of Campā, Sisupala the son of Damaghōsa of Suttimai along with his 500 brothers, King Damadanta of Hastinā-pura, Hatthisisa, king Dhara of Mahurā, Ruppī the son of Mesaga of Kodinna, Kīvaga of Viraṭa along with his 100 brothers and many other kings.

(e) *Draupidi's Choice*[22] :—She entered the pandal with a female companion of her who acquainted her with the kings and princes who had arrived there by means of a mirror in which they were reflected. She was first made acquainted with Dasāra Princes, then with Ugrasena and then the Pāṅḍavas. She, impelled by her former 'Nidāna' chose the five Pāṅḍavas as her husbands and garlanded them together.

(iii) *Nārada* :[23] is characterised as a type of man interested in quarrels. He used to instigate people to quarrels, add fuel to the fire and pose as an impartial observer. He is named as Kacchulla-Nārae.

(a) Nārada[24] persuades Paumanābha of Avarakaṅkā or Amarakaṅkā to kidnap Draupadi as a revenge for her rude behaviour. Paṅḍu seeing that Draupadi was kidnapped made investigations and sent Kunti to Kṛṣṇa to request him to bring her back. Pāṅḍavas who accompanied Kṛṣṇa in this expedition are unable to vanquish Paumanabha. Kṛṣṇa defeats him and starts on his return journey. The Āvarakaṅka of Kṛṣṇa is included in the ten Acchēragas or wonders.

(b) *Ganges episode*[25] : Pāṇḍavas on their return journey had to cross Ganges. There they think of testing the might of Kṛṣṇa, as a consequence of such an act of distrust, Pāṅḍavas are banished to the southern Bhāratavarśa. They stayed at Pandu-Mathura extolling Kṛṣṇa.

---

22. *Nāyā*. op. cit. 182,
23. *Nāyā*. op. cit. 184, Stha. S. op. cit. 523.
24. *Nāyā* op. cit. 195.

6. *The end of Pāṇḍavas*[25] :—Pāṇḍavas as ordered by Kṛṣṇa repaired to the southern part of Bhāratavarśa and lived there extolling Kṛṣṇa. There Draupadī gave birth to a son by name Pandusena. Pāṇḍavas then accepted the Jain faith in the presence of Ariṣṭanemī. Once they heard that Ariṣṭanemī along with 536 monks breathed his last on the mount Girnara and being inspired to end their lives in a similar fashion, Pāṇḍavas climbed the Śatruñjaya mountain, lived there performing many fasts for a few years, studied the 14 Purvas along with Ācārāṅga and finally attained Kevala knowledge and Mokśa.

Draupadi, hearing this, mastered the 11 Angas at the feet of the nun Suvratā, having mortified the flesh by many fasts, having confessed and expiated for many years, died and was born in Brahmaloka for the duration of 10 Sāgaropamas. It is also told that she will be liberated in the Mahāvideha-varśa.

---

25. *Nāyā*. op. cit. 197—9.

THE METAPHYSICS AND ETHICS OF THE JAINAS.[1]

By

H Jacobi

All who approach Jain philosophy will be under the impression that itis a mass of philosophical tenets not upheld by one central idea, and they will wonder what could have given currency to what appears to us an unsystematical system I myself have held, and given expression to, this opinion, but I have now learned to look at Jain philosophy in a different light It has, I think, a metaphysical basis of its own, which secured it a distinct position apart from the rival systems both of the Brahmaṇas and of the Buddhists. This is the subject on which I would engage your attention for a short space of time.

Jainism, at least in its final form, which was given it by its last prophet the twenty-fourth Tīrthakara Mahāvīra, took its rise, as is well known, in that part of Eastern India where in an earlier period, according to the Upaniṣads, Yājñavalkya had taught the doctrine of Brahman and Ātman, as the permanent and absolute Being, and where the Mahāvīra's contemporary and rival, Gotama the Buddha, was preaching his Law, which insisted on the transitoriness of all things. Jainism, therefore, had to take a definite position with reference to each of these mutually exclusive doctrine; and these it will be necessary to define more explicitly.

The one great truth which the authors of the Upaniṣads thought to have discovered, and which they are never weary of exalting, is

---

1. The late lemented Dr. Hermann Jacobi was a leading Orientalist and a pioneer of Jaina studies in Europe. This important paper of his was originally published in the Transactions of the Third International Congress for the History of Religions, Vol. II, pp. 59-66, Oxford 1908. This volume is is not easily available. Many scholars, interested in Jainism, wrote to me for a copy of this paper. I have with me an offprint of it. For the benefit of those to whom this paper is not accessible, I thought it advisable to reprint it in the Jaina Antiquary.—A. N. U.

that, underlying and upholding from within all things, physical as well as psychical, there is one absolute permanent Being, without change and with none other like it. The relation between this absolute Being and existent matter has not clearly been made out by the authors of the Upaniṣads, but all unprejudiced readers will agree that they looked on the phenomenal world as real. On this point the different schools of Vedāntins arrived at different conclusions, which, however, need not detain us here.

In opposition to this Brahmanical doctrine of absolute and permanent Being, Buddha taught that all things are transitory; indeed his dying words were, that all things that are produced must perish. The principal heresy, according to the Buddhists, is the *Ātmavāda*, i.e. the belief that permanent Being is at the bottom of all things; they are, as we should say, but phenomena or as Buddha expressed it, *dharmas*; there is no *dharmin*, no permanent substance of which the dharmas could be said to be attributes.

Thus the Brahmans and the Buddhists entertained opposite opinions on the problem of Being because they approached it from two different points of view The Brahmans exclusively followed the dictates of pure reason which forces us to regard Being as permanent, absolute, and uniform; the Buddhists, on the other hand, were just as one sided in following the teaching of common experience according to which existence is but a succession of originating and perishing. Either view the *a priori* view of the Brahmans, and the *a posteriori* view of the Buddhists, is beset with many difficulties when we are called upon to employ it in explanation of the state of things as presented to us by our consciousness; difficulties which cannot be overcome without a strong faith in the paramount truth of the principle adopted

The position taken by the Jainas towards the problem of Being is as follows. Being, they contend, is joined to production, continuation, and destruction (*sad utpāda-dhrauvya-vināśa-yuktam*), and they call their theory the theory of indefiniteness (*anekāntavāda*), in contradistinction to the theory of permanency (*nityavāda*) of the Vedāntists, and to the theory of transitoriness (*vināśavāda*) of the

Buddhists. Their opinion comes to this. Existing things are permanent only as regards their substance, but their accidents or qualities originate and perish. To explain: any material thing continues for ever to exist as matter; which matter, however, may assume any shape and quality. Thus clay as substance may be regarded as permanent, but the form of a jar of clay, or its colour, may come into existence and perish.

The Jain theory of Being appears thus to be merely the statement of the common-sense view, and it would be hard to believe that great importance was attached to it. Still it is regarded as the metaphysical basis of their philosophy Its significance comes out more clearly when we regard it in relation to the dectrines of *Syādvāda* and of the *Nayas*.

Syādvāda is frequently used as a synonym of *Jainapravacana* (e.g. at a later date in the title of a well-known exposition of the Jaina philosophy entitled *Syādvāda-Mañjarī*); and it is much boasted of as the saving truth leading out of the labyrinth of sophisms The idea underlying the *Syādvāda* is briefly this. Since the nature of Being is intrinsically indefinite and made up of the contradictory attributes of originating, continuance, and perishing, any proposition about an existing thing must, somehow, reflect the indefinitenass of Being; i.e. any metaphysical proposition is right from one point of view, and the contrary proposition is also right from another. There are, according to this doctrine, seven forms of metaphysical propositions, and all contain the word *syāt*, e. g. *syād asti sarvam, syād nāsti sarvam* *Syāt* means 'may be', and is explained by *kathaṃcit*, which in this connexion may be translated 'somehow'. The word *syāt* here qualifies ths word *asti*, and indicates the indefiniteness of Being (or *astitvam*). For example, we say, a jar is somehow, i.e. it exists, if we mean thereby that it exists as a jar; but it does not exist somehow, if we mean thereby that it exists as a cloth or the like.

The purpose of these seeming truisms is to guard against the assumption made by the Vedāntins that Being is one without a second, the same in all things. Thus we have the correlative predicates 'is', (*asti*) and 'is not' (*nāsti*). A third predicate is 'inexpressible'

(*avaktavya*); for existent and non-existent (*sat* and *asat*) belong to the same thing at the same time, and such a coexistence of mutually contradictory attributes cannot be expressed by any word in the language. These three predicates variously combined make up the seven propositions or *sapta-bhangas* of the Syādvāda. I shall not abuse your patience by discussing this doctrine at length; it is enough to have shown that it is an outcome of the theory of indefiniteness of Being (*anekāntavāda*), and to have reminded you that the Jainas believe the Syādvāda to be the key to the solution of all metaphysical questions.

The doctrine of the Nayas which I mentioned before is, as it were, the logical complement to the Syādvāda. The nayas are ways of expressing the nature of things: all these ways of judgement are, according to the Jainas, one-sided, and they contain but a part of the truth. There are seven nayas, four referring to concepts, and three to words. The reason for this variety is that Being is not simple, as the Vedāntins believe, but is of a complicated nature; therefore, every statement and every denotation of a thing is necessarily incomplete and one-sided; and if we follow one way only of expression or of viewing things, we needs must go astray.

There is nothing in all this which sounds deeply speculative; on the contrary, the Jain theory of Being seems to be a vindication of common-sense against the paradoxical speculations of the Upanisads. It is also, but not primarily, directed against the Buddhistic tenet of the transitoriness of all that exists. We cannot, however, say that it expressly and consciously combats the Buddhistic view, or that it was formulated in order to combat it. And this agrees well with the historical facts, that Mahāvira came long after the original Upaniṣads, but was a contemporary of Buddha. He was obliged, therefore, to frame his system so as to exclude the principles of Brahmanical speculation, but his position was a different one with regard to the newly proclaimed system of Buddha.

I have not yet touched on the relation between Jain philosophy on the one hand and Sānkhya-Yoga on the other. We may expect a greater community of ideas between these systems, since both

originated in the same class of religious men, viz. the ascetics known as the Śramaṇas, or, to use the more modern term, Yogins. As regards the practice of asceticism, the methods and the aim of Yoga, it has long been proved that the Yoga of Brahmans, Jainas, and Bauddhas are closely related to each other, and there can be no doubt that they have all developed from the same source. But I am now concerned only with those philosophical ideas which have a connexion with ascetic practice and form the justification thereof.

Now the Sāṅkhya view as to the problem of Being is clearly a kind of compromise between the theory of the Upaniṣads and what we may call the common-sense view. The Sāṅkhyas adopt the former with regard to the souls or *puruṣas* which are permanent and without change. They adopt the latter when assigning to matter or Prakṛti its character of unceasing change. The Sāṅkhyas contend that all things besides the souls or *puruṣas* are products of the one Prakṛti or primaeval matter, and similarly the Jainas teach that practically all things besides the souls or *jīvas* are made up of matter *pudgala*, which is of only one kind and is able to develop into every thing. It will thus be seen that the Sāṅkhyas and Jainas are at one with regard to the nature of matter; in their opinion matter is something which may become anything. This opinion, it may be remarked, seems to be the most primitive one; not only was it entertained by the ancients, but also it underlies the universal belief of transformation occurring in the natural course of things or produced by sorcery and spells. This is a point I wish to make, that the Sāṅkhyas and Jainas started from the same conception of matter, but worked it out on different lines. The Sāṅkhyas teach that the products of Prakṛti are evolved in a fixed order, from the most subtle and spiritual one (*Buddhi*) down to the gross elements, and this order is always reproduced in the successive creations and dissolutions of the world. The Jainas, on the other hand, do not admit such a fixed order of development of matter (*pudgala*), but believe that the universe is eternal and of a permanent structure. According to them matter is atomic, and all material changes are really going on in the atoms and their combinations. A curious feature of their atomic theory is that the atoms are either in a gross condition or in a subtle

one, and that innumerable subtle atoms take up the space of one gross atom. The bearing of this theory on their psychology I shall now proceed to point out But I must premise that the Jainas do not recognize a psychical apparatus of such a complex nature as the Sānkhyas in their tenet concerning Buddhi, Ahaṃkāra, Manas, and the Indriyas. The Jaina opinion is much cruder, and comes briefly to this. According to the merit or demerit of a person, atoms of a peculiar subtle form, which we will call *karma* matter, invade his soul or *jīva*, filling and defiling it, and obstructing its innate faculties The Jainas are quite out-spoken on this point, and explicitly say that *karman* is made up of matter, *paudgalikaṃ karma*. This must be understood literally, not as a metaphor, as will be seen from the following illustrations. The soul or *jīva* is extremely light, and by itself it has a tendency to move upwards (*ūrdhvvgaurava*), but it is kept down by the karma matter with which it is filled. But when it is entirely purged of karma matter, at Nirvāṇa, it goes upwards in a straight line to the top of the universe, the domicile of the released souls. To take another example. The karma matter within a soul may assume different conditions. It may be turbulent, as mud in water which is being stirred; or it may be inactive, as mud in water when it has settled at the bottom of a basin; or it may be completely neutralized as when the clear water is poured off after the mud has been precipitated. Here again it is evident that karma is regarded as a substance or matter, though of an infinitely more subtle nature than the impurities of water referred to in the illustration. As a third instance I will refer to the six *Leśyās* or complexions of the souls, ranging from deepest black to shining white, colours which we common mortals cannot perceive with our eyes. This doctrine was shared also by the Ājīvikas, on whom Dr. Hoernle[1] has thrown so much light. These colours of the soul are produced on it by the karman which acts as a colouring substance. Here also the material nature of karman is quite obvious.

To return from this digression, the karma matter that enters the soul is transformed into eight different kinds of karman, about which

1. Encyclopaedia of Religion and Ethics, vol, I. pp. 259 sq.

I shall have to say a word presently. This change of the one substance into eight varieties of karman is likened to the transformation of food consumed at one meal into the several fluids of the body. The karma matter thus transformed and assimilated builds up a subtle body, which invests the soul and accompanies it on all its transmigrations, till it enters Nirvāṇa and goes up to the top of the universe This subtle body or *kārmaṇaśarīra* is obviously the Jain counterpart of the *sūkṣmaśarīra* or *liṅgaśarīra* of the Sānkhyas[1]. In order to understand the functions of this subtle body or kārmaṇaśarīra, we must take a summary view of the eight kinds of karman of which it is composed. The first and second (*jñānāvaraṇīya* and *darśanāvaraṇīya*) obstruct knowledge and faith, which are innate faculties of the soul or *jīva*; the third (*mohanīya*) causes delusion, especially the affections and passions; the fourth (*vedanīya*) results in pleasure and pain; the fifth (*āyuṣka*) assigns the length of life to the person in his present birth; the sixth (*nāma*) furnishes him with all that belongs to him as an individual; the seventh (*gotra*) makes him a member of the class or genus which he is to belong to; the eighth (*antarāya*) produces hindrances to the realization of his virtues and powers. Each of these eight kinds of karman endures for a certain period, of varying length, within which it must take its proper effect. Then it is expelled from the soul, a process which is called *nirjarā*. The opposite process, the influx of karman into the soul, is called *āsrava*, a term well known to students of Buddhism. The occasions for āsrava are the actions of the body and mind (*yoga*); they open as it were an inlet for karma matter to invade the soul. If that soul is in a state of iniquity, i e. if the person under consideration does not possess right faith, or does not keep the commandments (*vrata*), or is careless in his conduct, or does not subdue his passions, then, in all these cases, singly or collectively, especially under the influcnce of the passions, the soul must retain the karma matter, or, as the Jainas says, binds it (*bandha*). But the influx of karma matter or āsrava can the prevented; this is called the stopping or *saṃvara*.

These primitive notions the Jainas have worked out into a philosophical superstructure, which serves just as well as that of the

1. The Jainas recognize four different sabtle bodies; see Tattvārth, ii, 37 sq.

Sānkhyas (but on different lines) to explain the problems of mundane existence and to teach the way of salvation. In order to make this clear I must add a few more details

Saṃvara is effected, i,e the influx of karma is prevented by the observance of peculiar rules of conduct, by restraint of body, speech, and mind by strict morality, by religious reflections, by indifference to things pleasant or unpleasant, etc. The most effective means, however, is the practice of austerities (*tapas*), which has this advantage over the other means, that it not only prevents karma from accumulating, but also consumes the accumulated karma. Tapas, therefore, produces also nirjarā and leads to Nirvāṇa; it is the chief means of salvation, as might be expected in a religion of ascetics. The denotation of the word 'tapas' in Jainism is somewhat different from its usual meaning. There is tapas of the body (*bāhya tapas*) and tapas of the mind (*abhyantara tapas*). The former consists in fasting, or eating scanty and tasteless food, in want of comfort and in mortification of the flesh. The mental tapas contains various items, as confession of sins and penance, monastic duties, obedience, modesty, self-restraint and meditation (*dhyāna*). I wish to lay stress on the fact that in the course of asceticism taught by the Jainas meditation is only one of many steps leading to the ultimate goal. Though Nirvāṇa is immediately preceded by the two purest stages of meditation, yet all other parts of tapas appear of equal importance. We shall see the singificance of this fact more clearly, when we compare the Jaina tapas with what corresponds to it in Sānkhya-Yoga Their Yoga contains some of the varieties of Jaina tapas; but they are regarded as inferior to meditation or contemplation. Indeed the whole Yoga centres in contemplation; all other ascetic practices are subordinated and subservient to contemplation—*dharaṇā*, *dhyāna* and *samādhi*. This is but natural in a system which makes the reaching of the *summum bonum* dependent on *jnāna*, knowledge. The theory of the evolution of Prakṛti, beginning with Buddhi, Ahaṃkāra, and Manas, appears, to my mind, to have been invented in order to explain the efficiency of contemplation for acquiring supernatural powers and for liberating the soul. Sānkhy-Yoga is a philosophical system of ascetic; but their asceticism has been much refined and has become spiritualized in a high degree. The asceti-

cism of the Jainas is of a more original character; it chiefly aims at the purging of the soul from the impurities of karman. Jainism may have refind the asceticism then current in India; it certainly rejected many extravagances, such as the voluntary inflicting of pains; but it did not alter its character as a whole. It perpetuated an older or more original phase of asceticism than the Brahmanical Yoga, and carries us back to an older stratum of religious life i which we can still detect relics of primitive speculation in the shape of such crude notions as I. have had occasion to mention in the course of my paper.

In conclusion I shall shortly touch on the third current of Indian philosophical speculation, viz the philosophy of the Pandits which is represented to us by the Nyāya and Vaiśeṣika systems. This philosophy may be characterized as an attempt to register, to define, and to arrange in systematic order the concepts and general notions which are the common possession of all who spoke the Sanskrit language. Such a philosophy had some attraction for the Jainas who, as we have seen, always sided with common-sense views, and in fact many Jainas have written on Nyāya and Vaiśeṣika. But at the time when the Jain system was framed, the Pandit, as we know him in later times, had probably not yet become distinguished from the Vedic scholar or theologian; it is almost certain that there was as yet no class of persons who could be called Pandits, and consequently their philosophy also was wanting. And the tradition of the Jainas themselves says as much; for according to them the Vaiśeṣika system was founded by Chaluya Rohagutta, originally a Jaina and pupil of Mahāgiri, eighth Sthavira after Mahāvīra. Thus we have no occasion to inquire into the relation between this system and Jainism. But it may be mentioned that the atomic theory which is a marked feature of the Vaiśeṣika, is already taught in outline by the Jainas. As regards the Nyāya system, it is almost certainly later than Jainism; for the dialectics and logic of the Jainas are of a very primitive character, and appear entirely unconnected with the greatly advanced doctrines of the Naiyāyikas.

In conclusion let me assert my conviction that Jainism is an original system, quite distinct and independent from all others; and that, therefore, it is of great importance for the study of philosophical thought and religious life in ancient India.

प्रशस्ति-संग्रह

"प्रशस्ति-संग्रह आद्योपान्त पढ़ा। इसमें ५४ शास्त्रों की प्रशस्तियां हैं। ग्रन्थ-प्रशस्तियां इतिहास-निर्माण के बहुमूल्य साधन हैं। इतिहास अन्वेषकों के लिये प्रशस्ति-संग्रह की अत्यावश्यकता है। आपने बड़ी खोज और श्रम के साथ जो प्रशस्ति-संग्रह जनता के सामने रक्खा है, वह आप का अपूर्व कार्य है। उक्त संग्रह में करीब ४० ग्रन्थकर्त्ताओं का परिचय है। आप की इस खोज और विद्वत्ता से मैं ही नहीं बल्कि सारी जैन समाज आभारी रहेगी।"

—नन्हेंलाल शास्त्री, कुचामन

"प्रशस्ति-संग्रह लिखकर आपने जैनसाहित्य के महत्त्व-पूर्ण ग्रन्थों के समय निरूपण का बड़ा ही श्लाघनीय प्रयत्न किया है। इस ग्रन्थ को देखकर कोई भी व्यक्ति आप की विस्तृत ऐतिहासिक गवेषणा तथा अनुशीलन की प्रशंसा किये विना नहीं रह सकता।

—प्रो० बलदेव उपाध्याय एम० ए०, बनारस

THE PRAŚASTI SAMGRAHA

Edited by

Pt. K. Bhujabali Śāstri, Vidyābhūsan.

With an introduction by—Mahamahopādhyaya Dr. R. Shamshastri. pp 5+200+25 = 230 Price Rs. 1-8-0

'It is indeed a very valuable reference book, full of information and presented in a neat form.'

Dr. A. N. Upadhye, Kolhapur

'It is a very useful compilation. Very carefully prepared.'

Prof. D. L. Narasimhachar, Mysore.

'You are doing real service to culture by publishing notes on literary works on Jainism and other works also hitherto unpublished.

Dr. S. Sheshgiri Rao, Vizianagaram.

'The descriptive catalogue of Sanskrit Mss. will be highly useful publication when completed.'

Prof. Chintaharan Chakravarti, Calcutta.

'Thank you very much for the Copy of the Prasasti Samgraha, which will be of great use for my Catalogue work.'

Dr. Raghavan

University of Madras.

'Pras'astisamgraha, by Pt. K. Bhujabali Shastri. This is a good descriptive Catalogue of Sanskrit & Prakrit Mss.'

—The Poona Orientalist.

PRINTED BY D. K. JAIN, SHREE SARASWATI PRINTING WORKS, LTD.
ARRAH.

जैन-सिद्धान्त-भास्कर

भाग ११ किरण २

THE JAINA ANTIQUARY

Vol. X. No. II.

Edited by

Prof. Hiralal Jain, M. A., LL.B.
Prof. A. N. Upadhye, M. A., D. Litt.
B. Kamata Prasad Jain, M. R. A. S.
Pt. K. Bhujabali Shastri, Vidyabhushana.

PUBLISHED AT
THE CENTRAL JAINA ORIENTAL LIBRARY
(JAINA SIDDHANTA BHAVANA)
ARRAH, BIHAR, INDIA.

Inland Rs. 3. Foreign 4s. 8d. Single Copy Rs. 1/8.

JANUARY, 1945.

विषय-सूची

CONTENTS.

आवश्यक निवेदन

कागज नियंत्रण के आदेशानुसार 'भास्कर' अत्यन्त क्षीणकाय में पाठकों के समक्ष उपस्थित करते हुए हमें खेद हो रहा है। विषय अधिक रखने के कारण सफाई एवं सुन्दरता के ऊपर भी कम ध्यान दिया गया है, संभव है हमारे लेखक और पाठकों को यह पसन्द न आवे, पर यह हमारी लाचारी अवस्था है। हमने इतने कम पृष्ठों में सामग्री अधिक से अधिक देने का प्रयत्न किया है। कोटा वृद्धि के लिये प्रान्तीय पेपर कन्ट्रोलर अफसर से हमारी लिखा पढ़ी चल रही है। हमें पूरी आशा भी है कि जैन समाज के हित को ध्यान में रखकर इस जैन इतिहास के उत्थापक पत्र के लिये हमारी प्रान्तीय सरकार पूरा कोटा देने की कृपा करेगी। हम अपने उन लेखकों से भी क्षमा याचना करते हैं, जिनकी रचनाओं एवं अन्वेषणों को इस अंक में स्थान नहीं दे सके हैं। साथ ही समालोचनार्थ ग्रन्थ प्रेषकों से भी निवेदन है कि जिन ग्रन्थों की समालोचना नहीं की गई है उनकी आलोचना कोटा मिल जाने पर यथा स्थान की जायगी।

—व्यवस्थापक जैन-सिद्धान्त-भास्कर

वार्षिक विषय-सूची

CONTENTS

श्रीजिनाय नमः

जैनपुरातत्त्व और इतिहास-विषयक षाण्मासिक पत्र

भाग ११ | जनवरी, १९४५ । माघ, वीर नि० सं० २४७१ | किरण २

सोमदेवसूरि और महेन्द्रदेव

[ले०— श्रीयुत पं० नाथूराम प्रेमी]

नीतिवाक्यामृतके संस्कृत-टीकाकारने लिखा है कि कान्यकुब्ज नरेश महाराजा महेन्द्रदेवने जो पूर्वाचार्य (चाणक्य) कृत अर्थशास्त्रकी दुर्बोधता और गुरुतासे खिन्न थे ग्रन्थकर्त्ता (सोमदेव) को इस सुबोध, ललित और लघु नीतिवाक्यामृतकी रचना करनेमें प्रवृत्त किया[1]। इस पर मैंने लिखा था[2] कि महेन्द्रदेवका समय वि० सं० ९६४ तक है, जब कि यशस्तिलककी रचना वि० सं० १०१६ में हुई है और चूंकि नीतिवाक्यामृतकी प्रशस्ति[3] में सोमदेवने अपनेको यशस्तिलक आदि ग्रन्थोंका कर्त्ता बतलाया है, इसलिए नीतिवाक्यामृत उससे भी पीछे रचा गया है, तब दोनों समसामयिक नहीं हो सकते।

'जैनसाहित्य और इतिहास' के प्रकाशित होने पर अबसे लगभग ढाई वर्ष पहले, जब कि मैं चालीसगाँवमें था, प्रज्ञाचक्षु पं० गोविन्दरायजी काव्यतीर्थने अपने एक कार्ड-में अन्य समाचारोंके साथ यह संकेत किया कि यशस्तिलकमें एक दो स्थल ऐसे हैं जिनसे मालूम होता है कि सोमदेव महेन्द्रदेवसे परिचित थे और इसलिए संस्कृत टीकाकारकी बात

१—अत्र तावदखिलभूपालमौलिलालितचरणयुगलेन ......कर्णकुब्जेन महाराजश्रीमहेन्द्रदेवेन पूर्वाचार्यकृतार्थशास्त्रदुरवबोधग्रन्थगौरवखिन्नमानसेन सुबोधललितलघुनीतिवाक्यामृतरचनासु प्रवर्तितः...... ......

२—जैन साहित्य और इतिहास पृ० ९७

३—इति सकलतार्किकचक्रचूडामणिचुम्बितचरणस्य, पंचपंचाशन्महावादिविजयोपार्जितोर्जितकीर्तिमन्दाकिनीपवित्रितत्रिभुवनस्य, परमतपश्चरणरत्नोदन्वतः श्रीमन्नेमिदेवभगवतः प्रियशिष्येण-वादीन्द्रकालानलश्रीमन्महेन्द्रदेवभट्टारकानुजेन, स्याद्वादाचलसिंहतार्किकचक्रवर्तिवादीभपंचाननवाक्क-ल्लोलपयोनिधिकविकुलराजकुंजरप्रभृतिप्रशस्तिप्रशस्तालंकारेण, षण्णवतिप्रकरण-युक्तिचिन्तामणिस्तव-महेन्द्रमातलिसंजल्प-यशोधरमहाराजचरित्रमहाशास्त्रवेधसा श्रीमत्सोमदेवसूरिणा विरचितं नीतिवाक्यामृतं परिसमाप्तम्।—स्याद्वादविद्यालय काशीकी हस्तलिखित प्रति जो आश्विन सुदी १० रविवार शक सं० १८३४ को कारकलनिवासी रंगनाथभट्ट द्वारा लिखी गई है। मुद्रित प्रतिकी प्रशस्तिमें नाममात्रका दो चार शब्दोंका फर्क है।

सही हो सकती है। परन्तु उस समय न तो मेरे समक्ष यशस्तिलक था और न दूसरी साधन-सामग्री, इसलिए उक्त संकेतोंपर कुछ विचार न हो सका।

परन्तु इधर जब जैनसिद्धान्त भास्कर (भाग १० किरण २) में डॉ० वी० राघवन एम० ए०, पी-एच० डी० का लेख[1] प्रकाशित हुआ और उन्होंने भी महेन्द्रदेव और सोमदेवके समसामयिक होने पर जोर दिया, तब इस प्रश्नपर विचार करना आवश्यक हो गया।

पहले मैंने पं० गोविन्दरायजीके संकेतोंके अनुसार यशस्तिलकको टटोला और उसमें मुझे दो स्थल विचार करने योग्य मिले -

१—यशस्तिलकके मंगलाचरणके पहले ही पद्यमें महोदय अर्थात् कन्नौज और देव अर्थात् महेन्द्रदेवका संकेत मिलता है—

श्रियं कुवलयानन्दप्रसादितमहोदयः।
देवश्चन्द्रप्रभः पुष्याज्जगन्मानसवासिनीम्॥

यह श्लोक श्लिष्ट है। एक अर्थ होता है चन्द्रप्रभ तीर्थंकरके पक्षमें और दूसरा देव या महेन्द्रदेवके पक्षमें। 'कुवलयानन्दप्रसादितमहोदयः' अर्थात् पृथ्वीमंडलके आनन्दके लिए प्रसादित किया है महोदय[2] को या कन्नौजको जिन्होंने ऐसे महेन्द्रदेव और जिनका महान् उदय पृथ्वीमंडलको आनन्दित करनेके लिए हुआ है ऐसे चन्द्रप्रभ भगवान्[3]।

२ यशस्तिलकके पहले आश्वासके अन्तमें—

सोऽयमाशार्पितयशाः महेन्द्रामरमान्यधीः।
देयात्ते सन्ततानन्दं वस्त्वभीष्टं जिनाधिपः॥

इस श्लोकके चारों चरणोंके प्रथम अक्षरोंमें ग्रन्थकर्त्ताने अपना 'सोमदेव' नाम प्रकट किया है। यह श्लोक भी श्लिष्ट है एक अर्थ होता है जिनाधिपके पक्षमें और दूसरा सोमदेवके पक्षमें। सोमदेवके पक्षमें 'महेन्द्रामरमान्यधीः' विशेषण स्पष्ट ही बतलाता है कि उनकी बुद्धिका महेन्द्रामर या महेन्द्रदेव सम्मान करते हैं।

उक्त दोनों श्लोकोंसे इस बातका आभास मिलता है कि कान्यकुब्जनरेश महेन्द्रदेवसे सोमदेवसूरि परिचित थे और इसलिए उनकी प्रेरणासे नीतिवाक्यामृतका रचा जाना सम्भव है।

अब रहा समय के व्यवधानका प्रश्न सो डा० राघवनके कथनानुसार कन्नौजनरेश महेन्द्रपालदेव प्रथमकी जगह महेन्द्रपालदेव द्वितीयको मान लेनेसे हल हो जाता है।

१—नीतिवाक्यामृत आदिके रचयिता श्रीसोमदेवसूरि।

२—महोदयः कान्यकुब्जे—मेदिनी-कोष। कान्यकुब्जं महोदयं—हेमनाममाला।

३—कुवलयं पृथ्वीमंडलं तस्य आनन्दाय प्रसादितः प्रसन्नीकृतः महान् अस्तमयरहित उदयो येन स तथोक्तः।—श्रुतसागरसूरि।

महेन्द्रपालदेव द्वितीयका एक शिलालेख[1] वि० सं० १००३ का प्राप्त हुआ है और दूसरा वि० सं० १००५ का उसके उत्तराधिकारी देवपालदेव[2] का। अतएव १००५ के पहले ही नीतिवाक्यामृतकी रचना हुई होगी।

परन्तु वि० सं० १०१६ में समाप्त हुए यशस्तिलकका उल्लेख नीतिवाक्यामृतकी अन्तिम प्रशस्तिमें है, इसलिए नीतिवाक्यामृतको १०१६ के बादका मानना पड़ता है और तब द्वि० महेन्द्रदेव उसके प्रेरक नहीं बन सकते।

इस पर डा० राघवन कहते हैं कि "एक ग्रन्थकर्त्ताकी रचनाओंका उल्लेख उसके अन्य ग्रन्थकी प्रशस्तिमें होने पर पूरा विश्वास नहीं किया जा सकता, अर्थात् यह मानना बिल्कुल निरापद नहीं है कि चूँकि नीतिवाक्यामृतकी प्रशस्तिमें यशस्तिलकका उल्लेख है, इसलिए यह उसके बादकी रचना है। यह तभी मान्य हो सकता है कि जब यह निश्चय हो जाय कि लिपिकर्त्ताओंने सन्धियों और प्रशस्तियोंमें हस्तक्षेप नहीं किया है।"

बेशक यह संभव है कि सोमदेवकी समस्त रचनाओंसे परिचित लिपिकर्त्ताने अपनी जानकारीके आधारपर प्रशस्तिमें यशस्तिलकका भी नाम शामिल कर दिया हो। लिपि-कारोंने इस तरहकी गड़बड़ेंकी भी है फिर भी इसके लिए एकाध प्रमाण और भी चाहिए जिससे इस बातकी पुष्टि होती हो कि नीतिवाक्यामृत पहलेकी रचना है।

अभी तक मुझे एक ही प्रमाण ऐसा मिला है और वह यह कि नीतिवाक्यामृतकी प्रशस्तिमें सोमदेवने अपने गुरु नेमिदेवको पचपन महावादियोंको पराजित करनेवाला बतलाया है और यशस्तिलककी प्रशस्तिमें तिरानवे[3] महावादियोंको जीतनेवाला। यदि उक्त संख्यायें सचाईके साथ लिखी गई हैं, अन्धाधुन्ध अतिशयोक्तियाँ नहीं हैं, तो इससे यह सिद्ध हो जाता है कि नीतिवाक्यामृत यशस्तिलकसे पहले बन चुका था। नीतिवाक्यामृत-की रचनाके समय तक नेमिदेवने ५५ वादियोंपर विजय प्राप्त की थी और फिर उसके बाद यशस्तिलककी रचनाके समय तक ३८ वादियोंको और भी जीता। यदि नीतिवाक्यामृत पीछे बना होता तो उक्त संख्यायें इससे उलटी होतीं।

एक बात और है। यदि नीतिवाक्यामृत यशस्तिलकके बादका होता तो, चूँकि वह शुद्ध राजनीतिका ग्रन्थ है, इसलिए किसी राष्ट्रकूट या चालुक्य राजाके लिए ही लिखा जाता और इसका उसमें उल्लेख भी होता। परन्तु ऐसा कोई उल्लेख नहीं है। डा० राघवन प्रथम महेन्द्रपालदेवके लिए भी नीतिवाक्यामृतका रचा जाना असम्भव नहीं समझते; परन्तु महेन्द्रदेव प्रथमके शिलालेख और ताम्रपत्र वि० सं० ९५० से ९६४ तक मिले हैं और उनके उत्तराधिकारी महीपालका वि० सं० ९७१ का लेख मिला है। अतएव नीतिवाक्यामृतको जब वि० सं० ९६४ के लगभग लिखा गया माना जाय, तब कहीं संस्कृत टीकाकारकी बात ठीक बैठे, परन्तु यह समय यशस्तिलककी रचनाके ५२ वर्ष पहले जा पहुँचता है और

१-२—देखो ओझाजीका 'राजपूतानेका इतिहास' प्रथम खंड, पृ० १६४

३—तस्याभवत्तपः स्थिते स्त्रिनवतेर्जेतुर्महावादिनाम्। —यशस्तिलक

चूँकि सोमदेव कमसे कम वि० सं० १०२३ तक जीते रहे हैं जिस समय कि लेमुलवाड[1] का दानपत्र लिखा गया था। इसलिए नीतिवाक्यामृतको उनकी बहुत बाल्यकालकी रचना मानना होगा जो कि उसकी प्रौढ़ता गम्भीरताको देखते हुए ठीक नहीं जँचता।

नीतिवाक्यामृतकी प्रशस्तिमें सोमदेवने अपनेको 'महेन्द्रमातलि-संजल्प' ग्रन्थका भी कर्त्ता बतलाया है। यह ग्रन्थ अभी तक नहीं मिला है, परन्तु इसका नाम भी उनके और महेन्द्रदेवके परिचयकी ओर संकेत करता है। आश्चर्य नहीं जो उक्त ग्रन्थमें कन्नौज-नरेश महेन्द्रदेव और उनके सारथीका ही राजनीतिसम्बन्धी कथोपकथन लिपिबद्ध किया गया हो। 'मातलि' शब्द इन्द्रके सारथीके अर्थमें और सारथी मात्रके लिए व्यवहृत होता है। महेन्द्र-मातलिका प्रयोग भी श्लिष्ट जान पड़ता है। महेन्द्रसे देवराज इन्द्र और कन्नौजनरेश महेन्द्रदेव दोनोंका बोध हो सकता है।

महेन्द्रदेव द्वितीयकी प्रेरणासे नीतिवाक्यामृत लिखा गया होगा, इसकी संभावनाको एक और उल्लेखसे बल मिलता है।

प्रथम महेन्द्रदेवके पुत्र और द्वितीय महेन्द्रदेवके पितृव्य महीपालदेवके दो शिलालेख[2] वि० सं० ९७१ और ९७४ के मिले हैं। राष्ट्रकूट इन्द्रराज तृतीय (नित्यवर्ष) से इसका युद्ध हुआ था जिसमें राठोड़ोंके कथनानुसार महीपाल हार गया था। 'चण्डकौशिक' नाटककी प्रस्तावनामें आर्य क्षेमीश्वरने लिखा है—

"आदिष्टोस्मि श्रीमहीपालदेवेन यस्येमां पुराविदः प्रशस्तिगाथामुदाहरन्ति—

उन महीपालदेवने मुझे आज्ञा दी है, पुराविद् लोग जिनकी इस प्रशस्ति गाथाको उद्धृत करते हैं

यः संश्रुत्य प्रकृतिगहनामार्यचाणक्यनीतिं जित्वा नन्दान्कुसुमनगरं चन्द्रगुप्तो जिगाय।
कर्णाटत्वं ध्रुवमुपगतानद्य तानेव हन्तुं दोर्दर्पाढ्यः स पुनरभवच्छ्रीमहीपालदेवः॥

अर्थात् जिस चन्द्रगुप्तने स्वभावसे ही गहन आर्य चाणक्यकी नीतिका आसरा लेकर नन्दको जीता और कुसुमपुर (पटना) में प्रवेश किया, वही चन्द्रगुप्त कर्नाटकमें जनमे हुए उन्हीं नन्दों (राष्ट्रकूटों) को मारनेके लिए फिरसे महीपालदेवके रूपमें अवतरित हुआ है।

इससे मालूम होता है कि राठोड़ोंपर चढ़ाई करते समय महीपालने आर्य चाणक्यकी नीति अर्थात् चाणक्यके अर्थशास्त्रका अवलम्बन किया था और उसे आर्यक्षेमीश्वर प्रकृति-गहन बतलाते हैं, तब आश्चर्य नहीं जो उनके उत्तराधिकारी महेन्द्रपालदेव (द्वितीय) ने उसी गहन अर्थशास्त्रको सोमदेवसूरिसे कहकर सुगम और लघु बनानेके लिए कहा हो।

सोमदेवसूरिने यशस्तिलककी रचना राष्ट्रकूट कृष्ण तृतीयके समयमें उनके चौलुक्य-वंशी सामन्त वद्दिगकी राजधानीमें की थी और उनके पुत्र अरिकेसरीने अपने पिताके बनवाये हुए 'शुभधाम जिनालय' के लिए सोमदेवको दान भी दिया था। ऐसी दशामें प्रश्न होता है कि सोमदेव दक्षिण कर्नाटकसे इतनी दूर उत्तरके कन्नौजके राजाओंके सम्पर्कमें कैसे आये होंगे ?

१—देखो, जैनसाहित्य और इतिहास पृ० ९०-९२ २—इं० ए० जिल्द १२, पृ० १६३-६४

डा० राघवनने बतलाया है कि राष्ट्रकूटोंका कन्नौजके प्रतिहारोंसे बहुत सम्बन्ध रहा है। ऊपर जिस महीपालदेवका उल्लेख किया गया है, म० म० प्रो० मीराशीके अनुसार उसे राष्ट्रकूट गोविन्द चतुर्थकी कन्या व्याही गई थी[1] और उसीके समय में वि० सं० ९७१ में राष्ट्रकूट इन्द्र तृतीयने कन्नौजको नष्ट-भ्रष्ट किया था। कन्नौजके इस आक्रमणमें चौलुक्य समन्त नरसिंहने भाग लिया था जिसके पोते बद्दिगकी राजधानीमें यशस्तिलक पूर्ण हुआ था। बद्दिगके पिता अरिकेसरी जैनधर्मके अनुयायी थे, संभव है पितामह नरसिंह भी जैनधर्मपर प्रीति रखने वाले हों और इसलिए उनकी प्रेरणा या प्रार्थनासे सोमदेवके संघका दक्षिणकी ओर आना सर्वथा संभव है। पहले वे उत्तर भारतमें ही रहे होंगे।

सोमदेवके दादा गुरु यशोदेव गौडसंघके थे। मैंने उस समय कल्पना की थी कि कर्नाटकका गोल्लदेश ही शायद गौड हो; परन्तु डा० राघवनने बतलाया है कि गौडसंघ गौड या बंगालका ही होगा। और अब यह मुझे भी ठीक मालूम होता है।

आचार्य जिनसेनके पुन्नाट संघके विषयमें विचार करनेके बादसे मैं इस निश्चय पर पहुँचा हूँ कि जिन जैन संघोंके नाम देशवाची हैं वे उस देशसे बाहर अन्यत्र जाने पर ही उस नामसे प्रसिद्ध हुए हैं। पुन्नाट (कर्नाटक) का संघ पुन्नाटसे बाहर जब काठियावाड़में जा रहा, तब पुन्नाट संघ कहलाने लगा। संघोंको माथुरसंघ, लाडबागड़ संघ आदि नाम भी इसी तरह प्राप्त हुए हैं। सो यशोदेवका संघ पहले गौड़देशमें होगा और वहाँसे निकलनेपर ही वह गौडसंघ कहलाया होगा।

म० म० ओझाजीके अनुसार प्राचीन कालमें गौड[2] नामके दो देश थे। एक तो पश्चिमी बंगाल और दूसरा उत्तरी कोसल अर्थात् अवधका एक भाग। कन्नोजका साम्राज्य उस समय बहुत दूर दूर तक फैला हुआ था, गौडपर भी उसका अधिकार रहा है, अतएव यशोदेवका गौडसंघ उस समयकी प्रसिद्ध राजधानी कन्नोजमें विहार करते करते पहुँच सकता है और प्रतीहार राजाओंके सम्पर्कमें आ सकता है। सोमदेवसूरि पर भी कन्नोज-नरेशकी दृष्टि पड़ सकती है और वे उनसे अपने लिये नीतिवाक्यामृतकी रचना करा सकते हैं।

सारांश यह कि (१) नीतिवाक्यामृतकी रचना कन्नोजके प्रतिहारवंशी राजा महेन्द्रपालदेवकी प्रेरणासे हो सकती है और वह बहुत करके द्वितीय महेन्द्रपालदेव होगा। (२) सोमदेवका संघ मूलमें गौड देशका था, यशोदेवके नेतृत्वमें वह गौडसे बाहर कन्नोज तरफ गया होगा और वहाँ यशोदेवके प्रशिष्य सोमदेवके पाण्डित्यका महेन्द्रदेवपर प्रभाव पड़ा होगा। (३) राष्ट्रकूटों और चालुक्य सामन्तोंके परिचय या प्रार्थनासे सोमदेव उत्तरसे ही दक्षिणकी तरफ आकर रहे होंगे। [३-७-४४ बम्बई]

१—राजशेखरकी कर्पूरमंजरीका कुन्तलेश्वर वल्लभराज राष्ट्रकूट गोविन्द चतुर्थ था।

२—राजपूतानेका इतिहास, पहला खंड, पृ० २४०

भट्टारक यशःकीर्ति

[ले०—श्रीयुत पं० परमानन्द जैन शास्त्री]

दिगम्बर सम्प्रदाय में यशःकीर्ति नाम के अनेक विद्वान् हो गए हैं*। परन्तु यहां जिन यशःकीर्ति का परिचय पाठकों को कराया जा रहा है वे उन सबसे भिन्न प्रतीत होते हैं। यह यशःकीर्ति भट्टारक थे, जो काष्ठासंघ के माथुरान्वय और पुष्करगण में भट्टारक सहस्रकीर्ति के पट्ट पर प्रतिष्ठित होनेवाले भ० गुणकीर्ति के शिष्य और लघु भ्राता थे। जैसा कि उनके 'हरिवंश पुराण' की प्रशस्ति के निम्न पद्यों से प्रकट है :

> इह कट्ठसंघे माहुरहं गच्छे, पुक्खरगणे मुणिवर वहु वि लच्छे।
> संजायो वीरजिणक्कमेण, परिवाडिय जइवर णिहयएण
> सिरिदेवसेण तह विमलसेणु मुणिधम्मसेणु तह भावसेणु।
> तहो पट्टि उवरणाउ सहसकित्ति, अणवरय भमिय जए जासु कित्ति।
> तहो सीसु सिद्ध गुणकित्ति णामु, तव तावें जासु सरीरु खामु।
> तहो बंधउ जस मुणि सीसु जाउ, आयरिय सुरणगासिय दोसु राउ॥"

यह पट्ट गोपाचल (ग्वालियर) में प्रतिष्ठित था और इसने तोमरवंशीय राजा डूंगरसिंह के राज्य में खूब प्रसिद्धि प्राप्त की थी। राजा डूंगरसिंह इस वंश का बहुत प्रतापी एवं पराक्रमी शासक हुआ है। इसे जैन धर्म से विशेष प्रेम था। इसकी पट्ट महिषी का नाम

---

*एक यशःकीर्ति जगत्सुन्दरी प्रयोगमाला के कर्ता जो बागडसंघ के भ० विमलकीर्ति के शिष्य और रामकीर्ति के प्रशिष्य थे।

दूसरे भ० विश्वभूषण के शिष्य जो माथुर संघ के नंदी तटगण के हैं।

तीसरे प्रबोधसार के कर्ता हैं।

चौथे माघनन्दि तथा गोपालनन्दि के शिष्य; इनका परिचय 'जैन लेख संग्रह के ५५ वें लेख में मिलता है।

पांचवें भ० सकलकीर्ति के शिष्य और मूलसंघ के भट्टारक पद्मनन्दी के प्रशिष्य तथा भ० शुभचन्द्र के गुरु थे।

छठवें यशःकीर्ति 'धर्मशर्माभ्युदय' की 'संदेहध्वान्तदीपिका' टीका के कर्ता, जो भ० ललितकीर्ति के शिष्य थे

सातवें भ० रतनचन्द्र के दीक्षित शिष्य और भ० गुणचन्द्र के गुरु।

आठवें नेमिचन्द्र के पट्ट शिष्य।

नौवें हेमचन्द्र के प्रपट्ट और पद्मनन्दी के पट्ट शिष्य तथा जो भ० क्षेमकीर्ति के गुरु थे।

चंदादे था जो गुणवती और रूपवती थी। इनके पुत्र का नाम कीर्तिसिंह था,× जो अपने पिता के समान ही सुयोग्य शासक और पराक्रमी वीर था। इनके राज्यकाल में कितनी ही जैन प्रतिमाओं की प्रतिष्ठा की गई, और जैन मंदिरों तथा जैन ग्रन्थों का निर्माण-कार्य हुआ था। भट्टारक यशःकीर्ति ने वि० सम्वत १४८६ में इन्हीं राजा डूंगरसिंह के राज्यकाल में कविवर विबुध श्रीधर के 'भविष्यदत्तचरित्र' संस्कृत की एक प्रति अपने ज्ञानावरणी कर्म के क्षयार्थ लिखाई थी जैसा कि उसकी निम्न लिखित पुष्पिका से प्रकट है :—

"संवत् १४८६ वर्षे आषाढवदि ६ गुरुदिने गोपाचलदुर्गे राजा डूंगरसीह (सिंह) राज्य-प्रवर्तमाने श्रीकाष्ठसंघे माथुरान्वये पुष्करगणे आचार्यश्रीसहस्रकीर्तिदेवास्तत्पट्टे आचार्य-श्रीगुणकीर्तिदेवास्तच्छिष्यश्रीयशःकीर्तिदेवास्तेन निजज्ञानावरणीकर्मक्षयार्थं इदं भविष्य-दत्तपंचमीकथा लिखापितम् ॥"

ऊपर की लेखक-पुष्पिका से स्पष्ट है कि सं० १४८६ में डूंगरसिंह का राज्य था, और यह राज्यसत्ता उक्त संवत् से पहले ही किसी समय राजा डूंगरसिंह के हाथ में आई थी, तथा सं० १५१० के मूर्ति-लेख से यह भी प्रकट है कि उस समय तक ग्वालियर में डूंगरसिंह का ही राज्य था, किन्तु सं० १५२१ से पहले ही राज्यसत्ता उनके पुत्र कीर्तिसिंह के हाथ में आ गई थी*। भट्टारक यशःकीर्ति सं० १४८६ तक भट्टारक पद पर आसीन नहीं हुए थे। यशःकीर्ति विद्वान थे, और अपभ्रंश भाषा में ग्रन्थ-रचना करने में प्रवीण थे। कविवर रइधू ने जो इनके ही समकालीन थे, यशःकीर्ति के शिष्यों के अनुरोध से कितने ही ग्रन्थों की रचना की है और ऐसा करने में यशःकीर्ति ने अनुमति प्रकट की है। रइधू ने अपने सन्मति चरित्र में यशःकीर्ति का निम्न शब्दों में उल्लेख किया है :—

"भव्वकमल सरबोह पयंगो, वंदिवि सिरि जसकित्ति असंगो।"

रइधू ने अपना सुकौशलचरित्र सं० १४९६ मे बनाया था उससे ठीक एक वर्ष बाद भ० यश कीर्ति ने सं० १४९७ वें में पाण्डवपुराण की रचना की है। इनके जीवन सम्बन्ध की यद्यपि किसी घटना का और न जीवन चर्या-विषयक ही कोई उल्लेख मुझे प्राप्त हो सके। परन्तु फिर भी इनका समय विक्रम की १५ वीं शताब्दि का उत्तरार्ध सुनिश्चित है।

भ० यशःकीर्ति ने 'पाण्डव पुराण' की रचना साधु वील्हा के पुत्र हेमराज की प्रेरणा से की है। यह योगिनीपुर (दिल्ली) के निवासी थे और अग्रवाल वंश में उत्पन्न हुए थे। ग्रन्थ-कर्त्ता ने यह ग्रन्थ उन्हीं के नामांकित किया है। ग्रन्थ मे हेमराज की प्रशंसा करते हुए

× तहिं डूंगरिंदु णामेण राउ, अरिगण सिरम्मि संदिन्न घाउ।
तुंवर वंसहं जो ओसिंदु, जि पवलहं मिच्छहं खणिउ कंदु।
तह पट्ट धरणि णं रूव लच्छि, णामें चंदादे अइ सुदच्छि।
तहु पुत्त कित्ति सिंघु जि गुणल्लु, जो राइणीय जाणण छइल्लु। —पद्मपुराणे कवि रइधू

*देखो अनेकान्त।

बतलाया है कि वे सत्यवादी, व्यसनरहित, जिनपूजक, पर स्त्री के त्यागी, उदार तथा परोपकारी थे, और गृहस्थ के आवश्यक कर्मों का पालन करते थे, तथा सुलतान मुबारक शाह के वे मंत्री थे।* इन्होंने एक जिन चैत्यालय बनवाया था। राजाओं के द्वारा मान्य थे और पुत्र पौत्रों आदि से सम्पन्न थे×। इनकी माता का नाम धेनाही और पिता का नाम साधु-वील्हा था, तथा धर्मपत्नी का नाम गंधा था। वह बड़ी सती साध्वी और धर्मपरायण थी। ग्रन्थकर्त्ता ने ग्रंथ की प्रत्येक संधि के शुरू में संस्कृत पद्यों में हेमराज के व्यक्तित्व की प्रशंसा करते हुए उनके लिये मंगल की कामना की है। उन पद्यों पर से हेमराज की धर्मनिष्ठा और उदारता का बहुत कुछ परिचय मिल जाता है, वे दीन दुखियों का दुःख हरते थे और परोपकारादि सत्कर्मों में अपनी लक्ष्मी का सदुपयोग करते थे। ग्रन्थ में इनके कुटुम्ब का विस्तृत परिचय दिया गया है जिसे फिर कभी अवसर मिलने पर देने का विचार है।

इनकी दूसरी रचना 'हरिवंशपुराण' है जिसे उन्होंने वि० सं० १५०० में समाप्त किया है। यह ग्रन्थ भी अग्रवालवंशी गर्गगोत्रीय साहू दिवड्ढा के अनुरोध से बना है और उन्हीं के नामांकित किया है। ग्रन्थकर्ता ने अन्तिम प्रशस्ति में ग्रन्थ बनवाने वाले दिवड्ढा साहू के वंशादि का परिचय दिया है। और बतलाया है कि वे योगिनीपुर के वासी थे, जहां पर पं० डूंगरसिंह जी धर्मपक्ष का समर्थन किया करते। साहु दिवड्ढा सेठ सुदर्शन के समान शुद्ध मनवाले थे, बड़े ही धर्मपरायण, श्रावक के आवश्यक कर्तव्यों के पालक, दयालु, एकादश प्रतिमाओं के अनुष्ठाता, द्वादश व्रतों के धारक, शरीर से आत्मा को भिन्न समझने वाले भेद विज्ञानी थे। उन्होंने अपने पवित्र मन से ही यह हरिवंश चरित्र बनवाया है।

तीसरी रचना 'आदित्यवार कथा' है जिसे रविव्रत कथा भी कहते हैं। इससे पहले की कोई दूसरी रविव्रत कथा मेरे देखने में नहीं आई।

'चंदप्पहचरउ' भी इन्हीं का बतलाया जाता है, परन्तु ग्रन्थ को देखने से वह इन यशःकीर्ति की कृति मालूम नहीं होती; क्योंकि चंद्रप्रभचरित में यशःकीर्ति ने गणि कुन्दकुन्द, मुनीन्द्र, समन्तभद्र, अकलंकदेव, देवनन्दि, जिनसेन नाम के आचार्यों का उल्लेख किया है। परन्तु पांडवपुराण और हरिवंशपुराण में इन आचार्यों का कोई उल्लेख नहीं किया। चंद्रप्रभचरित्र में उसके रचना का काल भी नहीं बतलाया गया जब कि पाण्डव पुराणादि में है।

---

*सुरताण ममारख तणइं रज्जे, मंतितणो थिउ पिय भार कज्जे। —पाण्डवपुराण प्रशस्ति

× जेण करावउ जिण चेयालउ, पुण्णहेउ चिउ रय पर कालउ। —पाण्डवपुराण प्रशस्ति

प्रीणाति यः कुवलयं सकलं समुद्यत्योभिखल्यमृतमस्तसमस्ततापं।
सौम्यद्युतिः स जिनराजसुपूर्णचन्द्रः श्रीहेमराज हृदयाब्धि समृद्धयेऽस्तु ॥१॥

वदान्यो बहुमानश्च सदोद्योतो जिनार्चने।
परस्त्री विमुखो नित्यं हेमराजः स नंदतात् ॥२॥

ये दोनों पद्य पाण्डवपुराण में दूसरी संधि के बाद दिये हुए हैं।

दूसरे चंद्रप्रभचरित्र की रचना गुजरात देश के उम्मत गांव के हूंबड कुलावतंश कुअरसिंह के पुत्र सिद्धपाल के अनुरोध से की गई है, जब कि पाण्डवपुराणादि की रचना देहली के सज्जनों की प्रेरणा से हुई है।

तीसरे चंद्रप्रभचरित्र की संधियों में—"इय सिरि चंदप्पहचरिए महाकइ जसकित्ति विरइए सिद्धपाल सवणभूसणे सिरि चंदप्पह सामिणिव्वाण गमणो णाम एयारहमो (परिच्छेओ) समत्तो।" जब कि हरिवंशादि उभय ग्रन्थों की प्रशस्तियों में यशःकीर्तिके साथ महाकवि विशेषण लगा हुआ नहीं है उनमें भ० गुणकीर्ति का शिष्य यशःकीर्ति ऐसा उल्लेख पाया जाता है जैसा कि उसकी निम्न पुष्पिका से प्रकट है—"इय पंडुपुराणे सयलजणमणसवणसुहयरे सिरि-गुणकित्ति शिष्य जसकित्ति विरइए साधुवील्हा पुत्त हेमराज णामंकिए—।" चूंकि चंदप्पहचरिउ में ऐसा कोई उल्लेख नहीं पाया जाता, जिसमें वह सिद्धपाल के नामांकित किया हो और गुणकीर्ति का नाम भी स्पष्ट रूप में लिखा हुआ हो। पाण्डवपुराणादि के समान चंद्रप्रभ-चरित में रचनाकाल भी दिया हुआ नहीं है। इन्हीं सब कारणों से उक्त ग्रन्थ को भ० यशःकीर्ति का मानने में संदेह हो जाता है। सम्भव है, अन्वेषण करने पर यह ग्रन्थ इन यशःकीर्ति का सिद्ध हो जाय अथवा अन्य किसी दूसरे यशःकीर्ति का बनाया हुआ ही सिद्ध हो, कुछ भी हो, इस विषय में खोज होने की ज़रूरत है।

भंडारा जिला में जैनपुरातत्त्व

[ले०—श्रीयुत बाबू कामता प्रसाद जैन एम० आर० ए० एस०]

मध्यप्रान्त के नागपुर डिवीज़न में एक जिला भंडारा है। बारहवीं शताब्दि के एक शिलालेख में इसका नाम 'भानार' लिखा मिला है। इस जिले में कई प्राचीन स्थान हैं; जिनमें अदूयार या अडयाल नामक स्थान पर जो भंडारा से दक्षिण की ओर १७ मील दूर है, एक प्राचीन जैन मंदिर महावीर स्वामी का है। वहां भूगर्भ से एक पाषाणमूर्ति भ० पार्श्वनाथ की निकली थी। किन्तु भंडारा खास में भी जैनों के प्राचीन सम्बन्ध की द्योतक कई कीर्तियाँ उपलब्ध हैं। भंडारा में श्रीधन्नालाल सीतारामजी नाकाडे एक उत्साही बन्धु हैं। उनकी यह तीव्र आकांक्षा है कि भंडारा जिले के जैनपुरातत्त्व का उद्धार हो। किन्तु हतभाग्य से अपने यहां ऐसी कोई संस्था नहीं है जो इस कार्य को करना अपना कर्तव्य समझता हो! आज भंडारा ही क्या? अनेक स्थानों पर जैन कीर्तियां पड़ी हुई उद्धार की प्रतीक्षा कर रही हैं। श्रीनकाडेजी ने भंडारा का जो विवरण लिख कर भेजा है उसका सार यहां दिया जाता है। खंडित मूर्तियों के फोटो लिवाकर भेजने की कृपा भी आपने की है; जिसके लिये हम उनके आभारी हैं।

श्रीनकाडेजी ने लिखा है कि भंडारा पुराने जमाने में भंडार बस्ती नाम से प्रसिद्ध था। यदि बस्ती का अर्थ जैनमंदिर लिया जावे तो यह नाम ही भंडारा के जैनत्व का सूचक है और जब हम भंडारा और उसके आसपास जैन कीर्तियों को बिखरा पाते हैं तो, इस जन श्रुति को तथ्यपूर्ण पाते हैं कि भंडारा जैन बस्ती था। सन् १७३६ में यहां के शासक श्रीदौलतसिंहजी थे; जिनकी रानी रतनकुमारी थी। इस राज दम्पति ने नागपुर के राजा रघुजी भोंसले की सहायता की थी और दोनों ही रणभूमि में वीरगति को प्राप्त हुए थे। तब से भंडारा स्वतन्त्र राज्य न रह कर नागपुर राज्य में मिला लिया गया।

पुराने जमाने में लोग कहते हैं कि, यहां नन्द नाम का राजा राज्य करता था, जिसका उत्तराधिकारी यदु हुआ। यदु के पश्चात् भानु नाम का राजा प्रसिद्ध हुआ। इन्हीं भानु राजा के नाम से भानुनगर बसाया गया। भानुनगर का अपभ्रंश 'भानार' है, जो भंडारा का पुराना नाम है।

भंडारा का किला बहुत पुराना है--उसके परकोट की दीवाल इतनी चौड़ी है कि उस पर मोटर चल सकती है। किले में ऊपर चांदशाह की कब्र है। इस किले में पांच-छः बुर्ज हैं। आठ-नौ महीने हुये जब एक बुर्ज गिर गया और उसका जीर्णोद्धार किया जाने लगा। उस समय मलवे को खोदने में मजदूरों को दो-तीन दिगम्बर जैन मूर्तियाँ मिलीं। मलवे को हटाते हुए कैदियों की असावधानी से ये मूर्तियां खंडित हो गई हैं। एक खड्गासन मूर्ति ५-६ फीट ऊंची है— खेद है, उसका शीश खंडित है। किले में कैदी होशियार शिल्पी था उसने सीमेंट का शीश बनाकर मूर्ति में लगा दिया है। यह मूर्ति जेल के सामने बड़ के वृक्ष के सहारे रक्खी हुई है। मूर्ति के निम्न भाग में एक भक्त दम्पति हाथ जोड़े खड़े हैं, जो राजा और रानी हो सकते हैं। वस्त्र कमर से ऊपर नहीं हैं। स्त्री चोली पहने हुये है—उसके केशपास सुंदर और सुसज्जित हैं। मूर्ति का आसन खंडित होने के कारण उसका लेख यदि था तो नष्ट होगया है। इस मूर्ति के साथ दो अन्य मूर्तियां भी रक्खीं हुई हैं, किन्तु वे बिलकुल टूटी-फूटी हैं। उनमें एक संभवतः आदिनाथजी की और दूसरी २४ सी पट है। किले के अन्दर दीवारों में बहुत-सी जिन मूर्तियां लगा दीं गई हैं। कभी कभी यहां दैवी चमत्कार दिखते थे; परन्तु पशुबलि देना जब से लोगों ने प्रारम्भ किया तभी से वह बंद हो गये। किले में एक लेख भी है; परन्तु बहुत ऊंचे पर है, इसलिए उसकी प्रतिलिपि नकाडेजी नहीं भेज सके। उस लेख की नकल यदि प्राप्त हो सके तो इस किले के इतिहास पर प्रकाश पड़े। हमने यवतमाल के श्रीमहाजनजी को लिखा है कि वह इस स्थान का निरीक्षण करें। यदि वह गये और लेख की प्रतिलिपि ले आये, तो इतिहास का अच्छा कार्य होगा। कहते हैं, इस किले में कई भोंहरे रामटेक, पवनी, अम्बागढ़ आदि की ओर गये हैं। रामटेक की ओर जो भोंहरा गया है उसी के पास से उपर्युक्त मूर्तियां मिली हैं। नकाड़ेजी को एक पुलिसमैन ने बताया था कि वह उस भौंहरे के भीतर कुछ दूर तक गया और उसने उसमें कई जैन मूर्तियां रक्खीं हुई देखी हैं। किले के भूगर्भ से लोगों को सम्पत्ति भी मिली है।

भंडारा में किले के अतिरिक्त 'खाम तालाब' भी एक प्रसिद्ध स्थान है, जिसके चारों तटों पर एक-एक पुराना मंदिर बना हुआ है। दक्षिण में देवी का, पश्चिम में दत्त का, और उत्तर में महादेव का मंदिर है। दक्षिण दिशावाले देवी के मंदिर में आदिनाथ प्रभु की एक मूर्त्ति है और दूसरी मूर्ति चौबीस तीर्थंकरों की खंडित है। मन्दिर के आगे कई सिर मूर्तियों के टूटे हुये पड़े हैं। यह किसी विधर्मी की अज्ञानता का परिणाम है। इनमें नागे लोग रहते हैं। अधिक परिताप का विषय तो यह है कि अहिंसा के अवतार तीर्थंकरों की इन मूर्तियों के आगे निरापराध बकरों की बलि चढ़ाई जाती है! यह जैन शासन के घोर अधःपतन का प्रत्यक्ष प्रमाण है। नकाड़ेजी लिखते हैं कि इस अधर्म को मेटिये! इन मूर्त्तियों के चित्र प्लेट नं० २ में अङ्कित हैं।

खाम तालाब से उत्तर की ओर तीन-चार फर्लांग पर 'बालपुरीका मठ' नामक स्थान है। यहां एक मन्दिर और चार छत्रियां गुम्मजवाली हैं। छत्रियों की प्रत्येक महराव (Arch) पर हाथी, घोड़ा, मछली आदि २४ चिन्ह हैं, जो इसका जैन सम्बन्ध प्रकट करते हैं। मन्दिर में दो खंडित जिनमूर्तियां एक ओर पड़ीं हुई हैं। बाहर के सिंहद्वार के हाथी पर दो मूर्तियां ढाल-तलवार लिये अंकित हैं। अब इस मन्दिर में महादेव जी स्थापित किये गये हैं।

भंडारा जिले में करीब चार हजार जैन कलार रहते हैं; जो कलचुरी राजाओं के वंशज अनुमान किये गये हैं। परदेशी कलारों की संख्या भी ४-५ हजार है। सानगड़ी, लाखणी और अडयाल में जैन कलारों की बस्ती अधिक है।

भंडारा और पवनी वेनगंगा के तट पर बसे हुये हैं। नकाडे जी वेनगंगा को वेगवती नदी और पवनी को पोदनपुर अनुमान करते हैं। भंडारा के पास ही कई पहाड़ियों में बहुत से पुराने भोंहरों के कारण यह प्रदेश भूताचल के नाम से प्रसिद्ध था। कमठ ने भूताचल पर्वत पर ही वास किया था। अतः यह स्थान बहुत प्राचीन है।

सानगड़ी में भी जैन मूर्तियां भग्नावस्था में पड़ीं हुई हैं। अडौल नामक ग्राम से चार मील दूर भारुल गांव है। वहां एक धीमर के घर में दो तीन जिन मूर्तियां भूगर्भ से निकली थीं, जो अब भी उसके यहां मौजूद हैं। वर्धा के श्रीहिरामाव चवडे ने उनको देखा है।

निस्सन्देह भंडारा जिला प्राचीनकाल से जैनधर्म का केन्द्र रहा प्रतीत होता है—एक समय वहाँ जैनधर्म का गौरवशाली अस्तित्व था। यदि इस जिले के जैन मन्दिरों में विराजमान जिन मूर्तियों के लेखों और शास्त्रों की प्रशस्तियों का संग्रह यवतमाल का जैन संशोधक मंडल कर सके तो इस प्रान्त का जैन इतिहास प्रकट हो सकता है। नकाड़ेजी का आभार हम पुनः स्वीकार करते हैं।

नोट—लेखक ने 'भास्कर' में प्रकाशित करने के लिये दो चित्र भी भेजे थे, पर आर्टपेपर न मिलने से हम चित्रों को प्रकाशित नहीं कर सके हैं।

—व्यवस्थापक

का बहुत बड़ा महत्व है और उसका वही स्थान है जो हिन्दू सम्प्रदायमें गीताका। यद्यपि तत्त्वार्थसूत्रकी इस अपनी महत्ताको देखकर उसे दोनों—दिगम्बर और श्वेताम्बर परम्पराओंने अपनाया और अपना सिद्ध करने के लिये अपने ढंगसे व्याख्याएँ, टीकाएँ भाष्य, वृत्ति आदि लिखीं तथा अपनी परम्पराके मत भेद प्रदर्शक कतिपय सिद्धान्त उसके सूत्रोंका अवलम्बन लेकर फलित किये, परन्तु इतना होते हुए भी विचारका प्रायः जितना उदारक्षेत्र पहले रहा उतना आज नहीं रहा।

आजसे कोई लगभग १५ वर्ष पहले श्वेताम्बर विद्वान् श्रीमान् पण्डित सुखलालजीने सर्व प्रथम तत्त्वार्थसूत्र और उसकी व्याख्याओं तथा उसके कर्तृत्व-विषय में अपने गवेषणा-पूर्ण दो लेख लिखे थे और जिनके द्वारा अद्यावधि सबसे अधिक प्रकाश डालते हुए तत्त्वार्थसूत्र और उसके कर्त्ताको तटस्थ परम्पराका सिद्ध किया था[१]—उन्हें मात्र दिगम्बर या श्वेताम्बर परम्पराका नहीं बतलाया था। इसके कोई चार वर्ष बाद (सन् १९३४) में श्वेताम्बर विद्वान् उपाध्याय श्रीआत्मारामजीने कतिपय श्वेताम्बर आगमोंके सूत्रोंके साथ तत्त्वार्थसूत्रके सूत्रोंका समन्वय करते हुए 'तत्त्वार्थसूत्रजैनागमसमन्वय'[२] नामसे एक ग्रन्थ लिखा और तत्त्वार्थसूत्रको श्वेताम्बर परम्पराका ग्रन्थ प्रसिद्ध किया। जब यह ग्रन्थ उक्त श्रीमान् पण्डितजीको प्राप्त हुआ तो अपने पूर्व चिरंतन गवेषणापूर्ण तत्त्वार्थसूत्रको तटस्थ-परम्पराका ग्रन्थ माननेके विचारको छोड़कर उसे उन्होंने मात्र श्वेताम्बर परम्पराका प्रकट किया और यह कहते हुए कि "उमास्वाति श्वेताम्बर परम्पराके थे और उनका सभाष्य तत्त्वार्थ सचेल पक्षके श्रुतके आधारपर ही बना है।" ... "वाचक उमास्वाति श्वेताम्बर परम्परामें हुए दिगम्बरमें नहीं...।" निःसंकोच उसे श्वेताम्बर परम्पराका होनेका अपना निर्णय भी दिया है[३]। इस तरह पर एक बहुत प्राचीन और महत्त्वपूर्ण ग्रन्थको दूसरी परम्पराके द्वारा सर्वथा अपना सिद्ध करने और उसे वैसा बनानेके क्रियात्मक प्रयत्नको देखकर दिगम्बर परम्पराके विद्वानोंने भी ऐसी हालतमें चुप बैठना ठीक नहीं समझा और उन्होंने उनके इस प्रयत्नका उत्तर दिया।

सर्व प्रथम पं० परमानन्दजी शास्त्रीने 'तत्त्वार्थसूत्रके बीजोंकी खोज' शीर्षक एक गवेषणा-पूर्ण लेख लिखा[४] और उसके द्वारा उन्होंने दिगम्बर परम्पराके प्राचीन आगम ग्रन्थोंके उसमें सप्रमाण बीज प्रस्तुत करके उसे दिगम्बर परम्पराका बतलाया। श्रीमान् पं० फूलचंद-जी सिद्धान्त-शास्त्रीने भी 'तत्त्वार्थसूत्रका अन्तःपरीक्षण' शीर्षक दो लेख लिखे[५] और

---

१ देखो, अनेकान्त वर्ष १ किरण ६, ७, ११, १२ 'तत्त्वार्थसूत्रके प्रणेता उमास्वाति' और 'तत्त्वार्थसूत्रके व्याख्याकार और व्याख्याएँ' शीर्षक दो लेख।

२ यह ग्रन्थ लाला शादीराम गोकुलचन्द जौहरी, चांदनी चौक देहली ने प्रकाशित कराया है।

३ देखो, पंडित सुखलालजी द्वारा संपादित 'तत्त्वार्थसूत्र' लेखका वक्तव्य पृ० १८ और 'परिचय' पृ० २४

४ देखो, अनेकान्त वर्ष ४ किरण १।

५ देखो, अनेकान्त वर्ष ४ किरण ११-१२ और अनेकांत वर्ष ५ किरण १-२

उनके द्वारा उन्होंने अन्तः परीक्षण करके यह सिद्ध किया कि तत्त्वार्थसूत्र दिगम्बर मान्यताओंसे सम्बन्ध रखने वाला है। अभी गत अक्तूबर (सन् १९४४) में कलकत्तामें हुए वीर शासन महोत्सवके अवसर पर श्रीमान् पं० नाथूरामजी प्रेमीने[1] अपनी खोजके आधार पर तत्त्वार्थसूत्र और उसके कर्त्ताको यापनीयसंघका[2] बतलाया। इस प्रकार तत्त्वार्थसूत्रकी परम्पराका अनिर्णय एक उलझी हुई गुत्थीके रूपमें चला आ रहा है।

गत दिनों जब मैं प्रो० हीरालालजी एम० ए० के 'जैन इतिहासका एक विलुप्त अध्याय' नामक निबंधके निर्युक्तिकार भद्रबाहु और स्वामी समन्तभद्रको एक माननेके विचार संबंधी एक प्रधान अंशका उत्तर लिखनेके लिये 'क्या निर्युक्तिकार भद्रबाहु और स्वामी समन्तभद्र एक हैं, ? शीर्षक लेखकी[3] तैयारीमें लगा हुआ था, तब मुझे भद्रबाहुकी, जिनका श्वेताम्बर परम्परामें बहुत बड़ा स्थान है और जिनकी निर्युक्तियाँ सीधी आगमसूत्रों पर लिखी होनेके कारण आगमतुल्य मानी जाती हैं, निर्युक्तियोंके पन्ने उलटनेका अवसर मिला। निर्युक्तियोंमें मुझे कुछ ऐसी बातें मिली हैं जो श्वेताम्बर आगमोंके तो अनुकूल हैं। पर आचार्य उमास्वातिके तत्त्वार्थसूत्रके अनुकूल नहीं हैं। मुझे उस समय ऐसा लगा कि जब तत्त्वार्थसूत्रको श्वेताम्बर आगमोंके आधारपर बना हुआ बतलाया जाता है और उसे श्वेताम्बर ग्रन्थ प्रसिद्ध किया जाता है तो ये विभिन्न बातें इसमें क्यों हैं ? जो कि दिगम्बर परम्पराके अनुकूल हैं। जब तत्त्वार्थसूत्रकार श्वेताम्बर परम्पराके हैं और उनका तत्त्वार्थ सचेल श्रुत (श्वेताम्बर आगम) के आधारपर बना है तब उन्होंने श्वेताम्बर श्रुत (आगम) का त्याग क्यों किया ? भद्रबाहुकी तरह पूर्व परम्परानुसारही प्रवृत्ति क्यों नहीं की ? ये बातें ऐसी हैं जो उपेक्षणीय नहीं हैं और जो हमें वास्तविक तथ्यको खोजनेके लिये इङ्गित करती हैं।

अतः आज मैं निर्युक्तिकार और तत्त्वार्थसूत्रकारके बीचमें पाये जाने वाले वैषम्यको विद्वान् पाठकोंके सामने प्रस्तुत करता हूँ जिनके आधारपर आ० उमास्वाति और उनका तत्त्वार्थसूत्र सचेल परम्पराके सिद्ध न होकर असंदिग्ध रूपसे अचेल दिगम्बर परम्परा के प्रसिद्ध होते हैं। यथा—

१ निर्युक्तिकार भद्रबाहुने उत्तराध्ययन निर्युक्तिकी ७७वीं गाथामें दर्शन परीषह बतलाई है और उनका यह बतलाना उत्तराध्ययनसूत्रों (पृ० ८२) में आई 'सम्मत्त परीसह' के अनुकूल है[4]। भद्रबाहुकी वह गाथा निम्न प्रकार है :—

'दंसणमोहे दंसणपरीसहो नियमसो भवे यक्के।'

अर्थ—दर्शनमोहनीय कर्मके उदय होनेपर नियमसे दर्शन परीषह होती है। लेकिन तत्त्वार्थसूत्रकार आ० उमास्वातिने 'दर्शनपरीषह' या 'सम्मत्तपरीसह' नहीं कही। उन्होंने 'अदर्शन परीषह' बतलाई है। जैसा कि उनके निम्न दो सूत्रोंसे प्रकट है—

१ आप इस सम्बन्धमें कोई लेख भी लिख रहे हैं।

२ यापनी संघ दिगम्बर सम्प्रदायका ही एक संघ भेद है।

३ यह लेख अनेकान्त वर्ष ६ किरण १०-११ में प्रकट हो चुका है।

४ तत्त्वार्थसूत्रजैनागमसमन्वयके उल्लिखित सूत्रोंमें भी 'दंसणपरीसह' है। देखो, पृ० २०६, २०८

"क्षुत्पिपासाशीतोष्णदंशमशकनाग्न्यारतिस्त्रीचर्यानिषद्याशय्याक्रोशवधयाचनालाभरोग-तृणस्पर्शमलसत्कारपुरस्कारप्रज्ञाज्ञानादर्शनानि ।'—तत्त्वार्थसू० ९—९ ।

'दर्शनमोहान्तराययोरदर्शनालाभौ ।'—त० सू० ९—१४ ।

अर्थ—क्षुधा, पिपासा, शीत, उष्ण, दंशमशक, नाग्न्य, अरति, स्त्री, चर्या, निषद्या, शय्या, आक्रोश, वध, याचना, अलाभ, रोग, तृण-स्पर्श, मल, सत्कारपुरस्कार, प्रज्ञा, अज्ञान और अदर्शन ।

दर्शन मोहनीय कर्मके उदयसे अदर्शन और अन्तरायकर्मके उदयसे अलाभ परीषह होती है ।

यहाँ स्पष्टतया 'अदर्शनपरीषह' का ग्रहण है । और तत्त्वार्थसूत्रके टीकाकारोंने भी अदर्शन परीषह ही मानी है, दर्शन परीषह नहीं ।

२ भद्रबाहु ने इसी उत्तराध्ययन निर्युक्तिकी गाथा ८२ में एक जीवके उत्कृष्ट और जघन्यपनेसे संभव परीषहोंका वर्णन करते हुए एक साथ कमसे कम एक और अधिकसे अधिक २० परीषहोंका सद्भाव स्वीकार किया है । जैसा कि उनकी निम्न गाथासे स्पष्ट है:—

वीसं उक्कोसपए वट्टंति जहन्नओ हवइ एगो ।
सीउसिण चरियं निसीहिया य जुगवं न वट्टंति ॥

अर्थ—उत्कृष्टपनेसे २० और जघन्यपनेसे १ परीषह होती है । एक तो स्पष्ट है और बीस इस तरह कि शीत और उष्ण तथा चर्या और निषद्या ये एक साथ नहीं हो सकतीं । शीत और उष्णमेंसे कोई एक और चर्या तथा निषद्यामेंसे कोई एक परीषह होगी । इस तरह दो परीषह कम करनेपर २२—२ = २० परीषह ही हो सकती हैं । इससे कम नहीं और न ज्यादा । उनका यह कथन श्वे० आगमानुसार है[1] ।

किन्तु तत्त्वार्थसूत्रकार इससे कुछ और ही कहते हैं । वे उत्कृष्टपनेसे १९ ही परीषह बतलाते हैं । जैसे—

'एकादयो भाज्या युगपदेकस्मिन्नैकोनविंशतिः ।'—तत्त्वार्थसू० ९—१७

अर्थ—एक जीवमें एक साथ एकको आदि लेकर १९ तक परीषह हो सकती हैं । यद्यपि तत्त्वार्थसूत्रकारने निर्युक्तिकारकी तरह स्पष्ट करके नहीं बतलाया कि वे १९ परीषह कौनसी संभव हैं और कौन कम हो जाती हैं ? पर १९ की संख्या तो सूत्रकारकी ही कण्ठोक्त है और उसका खुलासा तथा मेल उनके टीकाकारोंने बिठाकर उनके अभिमतको स्पष्ट किया है और बतलाया है कि शीत और उष्णमेंसे कोई एक तथा चर्या, शय्या और निषद्यामेंसे एक ही परीषह संभव है । अतः शीत और उष्णमेंसे एक और चर्या, शय्या

१ 'सत्तविहबंधगस्स णं भंते ? कति परीसहा पण्णत्ता ? गोयमा ? बावीसं परीसहा पण्णत्ता, वीसं पुण वेदेइ, जं समयं सीयपरीसहं वेदेति णो तं समयं उसिणपरीसहं वेदेइ, जं समयं उसिण-परीसहं वेदेइ णो तं समयं सीयपरीसहं वेदेइ, जं समयं चरिया परिसहं वेदति णो तं समयं निसीहि-यापरीसहं वेदेति जं समयं निसीहियापरीसहं वेदेइ णो तं समयं चरियापरीसहं वेदेइ ।'

—तत्त्वार्थसूत्रजैनागमसमन्वय पृ० २०८

तथा निषद्यामेंसे दो इस प्रकार तीन परीषह कम कर देने पर २२ – ३ = १९ ही परीषह एक साथ होती हैं।

पाठक, देखेंगे कि तत्त्वार्थसूत्रकार और उनके टीकाकारोंका एक ही मन्तव्य है। यह ध्यान देने योग्य है कि भद्रबाहुने चर्या और निषद्याके साथ शय्याका विरोध उद्भावित नहीं किया। जब कि चर्या और निषद्याके पारस्परिक विरोधकी तरह शय्याका भी उन दोनोंके साथ स्पष्ट विरोध है। चर्या तथा निषद्याके समय शय्या परीषह नहीं हो सकती है। इससे स्पष्ट है कि निर्युक्तिकार चर्या या निषद्याके साथ शय्याका भी सहभाव मानते हैं और वे ऐसा मानकर ही उत्कृष्टपनेसे २० परीषहोंके होनेकी अपनी श्वेताम्बरीय श्रुत मान्यताको प्रकट करते हैं। जब कि तत्त्वार्थसूत्रकारकी मान्यता १९ की ही है।

३ निर्युक्तिकार भद्रबाहु तीर्थंकर कर्म के २० कारणोंको बतलाते हैं जो श्वेताम्बर आगमानुसार हैं। वे कारण नीचे दिये जाते हैं :—

> अरिहंतसिद्धपवयणगुरुथेरबहुस्सुए तवस्सीसुं।
> वच्छल्लया एएसिं अभिक्ख नाणोवओगो य॥
> दंसणविणए आवस्सए य सीलव्वए निरइआरो।
> खणलवतवच्चियाए वेयावच्चे समाही य॥
> अप्पुव्वनाणगहणे सुयभत्ती पवयणे पभावणया।
> एएहिं कारणेहिं तित्थयरत्तं लहइ जीवो॥
>
> —आवश्यक निर्यु० गा० १७९, १८०, १८१

अर्थ—अर्हत्‌वत्सलता, सिद्धवत्सलता, प्रवचन-वत्सलता, गुरुवत्सलता, स्थविरवत्सलता, बहुश्रुतवत्सलता, तपस्विवत्सलता अभीक्ष्णज्ञानोपयोग, दर्शननिरतिचारता, विनयनिरतिचारता, आवश्यक-निरतिचारता, शीलनिरतिचारता, व्रतनिरतिचारता, क्षण लवसमाधि, तपःसमाधि, त्याग-समाधि, वैयावृत्यसमाधि, अपूर्वज्ञानग्रहण, श्रुतभक्ति और प्रवचन प्रभावना, इन कारणोंमे जीव तीर्थंकरत्व—तीर्थंकरपनेको प्राप्त होताहै—अर्थात् तीर्थंकर कर्मका बन्ध करता है।

यहाँ निर्युक्तिकारने यद्यपि बीस कारणोंको एक एक करके गिना दिया है और वे कुल बीस हो जाते हैं किन्तु उनके परिमाणको स्पष्ट बतानेवाला संख्यावाची 'बीस' पद नहीं दिया। जब मैंने इसी निर्युक्तिकी अगली गाथाओंको और पढ़ा तो वहाँ स्पष्टतया बोध करानेवाला उन्हींके द्वारा प्रयुक्त 'बीस' पद भी मिल गया जहाँ बीसोंमें अथवा किसी एकसे भी तीर्थंकर कर्मका बन्ध होने का उल्लेख है। वह गाथा इस प्रकार है :—

> णियमा मणुयगतीए इत्थी पुरिसे यरोऽव सुहलेसो।
> आसेवियबहुलेहिं वीसाए अण्णयर एहिं॥ —आवश्यक नि० गा० ७८१

अर्थ—मनुष्यगतिमें शुभलेश्यावाला पुरुष अथवा स्त्री नियमसे बीसकारणों या किसी एक का आसेवन करनेसे तीर्थंकरत्वको प्राप्त करता है।

भद्रबाहुके द्वारा निर्दिष्ट उपर्युक्त इन कारणों को जब मैंने श्वे० आगमसूत्रोंके साथ भी अनुकूलता जानने के लिये उन्हें देखा तो ज्ञातृधर्मकथांग अध्ययन ८ का ६४वाँ सूत्र शब्दशः एक है। इतना ही नहीं, वही क्रम, वही नाम और वही संख्या मुझे वहाँ उपलब्ध हुई। वह सूत्र पुनरुक्त होता हुआ भी यहाँ दिया जाता है :—

अरहंत-सिद्ध-पवयण-गुरु-थेर-बहुस्सुए तवस्सीसुं।
वच्छलया य तेसिं अभिक्खनाणोवओगे य ॥१॥
दंसण-विणए आवस्सए य सीलव्वए निरइयारं।
खणलव-तव-च्चियाए वेयावच्चे समाही य ॥२॥
अप्पुव्वनाण गहणे सुयभत्ती पवयणे पभावणया।
एएहि कारणे हि तित्थयरत्तं लहइ जीवो ॥३॥

—ज्ञातृधर्मकथांग अ० ८ सू० ६४।

अर्थ वही है जो पहले बताया है। इस तरह हम निर्युक्तिकारको यहाँ भी अपने श्वेताम्बरीय श्रुतके आधारपर चलता हुआ देखते हैं।

परन्तु तत्त्वार्थसूत्रकारको श्वेताम्बर श्रुत के आधारपर चलता हुआ नहीं पाते। वे तत्त्वार्थसूत्रके २४ वें सूत्रमें तीर्थकरनामकर्मके १६ ही बन्धकारण निर्दिष्ट करते हैं और उनका यह निर्देश दिगम्बर श्रुत एवं परम्पराके सर्वथा अनुकूल है। तत्त्वार्थसूत्रका वह सूत्र निम्न प्रकार है :—

'दर्शनविशुद्धिर्विनयसम्पन्नता शीलव्रतेष्वनतीचारोऽभीक्ष्णज्ञानोपयोगसंवेगौ शक्तितस्त्यागतपसी साधुसमाधिर्वैयावृत्त्यकरणमर्हदाचार्यबहुश्रुतप्रवचनभक्तिरावश्यकापरिहाणिर्मार्गप्रभावना प्रवचनवत्सलत्वमिति तीर्थंकरत्वस्य।' —तत्त्वार्थसूत्र ६-२४।

अर्थ—दर्शनविशुद्धि, विनयसंपन्नता, शीलव्रतेष्वनतीचार, अभीक्ष्णज्ञानोपयोग, संवेग, शक्त्यनुसारत्याग, शक्त्यनुसारतप, साधुसमाधि, वैयावृत्त्यकरण, अर्हद्भक्ति, आचार्यभक्ति, बहुश्रुतभक्ति, प्रवचनभक्ति, आवश्यकापरिहाणि, मार्गप्रभावना और प्रवचनवत्सलत्व ये तीर्थंकरत्व—तीर्थंकरनामकर्मके १६ बन्धकारण हैं।

१६ की संख्याके साथ यही बन्धकारण दिगम्बर परम्पराके प्रसिद्ध षट्खण्डागममें इस प्रकार उपदिष्ट हुए हैं :—

'दंसणविसुज्झदाए विणयसंपण्णदाए सीलव्वदेसु णिरदिचारदाए आवासएसु अपरिहीणदाए खणलवपडिबुज्झणदाए लद्धिसंवेगसंपण्णदाए यथा थामे तथा तवे साहूणं पासुअपरिच्चागदाए साहूणं समाहिसंधारणाए साहूणं वेज्जावच्चजोग जुत्तदाए अरहंतभत्तीए बहुसुदभत्तीए पवयणभत्तीए पवयणवच्छलदाए पवयणप्पभावणाए अभिक्खणं णाणोवजोगजुत्ताए सोलसेहि कारणेहि जीवा तित्थयरणामगोदकम्मं बंधंति।'

बंधसामित्तविचय, सूत्र ४१

अर्थ—दर्शन विशुद्धता, विनयसंपन्नता, शील-व्रत निरतिचारिता, आवश्यकापरिहीनता, क्षणलवप्रतिबोधनता, लब्धिसंवेग सम्पन्नता, यथाशक्तितप, साधुप्रासुकपरित्यागता, साधु-समाधिसंधारणता, साधुवैयावृत्ययोगयुक्तता, अर्हद्भक्ति, बहुश्रुतभक्ति, प्रवचनभक्ति, प्रवचन-वत्सलता, प्रवचनप्रभावना, और अभीक्ष्णज्ञानोपयोगयुक्तता इस तरह इन सोलह कारणोंसे जीव तीर्थंकरकर्मको बांधते हैं।

षट्खण्डागमके इसी सूत्रके पूर्ववर्ती एक स्वतंत्र सूत्रके द्वारा तो तीर्थंकरनामकर्मके बन्धकारणों की १६ संख्या भी अलग से बतला दी गई है जिससे यह स्पष्ट हो जाता है कि १६ कारणोंकी मान्यता दिगम्बर परम्पराकी है। जब कि बीस २० कारणोंकी मान्यता श्वेताम्बरीय है। वह सूत्र निम्न प्रकार है :—

'तत्थ इमेहि सोलसेहि कारणेहि जावा तित्थयरणामगोदकम्मं बंधंति।'

—बन्धसामित्तविचय, सूत्र ४०।

अर्थ—आगेके सूत्रमें निर्दिष्ट सोलह कारणोंसे जीव तीर्थंकरनामकर्मका बन्ध करते हैं।

पाठक, देखेंगे कि तीर्थंकरनामकर्मके नाम और उनकी १६ संख्या तत्त्वार्थसूत्रमें उसी प्रकार है, जिस प्रकार दिगम्बर परम्परा में है, इसमें न तो श्वेताम्बर श्रुत सम्मत प्रायः वैसे नाम हैं और न उनकी २० संख्या ही है। तब उसे सचेल पक्ष के श्रुत (श्वेताम्बर आगम सूत्रों) के आधार पर बना हुआ कैसे कहा जा सकता है? और उसके कर्ताको श्वेताम्बर परम्पराका कैसे माना जा सकता है? हमें आश्चर्य है कि माननीय पण्डित सुखलालजी जैसे विचारक तटस्थ विद्वान् पक्षमें कैसे बह गये और उन्होंने यह निर्णय कैसे दिया कि "उमास्वाति श्वेताम्बर परम्पराके थे और उनका सभाष्य तत्त्वार्थ सचेल पक्षके श्रुतके आधार पर बना है" ... "वाचक उमास्वाति श्वेताम्बर परम्परामें हुए दिगम्बरमें नहीं"। मालूम होता है कि यह सब उनका हमारे लिये उद्बोधन है। (क्रमशः)

तिलोय-पण्णत्ती की प्रशस्ति

तिलोय-पण्णत्ती के कर्ता एवं रचनाकाल आदि के सम्बन्ध में भास्कर की गत किरण में श्रीमान पं० फूलचन्द्रजी शास्त्री, बनारस का एक विस्तृत लेख प्रकाशित हुआ है। उस लेख के प्रूफ संशोधन के समय मेरे मन में कुछ शंकाएँ उत्पन्न हुई थीं कि क्या सचमुच में ही तिलोय पण्णत्ती का रचनाकाल - संकलन-काल शक सं० ७३८ से शक सं० ९०० के मध्य में है। अपनी इन शंकाओं को दूर करने के लिये भवन की हस्तलिखित प्रति को एक बार आद्योपान्त देखा। यों तो भवन में तिलोय-पण्णत्ती की दो प्रतियाँ हैं, एक बहुत पुरानी अशुद्ध प्रति है और दूसरी अभी हाल सं० १९८९ में नकल कराई गई पूर्ण। अन्तरंग समीक्षा की कसौटी मैंने अपने लिये आये हुए गणित सम्बन्धी करण-सूत्रों को ही चुना था। इस समीक्षा से अवगत हुआ, कि तिलोय-पण्णत्ती के आये हुए सूत्रों में बहुत बड़ी विषमता

है। कुछ करण सूत्र तो भारतीय गणित परम्परा के अनुसार ईस्वी सन् से कई शताब्दी पूर्व के हैं और कुछ शक सं० की ७वीं और ८ वीं शताब्दी की गणित परम्परा के अनुसार विकसित, संशोधित एवं परिवर्तित रूप लिये हुए हैं। मैंने ऐसे २५ सूत्रों की भारतीय गणित के इतिहास के अनुसार सूची तैयार की एवं गणित के विकास क्रम के अनुसार उन सूत्रों के समय का अनुमान लगाया, तो कुछ सूत्र आर्यभट्ट के कालक्रियापाद एवं आर्यभट्टीय के अनुसार मालूम पड़े, पर कुछ ऐसे भी हैं जिन्हें याजुष् और ऋक् ज्योतिष के सूत्रों के समान गणित का प्रारम्भिक रूप ही मानना पड़ेगा। दो-चार सूत्र ईस्वी सन् की प्रथम शताब्दी के सूर्यसिद्धान्तादि गणितग्रन्थों के समान भी हैं; कुछ सूत्र अत्यन्त विकसितावस्था में ब्रह्मगुप्त और भास्कर की गणित शैली का अनुसरण करते हैं। इन विभिन्नताओं को देखकर मैंने विचार किया था 'भास्कर' की आगामी किरण में "तिलोय-पण्णत्ती के करणसूत्रों की परीक्षा" शीर्षक लेख अपने पाठकों के समक्ष रक्खूंगा, पर कागज नियन्त्रण की असुविधा ने ऐसा न करने दिया। फिर भी इतना तो अवश्य कह देना चाहता हूं कि वर्तमान तिलोय-पण्णत्ती वास्तविक में एक संकलित ग्रन्थ है। क्योंकि कोई भी गणितज्ञ इतनी बड़ी विषमता—गणित सम्बन्धी सूक्ष्मता और स्थूलता, एक साथ नहीं लिख सकता। भवन की तिलोय-पण्णत्ती की प्रति में एक लम्बी प्रशस्ति जिनचन्द्र के शिष्य मेधावी पण्डित की दी गई है। इनका समय अनुमानतः विक्रम संवत् की १६ वीं शताब्दी मालूम पड़ता है। इस प्रशस्ति से इतिहास के विद्वानों को अनेक बातों की जानकारी होगी, इसलिये भास्कर में दी जा रही है। कई मित्रों का भी आग्रह था कि मैं इस प्रशस्ति को भास्कर में शीघ्र दे दूँ; जिससे विद्वानों के समक्ष विचारार्थ सामग्री उपस्थित हो सके। तिलोयपण्णत्ती जैन गणित की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। जैसे वैदिक साहित्य में वेदाङ्ग ज्योतिष प्राचीनता की दृष्टि से महत्त्व पूर्ण माना जाता है, वैसे ही जैनागम ग्रन्थों में भी फुटकर रूप से अनेक गणित सम्बन्धी चर्चाएँ उपलब्ध हैं। यदि इन चर्चाओं को कालक्रमानुसार संकलित कर लिया जाय तो वेदाङ्ग ज्योतिष से भी महत्त्व पूर्ण जैनगणित की अनेक बातें प्रकाश में आ जायँ।

प्रशस्ति

वृषभो वः श्रियं कुर्याद्वृषभाङ्को वृषाग्रणी। ध्वस्ता रागादयो येन दोषाः सिंहेन वा मृगाः ॥१॥ चन्द्रप्रभो जिनो जीयाच्चन्द्राभोऽपि तनुश्रिया। निष्कलङ्कः कलानेको भ्रान्तिहीनस्त-मोगतः ॥२॥ शान्तिः शान्तिकरो भूयात्षोडशस्तीर्थनायकः। चकार जगतः शान्तिं यो धर्मामृत-वर्षणैः ॥३॥ श्रीवीरं च महावीरं वर्द्धमानं च सन्मतिम्। महतिं (महान्तं) प्रणमामीशं कलौ कल्पतरूपमम् ॥४॥ यदालम्ब्य जना यान्ति पारं संसारवारिधेः। अनन्तमहिमाढ्यं तज्जैनं जयति शासनम् ॥५॥ जयन्तु गौतमस्वामिप्रमुखाः गणनायकाः। सूरयश्च जिनेन्द्रान्ताः श्रीमन्तः

क्रमदेशकाः ॥६॥ वर्षे नवैकपंचैक १५१९ पूरणे विक्रमेनतः (गते)। ज्येष्ठमासे सिते पक्षे पंचम्यां भौमवासरे ॥७॥ अधोमध्योर्ध्वलोकस्य यस्यां प्रज्ञापनं मतम्। तस्यास्त्रैलोक्यप्रज्ञप्तेवंशं लेखयितुं ब्रुवे (लेखयितृन् ब्रुवे) ॥८॥ श्रीजम्बूपपदे द्वीपे क्षेत्रे भरतसंज्ञके। कुरुजांगलदेशोऽस्ति यो देशः सुखसम्पदाम् ॥९॥ विद्यते तत्समीपस्था श्रीमती योगिनीपुरी। यां पाति पातिसाहि श्रीबहलोलाभिधो नृपः ॥१०॥ तस्याः प्रत्यग्दिशि ख्यातं श्रीहिसारपिरोजकम्। नगरं नगरंमादिः वल्लीराजिविराजितम् ॥११॥ तत्र राज्यं करोत्येष श्रीमान् कुतवखानकः। यश्चकार प्रजा स्वस्था दाता भोक्ता प्रतापवान् ॥१२॥ अथ श्रीमूलसंघेऽस्मिन्नंदिसंघेऽनघेऽजनि। बलात्कारगणस्तत्र [गच्छः] सारस्वतस्त्वभूत् ॥१३॥ तत्राजनि प्रभाचन्द्रः सूरिचन्द्रोजितांगजः। दर्शनज्ञानचारित्र-तपोवीर्यसमन्वितः ॥१४॥ श्रीमान बभूव मार्त्तण्डस्तत्पट्टोदयभूधरे। पद्मनन्दी बुधानन्दी तमश्छेदी मुनिः प्रभुः ॥१५॥ तत्पट्टाम्बुधिसच्चन्द्रः शुभचन्द्रः सतां वरः। पंचाक्षवनदावाग्निः कषायक्ष्मा-धराशनिः ॥१६॥ तदीयपट्टाम्बरभानुमाली क्षमादिनानागुणरत्नशाली। भट्टारकः श्रीजिनचन्द्र-नामा सैद्धान्तिकानां भुवि योऽस्ति सीमा ॥१७॥ स्याद्वादामृतपानतृप्तमनसो यस्यातनोत्सर्वतः, *कीर्तिर्भूमितले शशाङ्कधवला सुज्ञानदानात्सतः। चार्वाकादिमतप्रवादितिमिरोष्णांशोर्मुनीन्द्रप्रभोः, सूरिश्रीजिनचन्द्रकस्य जयतात्संघोहि तस्यानघः* ॥१८॥ बभूव मण्डलाचार्यः सूरेः श्रीपद्म-नन्दिनः। शिष्यः सकलकीर्त्याख्यो *समस्कीर्त्तिर्महातपः* ॥१९॥ *आचार्यः जयकीर्त्याह्वस्तच्छिष्यो* मुनिकुंजरः। उत्तमक्षांतिमुख्यानि धर्माङ्गानि दधाति यः ॥२०॥ [स] दक्षिणादुदग्देशे समागत्य मुनिप्रभुः। जैनमुद्योतयामास शासनं धर्मदेशनात् ॥२१॥ पुर्य्यां सिंहतरंगिण्यां यस्मिञ्जाते मुनीश्वरे। भव्यैः सम्यक्त्वमग्राहि कैश्चिच्चाणुमहाव्रतम् ॥२२॥ हरिभूषणसंज्ञोऽस्ति तस्य शिष्योऽस्तमन्मथः। एकान्तराद्यजस्रं यः करोत्युग्रं तपो मुनिः ॥२३॥ परः सहस्रकीर्त्याख्यस्तच्छिष्यो भवभीरुकः। दीक्षां जग्राह यस्त्यक्त्वा भ्रातृपुत्रपरिग्रहम् ॥२४॥ क्षांतिका ? क्षान्तिशील्या (ला) दि गुणरत्नखनिः सती। गन्धर्वश्रीरिति ख्याता शीलालंकारविग्रहा ॥२५॥ अणुव्रत्यस्ति बोधाख्यो जिनादिष्टार्थसद्रुचिः। शंकाकांक्षादिनिर्मुक्तः सम्यक्त्वादिगुणान्वितः ॥२६॥ द्वितीयो ब्रह्ममेधाख्यो भवकायविरक्तधीः। विनयादिगुणैर्युक्तः शास्त्राध्ययनतत्परः ॥२७॥ अग्रोतवंशजः साधुर्लवदेवाभि-धानकः। तत्वज्ञोद्धरणसंज्ञः ? तत्पत्नीभोषुहीश्रुतिः ॥२८॥ तयोः पुत्रोऽस्ति मेधाविनामा पण्डित-कुंजरः। आप्तागमविचारज्ञो जिनपादाब्जषट्पदः ॥२९॥ एषामाम्नायसम्भूते वंशे खण्डेलसंज्ञके। गोत्रे गोधाभिधाने [यो] नाना गोधाकरोऽजनि ॥३०॥ साधुसावन्तकस्तत्र सावतंसोपमे कुले। यस्योपकारजाकीर्त्या सर्वं श्वेतीकृतं जगत् ॥३१॥ तत्पुत्रौ परमोदारौ दानमानादिसद्गुणौः। *नागनाशाविव श्लिष्टौ मिथः स्नेहवशौ भृशम्* ॥३२॥ साधुः कुमारपालाख्यस्तदाद्योऽभूत्सतां मतः। देवपूजादिषट्कर्मनिरतो विरतोऽशुभात् ॥३३॥ तत्पत्नी *लाछिसंज्ञासीलक्ष्मीरिव हरेः* प्रिया। यया जिग्ये स्वशीलेन सीतारूपेण सा इति ॥३४॥ तत्पुत्रत्रितयं जातं विनयादिगुणा-न्वितम्। येन संभूषितं गोत्रं तपो रत्नत्रयेण वा ॥३५॥ तत्राद्यः पद्मसिंहाह्वः संघेशो जिनपाद-

श्रित्। हिंसा [त्याग] सत्यादिपंचाणुव्रतभूषितः ॥३६॥ भाग्यं भालस्थले यस्य शिरस्युच्चैर्गुरोन्नतिः। शास्त्रस्य श्रवणं श्रोत्र्योर्नेत्रयोः सम्यग्दर्शनम्[1] ॥३७॥ वचने प्रियवादित्वं कण्ठेऽर्हद्गुणकीर्त्तनम्। बुद्धौ परोपकारस्तु हृदि पंचगुरुस्मृतिः ॥३८॥ करे दानं सुपात्रस्य लक्ष्मीवक्षःस्थलेऽवसत्। पादयोस्तीर्थयात्रादिः सभा भूपालसन्निधौ ॥३९॥ त्रिकलम्॥ अन्यो नेमाभिधानोऽभून्नियमादिगुणाश्रयः। संघधूर्द्धरणे नेमिर्निजवंशनभो रविः ॥४०॥ जातः पुत्रस्तथांगजः सारगस्तृतीयः[2] सुतः। चतुर्विधमहादानविधौ कल्पतरुप्रभः ॥४१॥ साधुसावन्तसंज्ञस्य यो द्वितीयस्तनूरुहः। सोऽयं झाझणः[3] ? नामासीच्छीलालंकृतविग्रहः ॥४२॥ तदंगजास्त्रयः ख्याता मुनिराजसदस्यय ... ॥४३॥ तेष्वाद्यः साधुसाल्हाख्यः साह्लादो जिनपूजने। द्यूतादिव्यसनत्यागाच्छ्रावकः व्रतभावकः ॥४४॥ सहजाको द्वितीयोऽभूत्सहजेन प्रियंवदः। गाम्भीर्येण पयोराशिं यो जिगाय धिया गुरुम् ॥४५॥ तृतीयः सावताभिख्यो जातो जगति कीर्त्तिमान्। यो दानं याचकेभ्योऽदात्प्रहृष्टो हृष्टिमात्रतः ॥४६॥ श्रीमत्कुमारपालस्य यो जातः प्रथमोंगजः। पद्मसिंहोऽभिधानेन पद्मागारो जनप्रियः ॥४७॥ तद्भार्या कृतसत्कार्या साध्वी मेहिणिसंज्ञया। गौरीवेशस्य चन्द्रस्य रोहिणीव मनःप्रिया ॥४८॥ या सती नारिवृन्देषु शीलनिर्मलवारिभिः। गौतादिकतहं ... गंगेवसरिताङ्गणे ॥४९॥ तयोस्तनूरुहाः सन्ति त्रयः कन्दर्पमूर्त्तयः। शंखकुन्देन्दुहाराभकीर्त्तयः पटुमतयः ॥५०॥ तेषामाद्योऽस्ति संघेशो थेकूनामा गुणाकरः। सत्नामग्रेसरः स्फारः सत्वलोकम ... ॥५१॥ मानितः ... तानेन बहलालाभिधेन यः। पुर्यां सिंहनरंगिण्यां भाण्डागारपदे धृतः ॥५२॥ ... वन्दिगृहमानीता ... सज्जनाः। तान्विमोच्य सद्द्रव्येण न्यायेनोपार्जितेन ... ॥५३॥ ... दत्त्वा च सद्भुक्तिं वस्त्राणि परिधाप्य च। व्ययं य (वि) तीयं मार्गस्य त्रिम ... गृहं ... ॥५४॥ युगलम्। भाण्डागारपदे यस्मिन् श्रावकाः सुखमास्थिताः। दानपूजाविधिव्यक्तभक्त्या संविभ्रमानसाः ॥५५॥ दुर्गनगरकोटाख्ये ? येन तुङ्गतोरणम्। कलशध्वजरोचिष्णु कारितं जिनमन्दिरम् ॥५६॥ सूही नाम्न्यस्ति तज्जाया चञ्चच्छाया ... [4] ... दायिनी पात्रदानानां सत्तु भक्तिं विधायिनी ॥५७॥ मिष्टां यद्गिरमाकर्ण्य कोकिला वा ... निपत्य स्वं च निन्दन्ती वनवासमशिश्रियत् ॥५८॥ यदास्येन जितं चन्द्रं मन्ये सम्पूर्णमण्डलम्। नो चेत्कथं ततोऽन्हः सः क्षीयते प्रतिवासरम् ॥५९॥ मन्थरां यद्गतिं वीक्ष्य मरालाख्यो (मराल) शोकसंगतः। तत्राप्यैदातप ... दुर्गमे जलसंगमे ॥६०॥ तन्नंदनौ समुत्पन्नौ रूपयौवनशालिनौ। कुलधूर्द्धरणौ दक्षौ पुरुषौ वृषभाविव ॥६१॥ आद्यः साधारणसंज्ञा साधारो गुणभूषणः। यः सर्वज्ञपदाम्भोजे जातः षट्चरणोपमः ॥६२॥ यन्नामनगनुल्लंघ्यं सर्वैर्नागरिकैर्जनैः। सीमेव पक्षिराजस्य हंसपुंस्कोकिलादिभिः ॥६३॥ लक्ष्मा नामास्य द्वामा द्वितीया विनयान्वितः। प्रसादाच्छान्तिनाथस्य चिरं जीयात्स भूतले ॥६४॥ संघेशपद्मसिंहस्य द्वितीयोऽस्ति सुतांगजः। सौहाश्रुतिधृतिज्ञान्तिशान्ति-

---

१ मात्राधिक्यमस २ मात्रादोषः ३ ... नहीं है।
४इस स्थान पर 'चलच्छाया कलालया' पाठ सर्व श्रेष्ठ मालूम पड़ता है।

कान्ति गुणालयः ॥६५॥ पराक्रमेण सिंहाभः कान्त्या चन्द्रो धिया गुरुः । गाम्भीर्येण पयोराशि-र्मेरुगरिमया स्वया ॥६६॥ यो नित्यं भवविच्छेदी कुरुते देवपूजनम् । जलाद्यैरष्टभिर्द्रव्यैर्विधि-वत्स्नानपूर्वकम् ॥६७॥ महतीं स्वसमां लघ्वीं परनारीं निरीक्ष्य यः । मन्यते जननीं भगिनीं पुत्रीं तुल्याः स्वचेतसि ॥६८॥ गुणश्रीरिति तं भेजे गंगेवलवणार्णवम् । उच्चैःकुलाद्रिजाशुद्धद्विज-राजिविराजिना ॥६९॥ किन्नर्या इव सत्कन्यार्गीतानि जिनमन्दिरे । जन्मकल्याणयुक्तानां मुनि-नामविमानसम् ? ॥७०॥ वस्त्रैः पीतांसुहारैश्च श्वेतां कृष्णां शिरोरुहैः । हरिताङ्कुरताम्बूलैः रक्तां कुंकुम मण्डनैः ॥७१॥ यकां सौभाग्ययुक्तांगीं विलोक्य सुजना जनाः । नित्यमानन्दयामासुरिति मंगलदर्शनम्॥७२॥ तृतीयो नन्दनो जातः पद्मसिंहस्य पापहृत् । संघे सचाहडाभिख्यो दांतात्मा च प्रसन्नधीः ॥७३॥ कुदेवगुरुतत्त्वेषु सदेवगुरुतत्त्वधीः । येनात्मा जाति मिथ्यात्वं भवदुःखवि वर्द्धनम् ॥७४॥ देवेऽष्टादशदोषघ्ने गुरौ ग्रन्थविवर्जिते । तत्त्वे सर्वज्ञनिर्दिष्टे जावादौ रुचि-लक्षणम् ॥७५॥ सम्यक्त्वमिति यच्चित्ते स्थिरीभूतं सुनिर्मलम् । प्राणिनां भ्रमतांशश्च दुर्लभं यद्भवार्णवे ॥७६॥ ॥युगलम्॥ अष्टौ मूलगुणान पाति मधुमांसादिवर्जनात् । अतिचारगतान्शाका-द्यनन्तकायमुक्भाति[1] ॥७७॥ प्रथमप्रतिमा हिंसायाश्च मृषावादात् परस्वग्रहणात्तथा[2] । परस्त्रीरमणा-त्प्रायः संगाद्विरमणं मतम् ॥७८॥ इति पञ्चविधं यश्चाणुव्रतं मतवर्जितम् । धत्ते त्रिकरणैः शुद्धः स्वर्लोकसुखकारणम् ॥७९॥ ॥युगलम्॥ यश्चाणुव्रतरक्षार्थं गुणव्रतत्रयं स्थिरम् । शिक्षाव्रतचतुष्कं च पायादोषोज्झितं हितम् ॥८०॥ त्रिकालं कुरुते येन सामायिकमनुत्तमम् । समशुद्धिभिरालीढं द्वात्रिंशद्दोषवर्जितम् ॥८१॥ चतुः पर्वाणि कुर्याद्यो मासं मासं प्रतीच्छया । क्षमणं करणग्रामानिग्रह-प्राणिरक्षणम् ॥८२॥ कालाग्नियंत्रपक्वं यत् फलशालिकणादिकम् । जलं च प्रासुकं यश्च भुङ्क्ते पिबति नित्यशः ॥८३॥ एकपत्नीव्रतं येन गृहीतं गुरुसन्निधौ । तत्रापि न दिवाभुक्ती रात्रावेव निषेवणम् ॥८४॥ इति गाहस्थ्ययोग्यानि षट्स्थानानि दधाति यः । स्थानानां शेषपंचानां भावानां भवत्यतम् ॥८५॥ देवानर्चति नित्यं यो जलाद्यैर्वस्तुभिः शुभैः । गुरूनमति भक्त्या यो रत्न-त्रयपवित्रितान ॥८६॥ शृणोत्यध्येति[3] सच्छास्त्रं द्रव्यशुद्ध्यादिपूर्वकम् । इन्द्रियाणि निगृह्णाति जन्तून रक्षति यत्नसान ॥८७॥ स्वशक्त्या तपति प्रायः प्रायश्चित्तादि यत्तपः । दानं चतुर्विधं भक्त्या सत्पात्रेभ्यः प्रयच्छति ॥८८॥ स्थाने श्रीझुंझणनाम्नि येनाकारि जिनालयः । निजवित्तेन यत्स्तम्भ कलशध्वजराजितः ॥८९॥ नित्यं जिनालये श्रद्धा त्रिकाले देवतार्चनम् । कुर्वन्ती सोत्सवं भक्त्या विधिवत्स्नानपूर्वकम् ॥९०॥ चैत्रे भाद्रपदे मासे माघेऽष्टाह्निकपर्वणि । अभि-षेकाश्च जायन्ते यत्र मण्डलपूर्वकम् ॥९१॥ गायन्ति यत्र सन्नार्यो माङ्गल्यानि जिनेशिनाम् । वादयन्ति च वाद्यानि नृत्यन्ति पुरुषोत्तमाः ॥९२॥ सच्छायं पात्रसंयुक्तं सुमनोभिः समंचितम् । फलदायकमुच्चैस्थं नानाश्रव (म) णसेवितम् ॥९३॥ यमुद्दिश्यसमागत्य चतुर्दिग्भ्यो मुनीश्वराः । विश्राम्यन्ति च वन्दित्वा यदाद्रुममिवाध्वगाः ॥९४॥ ॥युगलम्॥ पूर्वजन्मजपापौघ-राशि संदग्धुमिच्छुकैः । भव्यैर्दत्तमकपूरकृष्णागुरुजधूपजम् ॥९५॥ मण्डलीभूतमालोक्य धूमं

१ आप्तादोषः ।, २ मात्राधिक्यम् । ३ आत्मनेपदमपेक्षते ।

खे मेघशंकिनः। अकाण्डे ताण्डवाटोपं यत्र तन्वन्ति वर्हिणः ॥९६॥ ॥युगलम्॥ येन चारु-भटाख्येन पंडितानां धृतेन वै। अन्वर्थेन हि पापारिनिर्जितोऽत्रशुभासिना ॥९७॥ विलोक्य संसारशरीरभोग्यं विनश्वरं दमपुरस्थिताम्बुवत्। परोपकारे जगतीह सारे धृता मतिर्येन सदा विशुद्धा ॥९८॥ यत्कीर्त्या हरहारचन्द्रकिरणप्रोत्तुंगदुग्धार्णव, रंगद्गंगतरंगसन्निभमयाश्वेती-कृतं विष्टपं। श्रीवैरिस्त्रिजनैर्विलोक्यवदनंश्चादर्शपट्टे सितं, श्वभ्रं वा विकृतिं विबुद्धय रुदंदं पत्युर्वियोगाभयात् ॥९९॥ पद्मावती जनि तस्य पद्माख्या पद्मसन्निभा। पद्मावती च नागाधि-पतेः संभोगदायिनी ॥१००॥ लावण्यवाहिनीकाया यस्यारूपं विलोक्यते। युवानः स्मरबाणौघै-र्विध्यन्ते शतजर्जरम् ॥१०१॥ सीतामन्दोदरीगंगाद्रौपदीचन्दनायया। जिग्ये शीलेन सत्येन कलौ स्व-सौख्यदायिना ॥१०२॥ प्रातःपवित्रभूताङ्गी समभ्यर्हन्तमाश्वरम्। वन्दित्वा सुगुरूञ्छास्त्रं श्रुत्वागत्य स्वमन्दिरम् ॥१०३॥ भोजनावसरे साध्वी या श्रद्धादिगुणान्विताः। भुक्तिं वितीर्य-पात्रेभ्यस्ततो भोजयते पतिम् ॥१०४॥ ॥युग्मम्॥ एषां मध्ये स्ववित्तेन न्यायेनोपार्जितेन वै। संघेशचाहडाख्येन विनयादिगुणाश्रिता ॥१०५॥ विज्ञापयित्वा मेधाविनामानं पडितं वरम्। सिद्धांतरसतृप्तान्तःकरणं शरणं धियाम् ॥१०६॥ लेखयित्वा हिमारारव्य नगराभ्नगराज्जिनान् ?। पुर्यां सिहतरंगिण्यामानाय्यस्वः समश्रियाम् ॥१०७॥ प्रावर्त्येतत्सिद्धान्तं हि भव्यानां पठनाय च। केवलज्ञानसंभूत्यैः स्वाज्ञानवृत्तिहानये ॥१०८॥ ॥चतुष्कलम्॥ पश्चान्मेधाविसंज्ञाय पंडिताय सदात्मने। प्रदत्तं शास्त्रमेतद्धि यत्परंपरयागतम् ॥१०९॥ योऽष्टाविंशति[मूल]सद्गुणयुतो धत्ते गुणानुत्तरान्, खण्डेलान्वयमण्डनेन्दुवदनश्रीपद्मसिंहांगजः। सोहाचाहडस्तत्सहोदरलसद्यो-रूकपुत्रान्वितः, सोऽयं श्री [ज] यकीर्त्तिरत्रभवते दद्याच्छ्रियं मङ्गलम् ॥११०॥ "आशीर्वाद" तदा तैर्जिनबिम्बानामभिषेकपुरस्सरा। कारिताश्री महाभक्त्या यथा युक्तिवसोत्सवम् ॥१११॥ भृंगारकलशादीनि जिनवासेसु पंचसु। विमानि [किन] पंचैव चैत्योपकरणानि च ॥११२॥ चतुर्विधाय संघाय सदाहारश्चतुर्विधः। प्रादाय्यौषधदानं च वस्त्रोपकरणानि च ॥११३ भिक्षुया-चकदीनेभ्यः प्रीतितुष्टिकृपादि च। दानं प्रदत्तमित्यादि धनव्ययोव्यधायि (पि) तैः ॥११४॥ इत्थं सप्तक्षेत्र्यां वपते यो दानमात्मनो भक्त्या। लभते तदनन्तगुणं परत्र सोऽत्रापि पूज्यः स्यात् ॥११५॥ यो दत्त ज्ञानदानं भवति हि स नरो निर्जराणां प्रपूज्यो, भुक्त्वा देवाङ्गनाभिर्विषयसुखमनुप्राप्य मानुष्यजन्म भुक्त्वा। राज्यस्य सौख्यं भवतनुखसुखान्निस्पृहीकृत्यचित्तम्, लात्वा दीक्षां च बुध्वा श्रुतमपि सकलं ज्ञानमन्त्यं लभेत ॥११६॥ ज्ञानदानाद्भवेद्ज्ञानी सुखीस्याद्भोजनादिह। निर्भयोऽभयनोजीवो नीरुगौषधदानतः ॥११७॥ धर्मतः सकलमंगलावली धर्मतो भवति मुण्ड-केवली ?। धर्मतो जिनसुचक्रभृद्बलीनाथतद्रिपुमुखोनरावली ॥११८॥ ज्ञात्वेति कुर्वन्ति तु जनाः सुधर्मं सदैहिकामुष्मिकसौख्यकामाः। देवार्चनादानतपोव्रताद्यैर्द्धान्यं न लभ्यं कृषिमन्तरेण ॥११९॥ शास्त्रं शस्त्रं पापवैरिक्षयेद्यः शास्त्रं नेत्रं त्वन्तरार्थप्रदृष्टौ। शास्त्रं पात्रं सर्वचंचद्गुणानां शास्त्रं तस्माद्यत्नतो रक्षणीयम् ॥१२०॥ श्रुत्वा शास्त्रं पापशत्रुं हिनस्ति श्रुत्वा शास्त्रं पुण्यमित्रं धिनोति। श्रुत्वा शास्त्रं सद्विवेकं दधाति तस्माद्भव्यो यत्नतस्तद्धि पाति ॥१२१॥ यावत्ति-ष्ठति भूतले सुरनदी रत्नाकरो भूधरः। कैलाशः किल चक्रिकारितजगद्वंद्यक्षचैत्यालयः॥ यावद्व्योम्नि शशांकवासरमणिप्रस्फेटयंस्तौत्तमस्तावत्तिष्ठतु शास्त्रमेतदमलं संपद्यमानं बुधैः ॥१२२॥ सूरिश्रीजिनचन्द्राङ्घ्रिस्मरणाधीनचेतसा। प्रशस्तिर्विहितात्रासौमीहाख्येन सुधीमता ॥१२३॥ यदत्रक्वाप्यवद्यं स्यादर्थे पाठे मयाहृतम्। तदाशोध्य बुधैर्वाच्यमनन्तः शब्दवारिधिः १२४॥

—नेमिचन्द्र जैन शास्त्री, साहित्यरत्न, आरा।

इति सूरिश्रीजिनचन्द्रान्तेवासिना पंडितमेधाविना विरचिता प्रशस्ता प्रशस्तिः समाप्ता॥

कुछ महत्त्वपूर्ण अप्रकाशित जैन ग्रंथ और उनका संक्षिप्त परिचय

[ले०—श्रीयुत पं० के० भुजबली शास्त्री, विद्याभूषण, मूड़बिद्री]

'जैन ज्ञानपीठ' कर्णाटक-शाखा मूड़बिद्री की ओर से कर्णाटक के ग्रंथालयों में वर्तमान कुल हस्तलिखित ग्रंथों की एक अपूर्व सविवरण ग्रंथसूची जो तैयार की जा रही है उसमें अभी तक निम्नलिखित महत्त्वपूर्ण अप्रकाशित संस्कृत-प्राकृत ग्रन्थ उपलब्ध हुए हैं। इस समय 'भास्कर' के विज्ञ पाठकों के समक्ष इन ग्रंथों का संक्षिप्त परिचय ही उपस्थित किया जा रहा है। मूड़बिद्री के ग्रंथ-भाण्डारों में इन संस्कृत-प्राकृत ग्रन्थों के अतिरिक्त कई उल्लेखनीय अप्रकाशित कन्नड ग्रंथ भी प्राप्त हुए हैं। ये संस्कृत-प्राकृत ग्रंथ उत्तर भारत के विद्वानों के समक्ष भी आ जायँ, इस ख्याल से इन सब ग्रन्थों की नागरी लिपि में प्रतिलिपि का प्रबन्ध भी किया गया है। आशा है कि हमारे सहयोगी विद्वान् इन अपूर्व ग्रन्थों से लाभ उठाते हुए इनके प्रचार में 'ज्ञानपीठ' को अवश्य सहयोग प्रदान करेंगे। ग्रन्थ इस प्रकार हैं :—

१ स्याद्वादसिद्धि—वादीभसिंहसूरि; पत्र सं०—१४; पंक्ति प्रतिपत्र—९; अक्षर प्रतिपंक्ति—९०; लिपि—कन्नड; भाषा—संस्कृत; विषय—न्याय; लेखनकाल— × ; अपूर्ण तथा सामान्य शुद्ध; दशा—जीर्ण।

२ ध्यानस्तव—भास्करनन्दी[१]; पत्र सं—२; पंक्ति प्रतिपत्र—९; अक्षर प्रतिपंक्ति—९३; लिपि—कन्नड; भाषा—संस्कृत; विषय—अध्यात्म; लेखनकाल— × ; पूर्ण तथा सामान्य शुद्ध; दशा—उत्तम।

३ परमागमसार—श्रुतमुनि; पत्र सं—६; पंक्ति प्रतिपत्र—९; अक्षर प्रतिपंक्ति—९०; लिपि—कन्नड; भाषा—प्राकृत; विषय—सिद्धान्त; लेखनकाल— × ; पूर्ण तथा शुद्ध; दशा—उत्तम।

४ नवपदार्थनिर्णय[२]—वादीभसिंहसूरि; पत्र सं—१६; पंक्ति प्रतिपत्र—९; अक्षर प्रतिपंक्ति—९६; लिपि-कन्नड; भाषा-संस्कृत; विषय—सिद्धान्त; लेखनकाल—×; पूर्ण तथा सामान्य शुद्ध; दशा—उत्तम।

५ परीक्षामुखवृत्ति—श्रीशुभचन्द्रदेव; पत्र सं—९४; पंक्ति प्रतिपत्र—७; अक्षर प्रतिपंक्ति—९८; लिपि—कन्नड; भाषा—संस्कृत; विषय-न्याय; लेखनकाल—×; अपूर्ण तथा सामान्य शुद्ध; दशा—उत्तम।

६ गणितसार—श्रीधराचार्य; पत्र सं—४५; पंक्ति प्रतिपत्र—६; अक्षर प्रतिपंक्ति—८५; लिपि—कन्नड; भाषा—संस्कृत; विषय—गणितशास्त्र; लेखनकाल— × ; पूर्ण तथा सामान्य शुद्ध; दशा—जीर्ण।

१ यह तत्त्वार्थवृत्ति के रचयिता हैं।

२ प्रायः इसकी एक प्रति 'पन्नालाल-सरस्वती-भवन' बम्बई में भी मौजूद है।

७ पुष्पांजलिमहाकाव्य—जयकीर्ति; पत्र सं—९; पंक्ति प्रतिपत्र—८; अक्षर प्रतिपंक्ति—९०; लिपि--कन्नड; भाषा--संस्कृत; विषय--काव्य; लेखनकाल— × ; अपूर्ण तथा सामान्य शुद्ध ; दशा—जीर्ण ।

८ विषमपदव्याख्यान[1]—......पत्र सं—१५; पंक्ति प्रतिपत्र—९; अक्षर प्रतिपंक्ति—१२५; लिपि--कन्नड; भाषा--संस्कृत; विषय--अध्यात्म; लेखनकाल— × ; पूर्ण तथा सामान्य शुद्ध; दशा--उत्तम ।

९ आराधनासार—मुनि रविचन्द्र; पत्र सं—८; पंक्ति प्रतिपत्र—९; अक्षर प्रतिपंक्ति ८८; लिपि--कन्नड; भाषा--संस्कृत; विषय--धर्म; लेखन—×; पूर्ण तथा सामान्य शुद्ध; दशा—उत्तम ।

१० कर्मप्रकृति—अभयचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती; पत्र सं—७६; पंक्ति प्रतिपत्र—८; अक्षर प्रतिपंक्ति—११०; लिपि—कन्नड; भाषा--संस्कृत; विषय--सिद्धान्त; लेखनकाल—×; पूर्ण तथा सामान्य शुद्ध; दशा—उत्तम ।

संक्षिप्त परिचय

आराधनासार—मुनि रविचन्द्र; पत्र सं—८; पंक्ति प्रतिपत्र -८; अक्षर प्रतिपंक्ति ८८; विषय--धर्म; लिपि--कन्नड; भाषा--संस्कृत; लेखनकाल--×; पूर्ण तथा शुद्ध; दशा--उत्तम ।

इसके प्रारम्भ में आराधना, आराधक, आराधनोपाय तथा आराधनाफल इन चारों को आराधना के चार चरण बतलाते हुए गुण-गुणी के भेद से आराध्य को दो प्रकार का बतलाया है। साथ ही साथ सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र एवं सम्यक्तप ये चारों आराध्य के चार गुण कहे गये हैं। आगे सम्यग्दर्शन के भेद-प्रभेदों को गिनाकर संक्षेप में उनके स्वरूप, स्वामी, काल एवं प्रयोजन आदि विस्तार से वर्णित हैं। इसके बाद दर्शन तथा ज्ञान के भेद-प्रभेदों को गिनाते हुए प्रत्येक के स्वरूप, स्वामी आदि कहे गये हैं।

इस ज्ञानाराधना के बाद क्रम प्राप्त सामायिक आदि सम्यक्चारित्र के भेद-प्रभेद, स्वरूप, काल तथा स्वामी साथ-साथ बतलाये गये हैं। इस प्रकरण में व्रत, समिति, गुप्ति, शील एवं संयम आदि भेद 'छेदोपस्थापनाचारित्र' के ही अन्तर्गत कहे गये हैं। अनन्तर सम्यक्तप के भेद-प्रभेदों का वर्णन करते हुए ध्यान के भेद तथा स्वामी आदि का स्वरूप विस्तार से कहा गया है। इस प्रकरण में बारह अनुप्रेक्षाएं 'संस्थानविचय' धर्म-ध्यान में ही परिगणित कर दी गई हैं। हां, यहां पर अनुप्रेक्षाओं का स्वरूप विस्तार से मिलता है। इसके बाद आराधक के भेद विस्तार से कह कर सलक्षण पंच परमेष्ठियों को ही गुणी बतलाकर दर्शन, ज्ञान तथा चारित्र आदि के आराधक कौन-कौन हो सकते हैं, यह विस्तार से वर्णित है।

पश्चात् शंकादि दोषों को त्यागकर निश्शंकितादि गुणों को प्राप्त करना ही दर्शनाराधनोपाय कह कर आगे क्रमशः ज्ञानादि आराधनोपाय भी बतलाये गये हैं। अन्त में चारों प्रकार

१ यह आचार्य गुणभद्र कृत 'आत्मानुशासन' की टीका है।

की आराधनाओं का फल बतलाते हुए प्रत्येक को मुख्य तथा अमुख्य के भेद से दो प्रकार का कहा है। जैसे---सम्यग्दर्शन का मुख्य फल क्षायिक सम्यक्त्व को पाना एवं अमुख्य फल एकेन्द्रिय तथा नरकादि में उत्पन्न न होना बतलाया है।

इसके रचयिता वर्तमान मैसूर राज्यान्तर्गत पनसोगे निवासी मुनि रविचन्द्र हैं। ग्रन्थ आर्या वृत्त में सरल संस्कृत में रचा गया है। यह अप्रकाशित नवीन ग्रन्थ प्रकाशनीय है।

कर्मप्रकृति---अभयचन्द्रसिद्धान्तचक्रवर्ती; पत्र सं---७½; पंक्ति प्रतिपत्र--८; अक्षर प्रतिपंक्ति--११०; विषय--सिद्धान्त; भाषा---संस्कृत; लिपि---कन्नड; पूर्ण तथा शुद्ध; दशा--सामान्य।

इसके प्रारम्भ में ज्ञानावरणादि मूल प्रकृतियों के साथ-साथ उत्तर प्रकृतियों का भी वर्णन दिया गया है। इस वर्णन में 'साता' के स्थान पर 'सात', 'स्वाति' के स्थान पर 'स्फाति' उपलब्ध है। यहां पर स्फाति का अर्थ अभयचन्द्रजी ने वल्मीक बतलाया है। रस नामकर्म के प्रकरण में आचार्यजी लवण को छठा रस न मान कर उसे मधुर में शामिल करते हैं। प्रकृतियों के वर्णन के बाद ग्रन्थ कर्त्ता स्थित्यादि बन्धों का वर्णन करते हैं। कर्मों की स्थिति के प्रकरण में 'कोटाकोटि' के स्थान पर 'कोटिकोटि' ही मिलता है। भावकर्म के प्रकरण में केवल भावकर्मों की संख्या नोकर्मों के प्रकरण में उनका स्वरूप ही दिया गया है। बाद संसारी तथा मुक्त जीवों का स्वरूप सविशद बतलाकर अधः-प्रवृत्यादि करणों का स्वरूप अंक-संदृष्टि-द्वारा विस्तार से कहा गया है। इस प्रकरण में शेष गुणस्थानों का स्वरूप भी बतला दिया गया है। मेरे ख्याल से यह ग्रन्थ अभी तक प्रकाशित नहीं हुआ है। विषय एवं साहित्य दोनों दृष्टियों से ग्रन्थ प्रकाशनीय है। इसके रचयिता आचार्य अभयचन्द्र 'गोम्मटसार' के टीकाकार ही मालूम होते हैं। ग्रन्थ गद्य रूप में सरल संस्कृत में लिखा गया है। अभयचन्द्रजी ने इस गहन विषय को सुलभ भाषा में समझाने का पर्याप्त प्रयत्न किया है। इस कार्य में वे सफल भी हुए हैं।

(क्रमशः)

स्वप्न और उसका फल

[ले०---श्रीयुत साहित्यरत्न, न्याय-ज्योतिषतीर्थ पं० नेमिचन्द्र जैन शास्त्री, आरा]

(गतांक से आगे)

वमन---स्वप्न में वमन और दस्त होना देखने से रोगी की मृत्यु; मल-मूत्र और सोना-चांदी का वमन करना देखने से निकट मृत्यु; रुधिर वमन करना देखने से ६ मास आयु शेष और दूध वमन करना देखने से पुत्र प्राप्ति होती है।

विवाह---स्वप्न में अन्य के विवाह या विवाहोत्सव में योग देना देखने से पीड़ा, दुःख या किसी आत्मीय जन की मृत्यु और अपना विवाह देखने से मृत्यु या मृत्यु तुल्य पीड़ा होती है।

वीणा—स्वप्न में अपने द्वारा वीणा बजाना देखने से पुत्र प्राप्ति; दूसरे के द्वारा वीणा बजाना देखने से मृत्यु या मृत्यु तुल्य पीड़ा होती है।

शृङ्ग—स्वप्न में शृङ्ग और नख वाले पशुओं का मारने के लिये दौड़ना देखने से राजभय और मारते हुए देखने से रोग होता है।

स्त्री—स्वप्न में श्वेत वस्त्र परिहिता, हाथों में श्वेत पुष्प या माला धारण करने वाली एवं सुन्दर आभूषणों से सुशोभित स्त्री के देखने तथा आलिङ्गन करने से धन-प्राप्ति और रोग-मुक्ति होती है। परस्त्रियों का लाभ होना अथवा आलिङ्गन करना देखने से शुभ फल होता है। पीतवस्त्र परिहिता और पीत पुष्प या पीत माला धारण करने वाली स्त्री को स्वप्न में देखने से कल्याण; समवस्त्र परिहिता, मुक्तकेशी और कृष्णवर्ण के दाँत वाली स्त्री का दर्शन या आलिङ्गन करना देखने से ६ मास के भीतर मृत्यु और कृष्णवर्णवाली, पापिनी, आचार विहीना, लम्ब-केशी, लम्बे स्तनवाली और मैले वस्त्र परिहिता स्त्री का दर्शन और आलिङ्गन करना देखने से शीघ्र मृत्यु होती है।

तिथियों के अनुसार स्वप्न का फल—

शुक्लपक्ष की प्रतिपदा—इस तिथि में स्वप्न देखने पर विलम्ब से फल मिलता है।

शुक्लपक्ष की द्वितीया—इस तिथि में स्वप्न देखने पर विपरीत फल होता है—अपने लिये देखने से दूसरे को और दूसरे के लिये देखने से अपने को फल मिलता है।

शुक्लपक्ष की तृतीया—इस तिथि में भी स्वप्न देखने से विपरीत फल मिलता है, पर फल की प्राप्ति विलम्ब से होती है।

शुक्लपक्ष की चतुर्थी और पंचमी इन तिथियों में स्वप्न देखने से दो महीने से लेकर दो वर्ष के भीतर तक फल मिलता है।

शुक्लपक्ष की षष्ठी, सप्तमी, अष्टमी, नवमी और दशमी—इन तिथियों में स्वप्न देखने से शीघ्र फल की प्राप्ति होती है तथा स्वप्न सत्य निकलता है।

शुक्लपक्ष की एकादशी और द्वादशी इन तिथियों में स्वप्न देखने से विलम्ब से फल होता है।

शुक्ल पक्ष की त्रयोदशी और चतुर्दशी—इन तिथियों में स्वप्न देखने से स्वप्न का फल नहीं मिलता है तथा स्वप्न मिथ्या होते हैं।

पूर्णिमा—इस तिथि के स्वप्न का फल अवश्य मिलता है।

कृष्णपक्ष की प्रतिपदा—इस तिथि के स्वप्न का फल नहीं होता है।

कृष्ण पक्ष की द्वितीया—इस तिथि के स्वप्न का फल विलम्ब से मिलता है। मतान्तर से इसका स्वप्न सार्थक होता है।

कृष्ण पक्ष की तृतीया और चतुर्थी—इन तिथियों के स्वप्न मिथ्या होते हैं।

कृष्ण पक्ष की पंचमी और षष्ठी—इन तिथियों के स्वप्न दो महीने बाद और ३ वर्ष के भीतर फल देने वाले होते हैं।

कृष्ण पक्ष की सप्तमी—इस तिथि का स्वप्न अवश्य शीघ्र ही फल देता है।

कृष्ण पक्ष की अष्टमी और नवमी—इन तिथियों के स्वप्न विपरीत फल देने वाले होते हैं।

कृष्णपक्ष की दशमी, एकादशी, द्वादशी और त्रयोदशी इन तिथियों के स्वप्न मिथ्या होते हैं।

कृष्ण पक्ष की चतुर्दशी—इस तिथि का स्वप्न सत्य होता है तथा शीघ्र ही फल देता है।

अमावस्या—इस तिथि का स्वप्न मिथ्या होता है।

जैन निमित्त शास्त्र के आधार पर कुछ विशिष्ट स्वप्नों के फल

धनप्राप्ति सूचक स्वप्न—स्वप्न में हाथी, घोड़ा, बैल और सिंह के ऊपर बैठकर गमन करता हुआ देखे तो शीघ्र धन मिलता है। पहाड़, नगर, ग्राम, नदी और समुद्र इनके देखने से भी अतुल लक्ष्मी की प्राप्ति होती है। तलवार, धनुष और बन्दूक आदि से शत्रुओं का ध्वन्स करना हुआ देखने से अपार धन मिलता है। स्वप्न में हाथी, घोड़ा, बैल, पहाड़, वृक्ष और गृह इन पर आरोहण करना हुआ देखने से भूमिके नीचे से धन मिलता है। स्वप्न में नख और रोम से रहित शरीर के देखने से लक्ष्मी की प्राप्ति होती है। स्वप्न में दही, छत्र, फूल, चमर, अन्न, वस्त्र, दीपक, ताम्बूल, सूर्य, चन्द्रमा, पुष्प, कमल, चन्दन, देव-पूजा, वीणा और अस्त्र देखने से शीघ्र ही अर्थ लाभ होता है। यदि स्वप्न में चिड़िया के पर पकड़कर उड़ता हुआ देखे तथा आकाश मार्ग में देवताओं की दुन्दुभि की आवाज सुने तो पृथ्वी के नीचे से शीघ्र धन मिलता है।

सन्तानोत्पादक स्वप्न—स्वप्न में वृषभ, कलश, माला, गन्ध, चन्दन, श्वेत पुष्प, आम, अमरूद, केला, सन्तरा, नीबू और नारियल इनकी प्राप्ति होने से तथा देव, मूर्त्ति, हाथी, सत्पुरुष, सिद्ध, गन्धर्व, गुरु, सुवर्ण, रत्न, जौ, गेहू, सरसों, कन्या, रक्त-पान करना, अपनी मृत्यु देखना, केला, कल्पवृक्ष, तीर्थ, तोरण, भूषण, राज्य मार्ग, और मट्ठा देखने से शीघ्र सन्तान की प्राप्ति होती है। किन्तु फल और पुष्पों का भक्षण करना देखने से सन्तान मरण तथा गर्भपात होता है।

मरण सूचक स्वप्न—स्वप्न में तेल मले हुए, नग्न होकर भैंस, गधे, ऊँट कृष्ण, बैल और काले घोड़े पर चढकर दक्षिण दिशा की ओर गमन करना देखने से; रसोई गृह में, लाल पुष्पों से परिपूर्ण वन में और सूतिका गृह में अंगभंग पुरुष का प्रवेश करना देखने से; झूलना गाना, खेलना, फोड़ना, हँसना, नदी के जल में नीचे चले जाना तथा सूर्य, चन्द्रमा, ध्वजा और ताराओं का गिरना देखने से; भस्म, घी, लोह, लाख, गीदड़, मुर्गा, बिलाव, गोह, न्योला, बिच्छू, मक्खी, सर्प और विवाह आदि उत्सव देखने से एवं स्वप्न में दाढ़ी, मूँछ और सिर के बाल मुँडवाना देखने से मृत्यु होती है।

रोगोत्पादक स्वप्न—स्वप्न में नेत्रों का रोग होना, कूप, गड्हा, गुफा, अन्धकार और बिल में गिरना देखने से; कचौड़ी, पूआ, खिचड़ी और पक्वान्न का भक्षण करना देखने से;

गरम जल, तैल और स्निग्ध पदार्थों का पान करना देखने से; काले, लाल और मैले वस्त्रों का पहनना देखने से; बिना सूर्य का दिन, बिना चन्द्रमा और तारों की रात्रि और असमय में वर्षा का होना देखने से; शुष्क वृक्ष पर चढ़ना देखने से; हँसना और गाना देखने से एवं भयानक पुरुष को पत्थर मारता हुआ देखने से शीघ्र रोग होता है।

शीघ्र पाणिग्रहण सूचक स्वप्न—स्वप्न में बालिका, मुरगी, और क्रौंच पक्षी के देखने से; पान, कपूर, अगर, चन्दन और पीले फलों की प्राप्ति होना देखने से रण, जुआ और विवाद में विजय होना देखने से; दिव्य वस्त्रों का पहनना देखने से; सुवर्ण और चाँदी के बर्तनों में खीर का भोजन करना देखने से एवं श्रेष्ठ पूज्य पुरुषों का दर्शन करने से शीघ्र विवाह होता है।

पाश्चात्य विद्वानों के मतानुसार स्वप्नों के फल

यों तो पाश्चात्य विद्वानों ने अधिकांश रूप से स्वप्नों को निस्सार बताया है, पर कुछ ऐसे भी दार्शनिक हैं जो स्वप्नों को सार्थक बतलाते हैं। उनका मत है कि स्वप्न में हमारी कई अतृप्त इच्छाएँ ही चरितार्थ होती हैं। जैसे हमारे मन में कहीं भ्रमण करने की इच्छा होने पर स्वप्न में यह देखना कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि हम कहीं भ्रमण कर रहे हैं। सम्भव है कि जिस इच्छा ने हमें भ्रमण का स्वप्न दिखाया है वही कालान्तर में हमें भ्रमण करावे। इसलिये स्वप्न से भावी घटनाओं का आभास मिलना साधारण बात है। कुछ विद्वानों ने इस थ्योरी का नाम Law of probability (सम्भाव्य गणित) रखा है। इस सिद्धान्त के अनुसार कुछ स्वप्न में देखी गई अतृप्त इच्छाएँ सत्यरूप में चरितार्थ होती हैं, क्योंकि बहुत समय कई इच्छाएँ अज्ञात होने के कारण स्वप्न में प्रकाशित रहती हैं और ये ही इच्छाएँ किसी कारण से मन में उदित होकर हमारे तदनुरूप कार्य करा सकती हैं। मानव अपनी इच्छाओं के बल से ही सांसारिक क्षेत्र में उन्नति या अवनति करता है, उसके जीवन में उत्पन्न होने वाली अनन्त इच्छाओं में कुछ इच्छाएँ अप्रस्फुटित अवस्था में ही विलीन हो जाती हैं, लेकिन कुछ इच्छाएँ परिपक्वावस्था तक चलती रहती हैं। इन इच्छाओं में इतनी विशेषता होती है कि ये बिना तृप्त हुए लुप्त नहीं हो सकतीं। सम्भाव्यगणित के सिद्धान्तानुसार जब स्वप्न में परिपक्वावस्थावाली अतृप्त इच्छाएँ प्रतीकाधार को लिए हुए देखी जाती हैं, उस समय स्वप्न का भावी फल सत्य निकलता है। अबाधभावानुसङ्ग से हमारे मन के अनेक गुप्तभाव प्रतीकों से ही प्रकट हो जाते हैं, मनकी स्वाभाविकधारा स्वप्न में प्रवाहित होती है जिससे स्वप्न में मन की अनेक चिन्ताएँ गुथी हुई प्रतीत होता है। स्वप्न के साथ संश्लिष्ट मन की जिन चिन्ताओं और गुप्त भावों का प्रतीकों से आभास मिलता है, वही स्वप्न का अव्यक्त अंश (Latent Content) भावी फल के रूप में प्रकट होता है। अस्तु, उपलब्ध सामग्री के आधार पर कुछ स्वप्नों के फल नीचे दिये जाते हैं—

अस्वस्थ—अपने सिवाय अन्य किसी को अस्वस्थ देखने से कष्ट होता है और स्वयं अपने को अस्वस्थ देखने से प्रसन्नता होती है। जी० एच० मिलर के मत के स्वप्न में स्वयं

अपने को अस्वस्थ देखने से कुटुम्बियों के साथ मेल-मिलाप बढ़ता है एवं एक मास के बाद स्वप्न द्रष्टा को कुछ शारीरिक कष्ट भी होता है तथा अन्य को अस्वस्थ देखने से द्रष्टा शीघ्र रोगी होता है। डाक्टर सी० जे० ह्विटवे के मतानुसार अपने को अस्वस्थ देखने से सुख शान्ति और दूसरे को अस्वस्थ देखने से विपत्ति होती है। शुकरात के सिद्धान्तानुसार अपने और दूसरे को अस्वस्थ देखना रोग सूचक है। त्रिवलोनियन और पृथग गोरियन के सिद्धान्तानुसार अपने को अस्वस्थ देखना नीरोग सूचक और दूसरे को अस्वस्थ देखना पुत्र, मित्रादि के रोग को प्रकट करने वाला होता है।

आवाज—स्वप्न में किसी विचित्र आवाज के स्वयं सुनने से अशुभ-सन्देश सुनने को मिलता है, यदि स्वप्न की आवाज सुनकर निद्रा भंग हो जाती है तो सारे कार्यों में परिवर्तन होने की संभावना होती है। अन्य किसी को आवाज सुनते हुए देखने से पुत्र और स्त्री को कष्ट होता है तथा अपने अति निकट कुटुम्बियों को आवाज सुनते हुए देखने से किसी आत्मीय की मृत्यु प्रकट होती है। डा० जी० एच० मिलर के मत में आवाज सुनना भ्रम का द्योतक है।

ऊपर – यदि स्वप्न में कोई चीज अपने ऊपर लटकती हुई दिखलाई पड़े और उसके गिरने का सन्देह हो तो शत्रुओं के द्वारा धोखा होता है। ऊपर गिर जाने से धन नाश होता है, यदि ऊपर न गिरकर पास में गिरती है तो धन-हानि के साथ स्त्री, पुत्र एवं अन्य कुटुम्बियों को कष्ट होता है। जी० एच० मिलर के मत में किसी भी वस्तु का ऊपर गिरना धन नाश कारक है। डा० सी० जे ह्विटवे के मत में किसी वस्तु के ऊपर गिरने से तथा गिरकर चोट लगने से मृत्यु तुल्य कष्ट होता है।

कटार—स्वप्न में कटार के देखने से कष्ट और कटार चलाते हुए देखने से धन हानि तथा निकट कुटुम्बी के दर्शन, मान्स भोजन एवं पत्नी से प्रेम होता है। किसी-किसी के मत से अपने में स्वयं कटार भोंकते हुए देखने से किसी के रोगी होने के समाचार सुनाई पड़ते हैं।

कनेर—स्वप्न में कनेर के फूले वृक्ष का दर्शन करने से मान प्रतिष्ठा मिलती है। कनेर के वृक्ष से फूल और पत्तों को गिरना देखने से किसी निकट आत्मीय की मृत्यु होती है। कनेर का फल भक्षण करना रोग सूचक है तथा एक सप्ताह के भीतर अत्यन्त अशान्ति देने वाला होता है। कनेर के वृक्ष के नीचे बैठकर पुस्तक पढ़ता हुआ अपने को देखने से दो वर्ष के बाद साहित्यिक क्षेत्र में यश की प्राप्ति होती है एवं नये-नये प्रयोगों का आविष्कर्त्ता होता है।

किला— किले की रक्षा के लिये लड़ाई करते हुए देखने से मानहानि एवं चिन्ताएँ; किले में भ्रमण करने से शारीरिक कष्ट; किले के दरवाजे पर पहरा लगाने से प्रेमिका से मिलन एवं मित्रों की प्राप्ति और किले के देखने मात्र से परदेशी बन्धु से मिलन होता है तथा सुन्दर स्वादिष्ट मान्स भक्षण को मिलता है।

केला—स्वप्न में केला का दर्शन शुभ फलदायक होता है और केले का भक्षण अनिष्ट फल देने वाला होता है। किसी के हाथ से जबरदस्ती केला लेकर खाने से मृत्यु और केले के पत्तों पर रखकर भोजन करने से कष्ट एवं केले के थम्भे लगाने से घर में माङ्गलिक कार्य होते हैं।

केश—किसी सुन्दरी के केशपास का स्वप्न में चुम्बन करने से प्रेमिका मिलन और केश के दर्शन से मुकदमे में पराजय एवं दैनिक कार्यों में असफलता मिलती है।

खल—स्वप्न में किसी खल (दुष्ट) के दर्शन करने से मित्रों से अनबन और लड़ाई करने से मित्रों से प्रेम होता है। खल के साथ मित्रता करने से नाना भय और चिन्ताएँ होती हैं। खल के साथ भोजन-पान करने से शारीरिक कष्ट; बातचात करने से रोग और उसके हाथ से दूध लेने से सैकड़ों रुपयों की प्राप्ति होती है। किसी-किसी के मत से खल का दर्शन शुभ माना गया है।

खेल—स्वप्न में खेल खेलते हुए अपने को देखने से स्वास्थ्य वृद्धि और दूसरों को खेलते हुए देखने से ख्याति लाभ होता है। खेल में अपने को पराजित देखने से कार्य साफल्य और जय देखने से कार्य हानि होती है। खेल के मैदान का दर्शन करने से युद्ध में भाग लेना का संकेत होता है। खिलाड़ियों का आपस में मल्लयुद्ध करते हुए देखना बड़े भारी रोग का सूचक है।

गाय—यदि स्वप्न में कोई गाय दूध दुहने की इन्तजारी मे बैठी हुई दिखलाई पड़े तो सभी इच्छाओं की पूर्त्ति होती है। गाय का दर्शन जी० एच० मिलर के मत से प्रेमिका मिलन सूचक बताया गया है। चारा खाते हुए गाय को देखने से अन्न प्राप्ति; बछड़ा पिलाते हुए देखने से पुत्र प्राप्ति; गोबर करते हुए गाय को देखने से धन प्राप्ति और पागुर करते हुए देखने से कार्य में सफलता मिलती है।

घड़ी—स्वप्न में घड़ी देखने से शत्रु भय होता है। घड़ी के घण्टों की आवाज सुनने से दुःखद संवाद सुनते है या किसी मित्र की मृत्यु का समाचार सुनाई पड़ता है। किसी के हाथ से घड़ी गिरते हुए देखने से मृत्यु तुल्य कष्ट होता है। अपने हाथ की घड़ी का गिरना देखने से छः महीने के भीतर मृत्यु होती है।

चाय—स्वप्न में चाय का पीना देखने से शारीरिक कष्ट, प्रेमिका वियोग एवं व्यापार में हानि होती है। मतान्तर से चाय-पीना शुभकारक भी है।

जन्म—यदि स्वप्न में कोई स्त्री बच्चे का जन्म देखे तो उसकी किसी सखी सहेली को पुत्र प्राप्ति होती है तथा उसे उपहार मिलते हैं। यदि पुरुष यही स्वप्न देखे तो उसे यश प्राप्ति होती है।

झाड़ू—यदि स्वप्न में नया झाड़ू दिखाई पड़े तो शीघ्र ही भाग्योदय होता है। पुराने झाड़ू का दर्शन करने से सट्टे में धन हानि होती है। यदि स्त्री इसी स्वप्न को देखे तो उसे भविष्य में नाना कष्टों का सामना करना पड़ता है।

The JAINA ANTIQUARY

" श्रीमत्परमगम्भीरस्याद्वादामोघलाञ्छनम् ।
जीयात् त्रैलोक्यनाथस्य शासनं जिनशासनम् ॥ "
[अकलंकदेव]

Vol. X No. II | ARRAH (INDIA) | January, 1945,

A CRITICAL EXAMINATION OF ŚVETĀMBARA AND DIGAMBARA CHRONOLOGICAL TRADITIONS

By

Prof.—H. C. Seth, M. A., Ph., D. (London)

Both the Śvetāmabara and the Digambara sects of the Jains have preserved certain chronological traditions. A comparative study of these may yield useful results. The most importatnt of these Jain chronologies is the Śvetāmbara one given in Tapāgaccha paṭṭavalī[1]. and Merutuṅga's Vicārśreṇī[2], which has been made familiar by

---

1 जं रयणि कालगओ अरिहा तित्थंकरो महावीरो ।
तं रयणि अवणिवई अहिसित्तो पालओ राया ॥१॥
सट्ठी (६०) पालयरण्णो पणवण्णासयं तु होइ नंदाणं (१५५) ।
अट्ठसयं मुरियाणं (१०८) तीसच्चिअ पूसमित्तस्स (३०) ॥२॥
बलमित्त-भाणुमित्ता सट्ठी (६०) वरिसाणि चत्त नहवाणे (४०) ।
तह गद्दभिल्लरज्जं तेरस (१३) वरिस सगस्स चऊ (४) ॥३॥

Tapāgachha Paṭṭavalī

2 जं रयणि कालगओ अरिहा तित्थंकरो महावीरो ।
तं रयणिमवंतिवई अहिसित्तो पालगो राया ॥
(वीरनिव्वाणरयणीओ चंडपज्जोयरायपदम्मि ।
उज्जेणीए जाओ पालयनामा महाराया ॥)
सट्ठी पालगरन्नो पणवन्नसयं तु होइ नन्दाणं ।
अट्ठसयं मुरियाणं तीसच्चिय पूसमित्तस्स ॥

European scholars like Bühler, Jacobi and Charpentier. This tradition puts Mahāvīra Nirvāṇa 470 years before the Vikrama era. As the beginning of the Vikrama era synchronises with 58 B.C. this tradition gives 528 B.C. as the date of Mahāvīra Nirvāṇa. This tradition also records that Mahāvīra died on the same night as Pālaka was anointed king in Avantī, and 470 years between Mahāvīra Nirvāna and the commencement of the Vikrama era are made up of the reign-periods of the following kings and dynasties :

			Years.
Pālaka	...	.	60
Nandas	...	...	155
Mauryas	...	...	108
Pusyamitra	...		30
Balamitra and Bhānumitra		...	60
Nahavāṇa or Nahavahaṇa		...	40
Gardabhilla	...	...	13
Śakas	...	...	4
			470

After this in Merutuṅga's Vicārsreṇī we have 135 years assigned to Vikramāditya and his dynasty, after which, or 605 years after Mahāvīra Nirvāṇa, comes the Śaka king who displaces the dynasty of Vikramāditya.

Much credit has not been given by modern scholars to the Jain traditional date of 528 B.C. for the death of Mahāvīra, as this date puts too big a gap between Buddha, who as is now generally believed died within a few years of 480 B. C., and Mahāvīra to make them contemporaneous, which fact is so clearly implied in both the Buddhist as well as the Jain traditions. But unfortunately the whole of this chronological tradition is lightly set aside as useless. As jarl

---

बलमित्त-भाणुमित्ताण सट्ठि वरिसाणि चत्त नहवहणे ।
तह गद्दभिल्लरज्जं तेरस वासे सगस्स चऊ ॥
विक्कमरज्जाणंतरसतरसवासेहिं वच्छरपवित्ती ।
सेसं पुण पणतीससयविक्कमकालम्मि य पविट्ठं ॥
विक्कमरज्जारंभा परओ सिरिवीरनिव्वुई भणिया ।
सुन्न-मुणि-वेय-जुत्तो विक्कमकालाउ जिणकालो ॥
श्रीवीरनिर्वृतेर्वर्षैः षड्भिः पञ्चोत्तरैः शतैः ।
शाकसंवत्सरस्यैषा प्रवृत्तिर्भरतेऽभवत् ॥

Merutuṅga's Vicārśreṇī.

Charpentier observes, "The Jains themselves have preserved Chronological records concerning Mahāvīra and the succeeding pontiffs of the Jain church, which may have been begun at a comparatively early date. But it seems quite clear that, at the time when these lists were put into their present form, the real date of Mahāvīra had already either been forgotten or was at least doubtful. The traditional date of Mahāvīra's death on which the Jains base their chronological calculations corresponds to the year 470 before the foundation of the Vikrama era in 58 B.C., i.e. 528 B C. This reckoning is based mainly on a list of kings and dynasties, who are supposed to have reigned between 528 and 58 B.C., but the list is absolutely valueless, as it confuses rulers of Ujjain, Magadha, and other kingdoms and some of these may perhaps have been contemporary, and not successive as they are represented."[1]

It is not correct to treat these Jain chronological traditions as referring to the kings of Magadha. In fairness to these traditions it should be noted that all the kings and dynasties mentioned in these are definitely known to be connected with Central and Western India, of course, some of them ruled over a big empire covering other parts of India including Magadha. It may be useful to estimate the truth underlying these traditions by comparing them with other Jain chronological traditions, and also with the Paurāṇic and the Buddhist traditions bearing on them. We must however remember, as pointed out by Merutuṅga[2], that in these traditions complete dynastic list in each case is not given and sometimes only certain important ruler is mentioned, and under his name total reign of the whole dynasty given.

We have another Śvetāmbara Jain chronological tradition, slightly different than the above, given in Titthagolīpainnaya, which gives the following chronology[3].

1 Cambridge History of India Vol. I P. 155-156. See als IA. Vol. XLIII P. 118 ff.

2 इह यदा यो राजा ख्यातिमानभूत्, तदा—
तस्य राज्यं गण्यते, न तु पट्टानुक्रमः। Vicārsreṇī.

3 जं रयणि सिद्धिगओ अरहा तित्थंकरो महावीरो।
तं रयणि अवंतीए अभिसित्तो पालओ राया ॥६२०॥
पालगरण्णो सट्ठी पुण पण्णसयं वियाणि नन्दाणं।
मुरियाणं सट्ठिसयं पणतीसा पुस्समित्ताणं (त्तस्स) ॥६२१॥

Pālaka ...	...	60 years.
Nandas ...	...	150 ,,
Mauryas ...	...	160 ,,
Puṣyamitra ...	...	35 ,,
Balamitra & Bhānumitra	...	60 ,,
Nabhasena ...	...	40 ,,
Gadabhas ...	...	100 ,,

This tradition also places the Śaka king after Gadabhas, 605 years after Mahāvira's Nirvāṇa.

The Digambara sect of the Jains has preserved chronological traditions, which excepting in one or two important respects are not far different from the Śvetāmbara ones given above. Tiloyapaṇṇati[1] and Jinsena's Harivaṁśa Purāṇa[2], important Digambara

बलमित्त-भाणुमित्ता सट्ठा चत्ता य हौंति नभसेणो ।
गद्दभसयं एकं पुण पडिवन्नो तो सगो राया ॥६२२॥
पंच मासा पंच य वासा छच्चेव हौंति वाससया ।
परिनिव्वुअस्सऽरिहतो तो उप्पन्नो सगो राया ॥६२३॥

Shantilal Shah: "The Traditional Chronology of the Jainas." P. 16 f.

Shah regards Titthagolipainnya as the oldest Jain Chronological work. He assigns it to the early part of the fourth century A D.

The above verses from Tithagolipainnya are also quoted by Muni Darshan Vijya in his "Pattavali Samucaya." P. 197.

1 जक्काले वीरजिणो णिस्सेयससंपयं समावण्णो ।
तक्काले अभिसित्तो पालयणामो अवंतिसुदो ॥१५०५॥
पालकरज्जं सट्ठि इगिसयपणवण्ण विजयवंसभवा ।
चालं मुरुदयवंसा तीसं वस्सा सुपुस्समित्तस्स ॥१५०६॥
वसुमित्तअग्गिमित्ता सट्ठी गंधव्वया वि सयमेक्कं ।
णरवाहणा य चालं तत्तो भत्थट्ठणा जादा ॥१५०७॥
भत्थट्ठणाण कालो दोण्णि सयाइं हवंति बादाला ।
तत्तो गुत्ता ताणं रज्जे दोण्णि य सयाणि इगितीसा ॥१५०८॥
तत्तो कक्की जादो इंदसुदो तस्स चउ मुहो णामो ।
सत्तरि वरिसा आऊ विगुणियइगिवीस रज्जंतो ॥१५०९॥
णिव्वाणे वीरजिणे छव्वाससदेसु पंचवरिसेसुं ।
पणमासेसु गदेसुं संजादो सगणिओ अहवा ॥१४९९॥

Tiolyapaṇṇati (Jilvaraja Granthmala. Sholapur, under print.)

2 वीरनिर्वाणकाले च पालकोऽत्राभिषिच्यते । लोकेऽवंतिसुतो राजा प्रजानां प्रतिपालकः ॥४८७॥
षष्टिवर्षाणि तद्राज्यं ततो विजयभूभुजां । शतं च पंचपंचाशद्वर्षाणि तदुदीरितं ॥४८८॥
चत्वारिंशत्पुरूढानां भूमंडलमखंडितं । त्रिंशत्तु पुष्पमित्राणां षष्टिर्वस्वग्निमित्रयोः ॥४८९॥
शतं रासभराजानां नरवाहनमप्यतः । चत्वारिंशत्ततो द्वाभ्यां चत्वारिंशच्छतद्वयं ॥४९०॥

texts, give the following chronology :—

			Year.
Pālaka	...	...	60
Vijya Kings (Nandas?)		...	155
Muruda Kings (Mauryas?)		...	40
Puṣyamitra	...	...	30
Vasumitra and Agnimitra		...	60
Gandhavas or Rāsabhas		...	100
Narvahāṇa	...	...	40
Bhathaṭṭhaṇa	...	...	242
Guptas	...	...	231
Kalki	...	...	42

This tradition thus gives 1000 years between the death of Mahāvīra and the end of the reign of Kalki. These Digambara texts also separately record that 605 years elapsed between Mahāvīra Nirvāṇa and the Śaka king, but unlike the Śvetāmbara ones, they do not give any details of the reign-period during this interval.

All the Jain traditions given above assign 60 years to Pālaka. This may include not only the reign-period of Pālaka but also of his descendents. Sixty years of the reign-period for Pālaka is implied by the tradition reported by Hemacandra who says that Nanda became king sixty years after Mahāvīra Nirvāṇa[1]. This probably refers to Nandivardhana, who succeeded Pālaka's dynasty in Ujjain.

भद्रवाणस्य तद्राज्यं गुप्तानां च शतद्वयं । एकविंशश्च वर्षाणि कालविद्भिरुदाहृतं ॥४९१॥
द्विचत्वारिंशदेवातः काल्किराजस्य राजता । ततोऽजितंजयो राजा स्यादिंद्रपुरसंस्थितः ॥४९२॥
वर्षाणां षट्शतीं त्यक्त्वा पंचाग्रं मासपंचक । मुक्ति गते महावीरे शकराजस्ततोऽभवत् ॥५५१॥
मुक्ति गते महावीरे प्रतिवर्ष सहस्रकं । एकैको जायते कल्की जिनधर्मविरोधकः ॥५५२॥

Jinasena Harivaṁśa Purāṇa Ch. 60.

In the manuscript of this work used by K. B. Pathak, Guptas are given 231 years, गुप्तानां च शतद्वयम् । एकत्रिंशच्च वर्षाणि कालविद्भिरुदाहृतम् ॥
(In Art. Vol. XV P, 142.)

It we assign 231 years to the Guptas then only we shall get 1000 years, mentioned in these traditions as the interval between the death of Mahāvīra and that of Kalki. 231 years for the Guptas also given in Tiloyapaṇṇati appear to be the correct version.

The Ms. used by Pathak has Muruda instead of Puruda and Bhaṭṭavaṇa instead of Bhadravāṇa. The Ms. used by Jayaswal (In Ar. Vol, 46) has Vijya instead of Vishya and Bhaṭṭavāṇa instead of Bhadravāṇa.

1 अनन्तरं वर्द्धमानस्वामिनिर्वाण—वासरात
गतायां षष्ठिवत्सर्यामेष नन्दोऽभवन्नृपः(परि० ६, २४३)

The Purāṇas record conflicting chronologies for the Pradyota dynasty. However certain Paurāṇic traditions seem to indicate that five kings in Pradyota line, all of whom appear to be his sons, perished after a reign of 52 years[1]. This comes near the sixty years assigned to Pradyota's son Pālaka in the Jain traditions.

As regards the Nandas the Jain traditions given above assign to them a period of 155 or 150 years. On the other hand, as noticed above, Hemacandra gives 155 years between the death of Mahāvīra and the accession of Candragupta Maurya[2], which may not be far from truth. If we knock out of this period 60 years assigned by him as the period between the death of Mahāvira and the accession of the Nanda King, it will leave 95 years for the Nandas. The ceylonese Buddhist traditions seem to give 90 years to the same dynasty[3]. The Purāṇas again record conflicting chronological traditions about the Nanda dynasty. But a total of hundred years for all the Nandas is suggested by certain Paurāṇic traditions, which say that after the Nandas had reigned for one hundred years Kautilya uprooted them, and the sovereignty passed on to the Mauryas[4]. This may be more or less correct tradition.

As regards the Mauryas there seems to be great uncertainty about their reign-period in the Jain traditions given above One Śvetāmbara tradition assigns 160 years to the Mauryas another 108 years, and the Digambara traditions assign to this dynasty only 40 years The last seems to be of no value as the reign-period of the first three great Mauryas, Candragupta, Bindusāra and Aśoka, itself comes to 85 years according to the unanimous tradition recorded in

1 Pargiter DKA. P. 68

2 एवं च श्रीमहावीरमुक्तेर्वर्षशते गते ।
पंच-पंचाशदधिके चन्द्रगुप्तोऽभवन्नृपः ॥ (परि, ८, ३३६)

3 Susunāga ... 18.
Kālāsoka ... 28.
Ten sons of Kālāsoka ... 22.
Nine Nandas .. 22. Cam. Hist. of India, Vol. I. P. 189.

Susunāga of the Buddhist traditions has been correctly identified with Nandwardhana and Kālāsoka with Mahanandin by S.N. Pradhan, "Chronology of Ancient India" P. 220 ff.

4 Pargiter, DKA, P. 69.

the Purāṇas[1], and 93 years according to the Ceylonese Buddhist traditions[2]. There is also no doubt, as is evidenced by inscriptional records as well as the traditional accounts, that the rule of these first three great Mauryas extended to Central and Western India. The association of Samprati, grandson of Aśoke and a great patron of Jainism, with Central and Western India is also very strongly attested by the Jain traditions[3]. Only in certain Purāṇas we get a complete record of the chronology of the Maurya kings, which is as follows[4] :

Candragupta	...	...	24 years
Bindusara	...	...	25 "
Aśoka	....	...	36 "
Kunāla	...	...	8 "
Bandhupālita	...	..	8 "
Daśona	...	...	7 "
Daśaratha	..	...	8 "
Samprati	...	...	9 "
Śāliśuka	. .	...	13 "
Devadharman or Devavarman		...	7 "
Śatadhanvan	...	...	8 "
Bṛithadratha	...	...	7 "
		Tatal ...	160 years.

Against this total of 160 years contained by adding the reign-periods of the various Maurya Kings. Some of the Purāṇas give a total of 137 years for the Maurya dynasty. A comparison of the Paurāṇic and the Jain traditions concerning the reign-period of the Mauryas will make us give more credit to a total reign-period of 160 years to this dynasty. In any case it must be noted that if we assign 100 years to the Nandas and 160 years to the Mauryas we get a total of

1 The Purāṇas give the following reing-periods for these monarchs. Candragupta 24 years. Bindusāra ..25 years. Aśoka...36 years.
Pargiter, DKA. P. 70.

2. The traditions as preserved in Mahāvaṁśa give the following chronology of the reign of these three kings.
Candragupta 24 years, Bindusāra 28 years, Aśoka 41 years
(Four years before his coronation and 37 years after it.)

3. We gather from the Jain work Dipalike Kalpa of Jinsundara that Samprati became king of Ujjain 300 years after Mahāvīra Nirvāṇa.
दिनतो मम मोक्षस्य गते वर्षशतत्रये । उज्जयिन्यां महापुर्यां भावी संप्रति भूपतिः ॥

4 Pargiter DKA.
Also compare Cam Hist. of India. Vol. I. P. 511.

260 years for these two dynasties, which is very near 263 years (155 + 108) assigned to these two dynasties in the traditions recorded in Tapāgaccha Paṭṭavalī and in Merutuṅga's Vicārśreṇi.

After the Mauryas all the Jain traditions except one assign 30 years to Puṣyamitra, and after him some traditions assign 60 years to his son and grandson, Agnimitra and Vasumitra, others assign these 60 years to Balamitra and Bhāṇumitra, who also, appear to belong to the Śuṅga dynasty. Against the 90 years assigned to the Śuṅgas in the Jain traditions, the Purāṇas assign a total reign-period of 112 years to this dynasty. This discrepancy between the Jain and the Paurāṇic total for this dynasty may be due to the fact the Jain traditions give its reign-period in Central and Western India, where as the Paurāṇic traditions record the total reign-period of the dynasty of Magadha. As suggested by the rise of the Andhras the influence of the Śuṅgas ceased earlier in Central and Western India than perhaps in Magadha and Eastern India The Sāñchī inscriptions of the Andhra king Śātakarṇī[1] may indicate that the influence of this dynasty had reached Central India in the first Century B. C. On the other hand "it is indeed doubtful if the Andhras ever ruled in Magadha"[2] Ninety years of the reign-period in Central and Western India assigned to the Śuṅgas in the Jain records may be a correct tradition.

So far from Pālaka down to the end of the Śuṅgas the dynastic succession list, apart from differing reign-period in certain cases, is the same in all the Jain traditions. It is after this that serious discrepancy appears amongst the various Jain traditions The Śvetāmbara traditions quoted above from Merutuṅga's Vicārśreṇi, Tapāgachha Paṭṭavali and Titthagolīpainnaya place 40 years of Nahavāṇa after Balamitra and Bhanumitra. After Nahavāṇa Tappāgachha Paṭṭavalī and Vicārśreṇi assign 13 years to Gardabhila and 4 to the Śakas.

To be continued.

---

1 Lüders, 'List of Brahmi Inscriptions No. 346'.

2. Cambridge History of India Vol- I. P, 224.

TAVANIDHI AND ITS INSCRIPTIONS

By

Prof. Dr A N Upadhye.

Tavanidhi is a Jaina holy place, situated on the left side of Poona to Bangalore road, a couple of miles to the south of Nipani in the Belgaum District Its name is variously written : Tavanidhi, Stavanidhi, Tavandi, Tavadi etc. There is a village called Tavandi on the top of the hillock, in the angular valley we have a huge stone building containing a row of temples, five in number; and this holy shrine is lately famous as Śrī Kṣetra Stavanidhi There is a huge stone enclosure with a series of rooms going round (*Pauli.* as it is called); lately, however, the Eastern wall is fallen. Within the enclosure there is a Mānasthambha in front of the central temple; and in the corner there is a water-tank lately constructed. This constitutes the main shrine. Outside this area, but still a part of this holy place, we have (Kūga) Brahmanātha on the slope of the opposite hillock; and there is a small temple of Padmāvatī, near the lake, at a distance of a couple of furlongs to the North of the main shrine. Every month on the day of Amāvāsyā many Jainas from Northern Karṇāṭaka and Southern Mahārāṣṭra visit this place; and once in a year there is a big fair which attracts many Jaina families from longer distances. Lately some fresh buildings are built and a Gurukula is started there.

The row of temples faces the East. It falls into three units with two cammon full walls. The two units on both the sides contain two niches each. Starting from the right, the first niche contains the image of Brahmanātha or Kṣetrapāla, all literally covered or besmeared with Sendūra and oil. The second niche contains the stone image of Śāntinātha in a seated posture with Yakṣa and Yakṣī; its appearance is quite old. The central temple contains a stone idol of Pārśvanātha in standing posture, with Yakṣa and Yakṣī. It is much damaged: one suspects that the broken pieces are put together. Possibly on account of this, the image is called Navakhaṇḍa Pārśvanātha. It is also called Cintāmaṇi Pārśvanāth. Some legends are associated with it; and I am trying to collect them from oral sources. The fourth niche contains the stone idol, in standing posture, of Ādinātha with Yakṣa and Yakṣī. It is of black stone; the polish is gone; and its appearance is quite old. I could not trace

any inscription in the temples described above. Coming to the last temple, which would be the first from the left side, there are two images, one on the upper *pīṭha* and one on the lower *pīṭha*. The image of Pārśvanātha on the upper *pīṭha*, though smaller in size, is no doubt older in age and also the earlier occupant of that temple. On its bace we have a short inscription in Old-kannaḍa characters; it is partly effaced; but the following letters could be read :

श्रीम * द्राविडसंघद * *

The image on the lower *pīṭha* is also of Pārśvanātha, in a standing posture, with seven hoods, with *prabhā-valaya* and with Yakṣa and Yakṣī. The image is quite attractive and commands devotion. The appearance is old and the polish is fine. On its base we have two Kannaḍa inscriptions, written at different times. The handwriting clearly betrays the difference in age. The first, whose characters are definitely old, runs thus in four lines :

[१] श्रीमूलसंघ देशियगण पुस्तकगच्छद श्रीवीरणंदि
[२] सिद्धांतचक्रवर्त्तिदेवरगुड्डुसेनरसन मुत्तव्वे ल
[३] च्येयादेवियरु माडिसिद बसदि [।] रूवारि
[४] जिणोजं माडिद प्रतिमे मंगड महा श्री श्री [॥]

Then there is a second inscription which runs thus :

[१] स्वस्ति श्रीलक्ष्मीसेनभट्टारकस्वामि संस्थापित श्री पार्श्वनाथः शके १८०२
[२] विक्रमनामसंवत्सरे चैत्र शु ॥१२॥ शुभलग्ने

This second record tells us that the image was installed (at Tavanidhi) by Śrī Lakṣmīsena Bhaṭṭāraka in Śaka 1802 (+ 78 = 1880 A.D.), Vikrama year, Caitra Śuddha 12. This event of Pratiṣṭhāpana is still within memory of some elderly people. The presentday Śrī Lakṣmīsena Bhaṭṭārakaji tells me that this image was found near about Hukeri (Belgaum District); and that his predecessor brought it to Tavanidhi and installed it there after performing a *pratiṣṭhā-mahotsava*

The first inscription is more important, because it is as old as the image itself. It gives the following information : The image was carved by the architect Jinnoja; the temple (in which it was first installed) was caused to be built by Lacceyādevi, the grand-mother of Senarasa; this Senarasa was a pupil of Vīraṇaṁdi Siddhānta Cakravarti of the Pustaka-gaccha, Deśiya-gaṇa, and Mūlasaṁgha.

The recording of this inscription is simultaneous with the carving of this image; and we have to see whether we can settle the date of it.

I am inclined to suggest that in all probability the ācārya mentioned in the record in the same as Vīranandi, the author of Ācārasāra, who is also styled Śrīmad-Vīranandi-Saiddhānti-Cakravarti[1]. It is not difficult to settle his age. He wrote a Kannaḍa commentary on his own Ācārasāra in Śaka 1076 (+ 78 = 1154 A. D.). Thus he flourished about the middle of the 12th century A. D. It is to this period, consequently, we should assign the Pārśvanātha image on the lower *pīṭha*. The appearance of the Kannaḍa characters also confirms this age.

Though the image of Pārśvanātha, the date of which is settled above, stands to-day at Tavanidhi, there is no doubt that it had no connection with that holy place before Śaka 1802 when it was brought from outside and established there by Śri Lakṣmīsena. I am trying to get more information about the original place of this image. Its age does not in any way shed light on the antiquity of Tavanidhi, as a holy place; and this question has to be studied from other sources.

To-day Tavanidhi is famous for Brahmanātha or Kṣetrapāla; and from what I hear from elderly people, it has been a *kṣetra* for the last one hundred years or so. Let us see whether we can push this period backward with literary and epigraphic evidence.

(1) Śīlavijaya, a Śvetāmbara Jaina monk, visited various Jaina holy places of Deccan in Saṁvat 1731-32 (– 57 = 1674 A.D.) and wrote an account called Tīrthamālā[2]. He refers to Tavanidhi (wrongly written as Navanidhi) rather casually along with Rāyabaga and Hukeri. The contemporary ruler was Śivaji.

(2) Then going still earlier, Nayasena in his Kannaḍa Dharmāmṛta (composed on Sunday, 25th August, 1112 A D.) refers to Pārśvanātha at Tavanidhi[3]. Apparently this is not a reference to the image of Pārśvanātha, which was brought there from outside in Śaka 1802. The characters of the inscription on the smaller image look older than those on the bigger image in the last temple. So Nayasena has in view either the smaller image of Pārśvanātha in the last temple or the Cintāmaṇi Pārśvanātha in the central temple.

Thus Tavanidhi is known to be a holy place with the image of Parśvanātha at least from the days of Nayasena, i.e., beginning of the 12th century A D. I request other scholars to shed further light on the antiquity of this Kṣetra.

---

1. About Vīranadis see Jaina Hitaishī, XII, pp. 213 f., Introduction to the Ācārasāra, Bombay Saṁvat 1974; Karnāṭaka Kavicarite, Vol. I, p. 168.

(2) Premi : Jaina Sāhıty aura Itihāsa, p. 238.

(3) Shastri : Sources of Karnataka History, Mysore 1940, pp. 187-88,

Pre-historic Jaina Paintings.

By

Jyoti Prasad Jain M. A. L. L B, Lucknow.

Mr. Panchanan Mitra, in his "Pre-historic India – Its place in the world's cultures," published by the university of Calcutta (1927 A.D.) has given, under the heading of "Pre-historic cave art and rock carvings", an account of the Raigarh cave paintings. These paintings, ths learned author tells us "are of great interest and cannot be estimated by less than thousands of years." 'They are', he says, "much older than all that have been hitherto discovered." (Page 196).

These Singanpur paintings were discovered on the walls of a cavern, on a hill of that name, situated near Raigarh, in the central Provinces, in about the year 1910, by Mr Anderson and company. They have, since then, been studied by various experts, and have been believed to be thousands of years old, the oldest yet discovered. The hill is well known to the villagers of Singanpur on account of the caves it contains. They further traditionally believe that there were three Mandirs (temples) on that hill, where hermits used to reside, in olden times.

The subjects of the paintings are (i) groups of figures, (ii) drawings of animals, reptiles etc., (iii) picture writing, or heiroglyphs of the Egyption type, and (iv) hunting scenes; and they suggest the existence of magic and to temistic rites, in those times. This description of those paintings, however, is based on what they appear to be to the pre-historic experts. In his book, Mr. Mitra has reproduced a few of these paintings, two of which are of particular interest to us.

(1) In plate XLV (S. 23), there are represented three human figures, standing with upraised hands and looking upwards towards a Trident (Trisul), placed erect, in the left hand corner above.

And (2) in plate XLI (S. 19) there is represented a single standing human figure. The two legs are unproportionately long. From the foot of the left leg up goes a zigzag ladder like thing, made up of eight straight lines, and touching the left leg in five points while the right leg in four points It ends near the joint of the left thigh with the body. On the outward side of this left leg there are fourteen triangular spots, at regular intervals, from one end of the leg to the

other. Both the hands are raised above the head, in a semicircular form. The left hand is again made up of three triangular blocks, separated from one another.

These figures are evidently very crude and primitive, with no fineness or figurative details of the body, nor is any proportion maintained. They are merely sort of rough lineal sketches.

Now we have to examine what these crude, primitive and pre-historic paintings, in the form of what appear to be mystic symolicisms, and found worked out on the walls of certain very ancient caves on a hill, far from habitation, and till recently believed to be abodes of ascetic hermits, do really represent. Let us consider fig. (1) first.

The three obviously human beings are looking upwards towards the (Trident), with both of their hands raised up. It is, therefore, clear that this symbol -the Trident—represents to them some very high and sacred object It is true, there are no facial expressions to elucidate their emotions. the form and the pose of the figures is amply suggestive of the devotional attitude of those persons towards this symbolic representation Found in the far off hilly caves known as Mandirs and used by world renouncing ascetics, could not but have been attatched to some religious system But what could that religion be, which in so remote prehistoric times, thousands of years before, had the trident as one of its sacred symbols ?

At present the Trisul is supposed to be an enclusively savite symbol, the famous weapon of Siva, ever in his hand, and with which that god annihilated the Daityas

But the Saivite form of the Hindu religion is product of the later Puranic age, and is most probably a corrupt modification of the Rishabha cult of the earlier age, (Ref. Jain Ant. vol. IX p. 80); although the Savite, like all other Hindu cults claims the ancient vedic religion as its direct source. The influx into India, of the vedic Aryans too, is believed to have taken place about 4000 years before Christ. (cf Tilak's Arctic Home in the vedas and other authorities on Ancient India). The vedas were begun to be composed some 2000 years before christ, and the later vedic literature viz. the Samhitas, the Brahmanas, the Shatpathas, the Aranyakas, the Sutras, etc. continued to be compiled till the beginning of the Christian era, while the vedic religion in its ancient sacrificial form persisted up to the fifth century A. D. The latter, however, began to generate into popular forms

of worship, the Hindu cults of the Pouranic age, from about the 4th century B. C. The first of the main Pouranic cults was the Vaisnavite worship of Krisna Vasudeva, followed by Siva worship, and later on by Rama worship.

The original vedic religion was a simple materorealistic form of religion, worshipping the various forces of Nature that concerned man most under the names of Indra, Varuna, Marut, Vishnu, Rudras, and so on. It had no idols of these gods, nor any temples attatched to them. These gods were also, by no means, human. They were propitiated by means of devotional hymns nnd various kinds of sacrificial ceremoniale

The Rudras were a later conception in the vedic pantheon, and were ugly rude spirits, haunting woods, wilds, and cremation grounds, wrathlessly reigning scourges on the evildoers, or better, on the enemies of the vedic Aryans, but of these Rudras the conception of Siva was evolved, and gradually a suitable iconography and mythology was provided, based largely on the aboriginal and later beliefs and superstitions of the natives of India.

In the Kanerki coins of the Indo-seythian's kings of the North-West, Siva came to figure for the first time A close study of these coins, belonging to the first and second centuries of the Christian era, clearly shows how the Saivite conception and iconography were gradually developed. (cf. J.R.A.S. Vol. IX).

Now, in the vedas or the later vedic literature, we find no mention of Siva, or of his weapon the Trisul, or of the trident as a sacred symbol. Even Panini of the 5th, Kautilya of the 4th, Magesthenese and other Greek writers on India of the 3rd, or the epigraphical and numismatic records prior to the christian era, do not contain any reference to Siva, or the Tridend as Siva's weapon or emblem. The trident came to appear in the Hindu religious art after the beginning of the Christian era.

In a footnote on p. 15 of his "Early faith of Asoka", Mr. E. Thomas says "No less acute is Dr. Stevenson's analysis of the position traditionally held by Siva in India—his absence 'from the original Brhamonical theogony', his imperfect assimilation with the later forms of their ritual, and the conclusion 'that the worship of Siva is nothing more than a superstition of the aboriginal Indians, modified by the Brhmins, and adopted into their system' for their

own ends. An opinion which has been fully confirmed by later investigations."

General cunningham, in his work on 'Bhilsa Topes' (p. 358) long ago pointed out the absolute identity of the outline of the modern figure of Jagannath (at Puri), with the Trisul or curved trident ornament so frequently in the early Budhist sculpture. Mr. Fergussan in his 'Tree and Serpent worship' tells us that this symbol forms a distinct object of worship at Amradī.

Now it is an equally definitely established fact that this early Budhist art too, including the sculptured railings of Sanchi, Barhut and Amradī stupas does not date prior to the early centuries of Christian era.

As regards the temple of Jagannath, at Puri in Orissa, the image and the temple dates back to about a thousand years, (cf, Account of the temple of Jagannath—1898) while all the historians are unanimous on the point that this province – Orissa (or Kalinga), was a great stronghold of Jainism from at least the time of lord Mahavira right upto the close of the first millennium after christ. The Khandgiri—udaigiri caves of Orissa, of the 3rd and 2nd centuries B. C., with all their epigraphical treasures have been conclusively proved to have belonged to the Jains. (cf J N I—p. 247). Competent scholars antiquarians, and archaeologists like O' Malley, Manmohan Chakravarti, Bloch, fergusson, Smith, Coomarswami and others have generally accepted it as a fact. Mr. Chakravarti says, "After having examined the caves carefully during my visit I have come to the conclusion, so far as the present data are available, they should be ascribed to the Jainas and not to the Budhists." Mr, Bloch says "The caves contain nothing Budhistic but apparently all belong to the Jains." Mr. Fergusson asserts, "Till comparatively recently they were mistaken for Budhist but this they clearly never were." And these famous caves contain, besides other sacred symbols like the stupa, the Swastika, the Dharmchakra, the barred railings and railed trees etc; several Trisulas, open as well as pointed. Mr. Buhler is of opinion that the worship of these sacred symbols, more or less distinct traces of which are found with all sects, as well as their representation in sculpture, was due to one sect alone (meaning Jainism) instead of being heirlooms handed down from remote times before the beginning of the historical period of India.

Furthermore, in the excavations of Basadh (ancient vaisali) certain seals have been discovered which contain Trisulas and other symbols, and which are believed to be belonging to the Jains. (cf. Report of Archaeological survey of India 1903—4; & J. R A. S. 1902) These findings also date back to pre-Christian times, while the site is believed to be that of lord Mahavira's birthplace (cf. सिद्धान्त-भास्कर भाग १० पृ० ६९)

As to the origin of the sign (Trisul), Mr. Burnong has detected the coincidence of the form of Vardhmanakya, or the mystic symbol of Mahavir with the outline of the Bactro-Greek monogram so common on the local coins. It is similar to the figure so frequently found on the reverse side of Kadphise's coins. This particular mark, Mr. E. Thomas tells us, has been found in all its integrity on the person of an ancient Jaina statue in the Indian Museum. And he, therefore, asserts that as the lion proves to have been a special emblem of Mahavira, the mystic trident in its turn answered to his second title of Vardhaman.

Moreover, this Vardhamanakya is akin in form to another Jaina sacred symbol, Nandyavarta which signifies the sign of Taurus or Bull which is a special emblem of Lord Rishabha, the first tirthankar.

It is also the opinion of eminent archeaologist like Dr V. S. Agarwal, that prior to the conception and at least to the general prevalence of image worship, with particular reference to Jainism, symbol worship was in vogue, (cf. U. P. Historical quarterly 1944). And iconographical experts like Mr C. Bhattacharya attest to the original and elaborate system of symbolization found in Jainism from the earliest times (cf. Jaina Iconography).

To revert to the Trident, besides being attatched to the first and the last Jaina Tirthankaras, in the form of the Nandyavart and the Vardhmand respectively, it has a very important significance in the Jaina Philosophical system This symbol is a very appropriate representation of the threefold path to salvation, by an adequate exercise of the control on, and an absolute concentration of the three faculties of mind, word and body. (cf. Anekant, year 5, no. 1 & 2 p. 8). In other words it symbolizes the original qualities of the soul, viz. Right faith, Right knowledge, and Right conduct, which though independent and distinct, but when developped to perfection and amalgamated into one harmonious whole, are the surest way to salvation, to the annithilation of the inimic karmic forces and the achievement of freedom from those karmas, to the end of all transmigrations, to the attainment of absolute perfection, the state of all Bliss the very Godhood. (cf. Tathwarth sutra chap. I, sutra I). (Contd.)

RULES.

1. The 'Jaina Antiquary' is an Anglo half-yearly Journal which is issued in two parts, *i.e.*, in year.

2 The inland subscription is Rs. 3 (including 'Jain Sidhanta Bhaskara') and foreign subscription is 4*s.* 8*d.* per annum, payable in advance. Specimen copy will be sent on receipt of Rs. 1-8-0.

3. Only, the literary and other decent advertisements will be accepted for publication. The rates of charges may be ascertained on application to the Manager, 'Jaina Antiquary' The Jaina Sidhanta Bhavana, Arrah (India) to whom all remittances should be made.

4. Any change of address should also be intimated to him promptly.

5. In case of non-receipt of the journal within a fortnight from the approximate date of publication, the office at Arrah should be informed at-once.

6. The journal deals with topics relating to Jaina history, geography, art, archaeology, iconography, epigraphy, numismatics, religion, literature, philosophy, ethnology, folklore, etc., from the earliest times to the modern period.

7. Contributors are requested to send articles, notes, etc., type-written, and addressed to, K. P. Jain, Esq., M. R. A. S., Editor, 'Jaina Antiquary' Aliganj, Dist Etah (India).

8. The Editors reserve to themselves the right of accepting or rejecting the whole or portions of the articles, notes, etc.

9. The rejected contributions are not returned to senders or postage is not paid.

10. Two copies of every publication meant for review should be sent to the office of the journal at Arrah (India).

11. The following are the editors of the journal, who work honorarily simply with a view to foster and promote the cause of Jainology :—

Prof. HIRALAL JAIN, M.A., L.L.B.
Prof. A. N. UPADHYE, M.A , D.Litt.
B. KAMATA PRASAD JAIN, M.R.A.S.
Pt. K. BHUJABALI SHASTRI, VIDYABHUSANA.

जैन-सिद्धान्त-भास्कर के नियम

१ 'जैन-सिद्धान्त-भास्कर' हिन्दी षाण्मासिक पत्र है, जो वर्ष में दो बार प्रकाशित होता है।

२ 'जैन-एन्टीक्वेरी' के साथ इसका वार्षिक मूल्य देश के लिये ३) और विदेश के लिये ३।।) है, जो पेशगी लिया जाता है। १।।) पहले भेज कर ही नमूने की कापी मंगाने में सुविधा रहेगी।

३ इसमें केवल साहित्य-संबन्धी या अन्य भद्र विज्ञापन ही प्रकाशनार्थ स्वीकृत होंगे प्रबन्धक 'जैन-सिद्धान्त-भास्कर' आरा को पत्र भेजकर दर का ठीक पता लगा सकते हैं; मनीआर्डर के रुपये भी उन्हीं के पास भेजने होंगे।

४ पते में परिवर्तन की सूचना भी तुरन्त आरा को देनी चाहिये।

५ प्रकाशित होने की तारीख से दो सप्ताह के भीतर यदि 'भास्कर' प्राप्त न हो, तो इसकी सूचना शीघ्र कार्यालय को देनी चाहिये।

६ इस पत्र में अत्यन्त प्राचीनकाल से लेकर अर्वाचीन काल तक के जैन इतिहास, भूगोल, शिल्प, पुरातत्त्व, मूर्त्ति-विज्ञान, शिला-लेख, मुद्रा-विज्ञान, धर्म्म, साहित्य, दर्शन प्रभृति से संबंध रखने वाले विषयों का ही समावेश रहेगा।

७ लेख, टिप्पणी, समालोचना आदि सभी सुन्दर और स्पष्ट लिपि में लिखकर सम्पादक 'जैन-सिद्धान्त-भास्कर' आरा के पते से आने चाहिये। परिवर्त्तन के पत्र भी इसी पते से आने चाहिये।

८ किसी लेख, टिप्पणी आदि को पूर्णत: अथवा अंशत: स्वीकृत अथवा अस्वीकृत करने का अधिकार सम्पादकों को होगा।

९ अस्वीकृत लेख लेखकों के पास बिना डाक-व्यय भेजे नहीं लौटाये जाते।

१० समालोचनार्थ प्रत्येक पुस्तक की दो प्रतियाँ 'जैन-सिद्धान्त-भास्कर' कार्यालय आरा के पते से ही भेजनी चाहिये।

११ इस पत्र के सम्पादक निम्न-लिखित सज्जन हैं जो अवैतनिकरूप से केवल जैनधर्म की उन्नति और उत्थान के अभिप्राय से कार्य्य करते हैं —

प्रोफेसर हीरालाल, एम.ए., एल.एल.बी.

प्रोफेसर ए.एन. उपाध्ये, एम. ए., डी. लिट.

बाबू कामता प्रसाद, एम.आर.ए.एस.

पण्डित के. भुजबली शास्त्री, विद्याभूषण.

PRINTED BY D. K. JAIN, SHREE SARASWATI PRINTING WORKS, LTD.
ARRAH.

जैन-सिद्धान्त-भास्कर

भाग १२ किरण १

THE JAINA ANTIQUARY

VOL. XI. NO. I.

Edited by

Prof. Hiralal Jain, M. A., LL. B.
Prof. A. N. Upadhye, M. A., D. Litt.
B. Kamata Prasad Jain, M. R. A. S.
Pt. K. Bhujabali Shastri, Vidyabhushana.
Pt. Nemi Chandra Jain, Shastri, Sahityaratna.

PUBLISHED AT
THE CENTRAL JAINA ORIENTAL LIBRARY
(JAINA SIDDHANTA BHAVANA)
ARRAH. BIHAR. INDIA.

JULY, 1945.

जैन-सिद्धान्त-भास्कर के नियम।

१ 'जैन-सिद्धान्त-भास्कर' हिन्दी त्रैमासिक पत्र है, जो वर्ष में जून, सितम्बर, दिसम्बर; और मार्च में चार भागों में प्रकाशित होता है।

२ 'जैन-एन्टीक्वेरी' के साथ इसका वार्षिक मूल्य देशके लिये ४) रुपये और विदेश के लिये डाक-व्यय लेकर ४।।) है, जो पेशगी लिया जाता है। १।) पहले भेज कर ही नमूने की कापी मंगाने में सुविधा होगी।

३ केवल साहित्यसंबन्धी या अन्य भद्र विज्ञापन ही प्रकाशनार्थ स्वीकृत होंगे। मैनेजर, 'जैन-सिद्धान्त-भास्कर' आरा को पत्र भेजकर दर का ठीक पता लगा सकते हैं मनीआर्डर के रुपये भी उन्हीं के पास भेजने होंगे।

४ पते में हेर-फेर की सूचना भी तुरन्त उन्हीं को देनी चाहिये।

५ प्रकाशित होने की तारीख से दो सप्ताह के भीतर यदि 'भास्कर' नहीं प्राप्त हो, तो इसकी सूचना जल्द आफिस को देनी चाहिये।

६ इस पत्र में अत्यन्त प्राचीनकाल से लेकर आधुनिक काल तक के जैन इतिहास, भूगोल, शिल्प, पुरातत्त्व, मूर्त्ति-विज्ञान, शिला-लेख, मुद्रा-विज्ञान, धर्म्म, साहित्य दर्शन, प्रभृति से संबंध रखने वाले विषयों का ही समावेश रहेगा।

७ लेख, टिप्पणी, समालोचना—यह सभी सुन्दर और स्पष्ट लिपि में लिखकर सम्पादक, 'जैन-सिद्धान्त-भास्कर' आरा के पते से आने चाहिये। परिवर्त्तन के पत्र भी इसी पते से आने चाहिये।

८ किसी लेख, टिप्पणी आदि को पूर्णतः अथवा अंशतः स्वीकृत अथवा अस्वीकृत करने का अधिकार सम्पादकमण्डल को होगा।

९ अस्वीकृत लेख लेखकों के पास विना डाक-व्यय भेजे नहीं लौटाये जाते।

१० समालोचनार्थ प्रत्येक पुस्तक की दो प्रतियाँ 'भास्कर' आफिस, आरा के पते से भेजनी चाहिये।

११ इस पत्र के सम्पादक निम्न-लिखित सज्जन हैं जो अवैतनिक रूप से केवल जैन-धर्म के उन्नति और उत्थान के अभिप्राय से कार्य्य करते हैं :—

प्रोफेसर हीरालाल, एम.ए., एल.एल.बी.

प्रोफेसर ए.एन. उपाध्ये, एम. ए., डी. लिट्.

बाबू कामता प्रसाद, एम.आर.ए.एस.

पण्डित के. भुजबली शास्त्री, विद्याभूषण

पण्डित नेमिचन्द्र जैन, शास्त्री, साहित्यरत्न।

नोट—किन्हीं विशेष कारणों से 'भास्कर' आजकल षाण्मासिक निकल रहा है और वार्षिक मूल्य ३) रुपये है।

जैन-सिद्धान्त-भास्कर

जैन-पुरातत्त्व-सम्बन्धी षाण्मासिक पत्र

भाग १२] [किरण १

सम्पादक

प्रोफेसर हीरालाल जैन, एम. ए., एल-एल. बी., डी. फिल.

प्रोफेसर ए० एन० उपाध्ये, एम. ए., डी. लिट्.

बाबू कामता प्रसाद जैन, एम. आर. ए. एस., डी. एल.

पं० के० भुजबली शास्त्री, विद्याभूषण.

पं० नेमिचन्द्र जैन शास्त्री, साहित्यरत्न.

जैन-सिद्धान्त-भवन आरा-द्वारा प्रकाशित

भारत में ३) विदेश में ३॥) एक प्रति का १॥)

वि० सं० २००२

विषय-सूची

श्रीजिनाय नमः

जैनपुरातत्त्व और इतिहास-विषयक षाण्मासिक पत्र

भाग १२ | जुलाई, १९४५। आषाढ़, वीर नि० सं० २४७१ | किरण १

जैन धर्म और कला

[ले०—श्रीयुत प्रो० नलिनविलोचन शर्मा एम० ए०, आरा]

किसी भी देश या धर्म के प्रति विदेशी या परधर्मावलम्बी के हृदय में तभी श्रद्धा का भाव आ सकता है जब वह एक उन्नत साहित्य और उत्कृष्ट कला का दावा रखता हो। जैन-धर्म इन दोनों दृष्टियों से जैनेतर विचारकों और विवेचकों के द्वारा समादृत हुआ है। सच पूछिए तो जो धर्म लोक कल्याण या दार्शनिक गरिमा में किसी भी धर्म की बराबरी कर सकता है उसकी सांस्कृतिक महत्ता स्वभाविक ही थी।

मुझे यहां सिर्फ जैन धर्म तथा उससे सम्बद्ध स्थापत्य कला (architecture), मूर्त्तिकला और चित्रकला के उत्कर्ष के बारे में विचार करना अभिप्रेत है।

आप को यह प्रारंभ में ही समझ लेना चाहिए कि जैन धर्म, बौद्ध धर्म या हिन्दू धर्म की तरह आप जैन शैली की कला, बौद्ध शैली की कला या हिन्दू शैली की कला— कोई ऐसा वर्गीकरण नहीं कर सकते। भारतीय कला के अध्ययन के प्रारंभिक काल में विद्वानों ने यह भूल की थी। उनके इस भ्रम का निराकरण दूसरे विद्वानों ने किया। यह भूल जैन मतावलंबी या जैनधर्म के पक्षपाती विद्वानों ने की हो ऐसी बात नहीं। भारतीय कला का इस प्रकार का साम्प्रदायिक वर्गीकरण सब से पहले एक निष्पक्ष पाश्चात्य कला मर्मज्ञ फर्गुसों ने अपनी महत्त्वपूर्ण पुस्तक History of Indian architecture में किया था।

भारतीय कला के इस भ्रामक वर्गीकरण का खंडन बुलर ने Epigraphica Indica में एक लेख द्वारा किया है। उनके इस मत की पुष्टि विंसेंटस्मिथ ने अपनी पुस्तक The Jaina Stupa and other antiquties of Mathura में और आनन्दकुमार स्वामी ने History of Indian and Indonesion Art में की है।

इन तीनों विद्वानों ने ठीक ही कहा है कि भारतीय कला एक अविच्छिन्न प्रवाह के रूप में जीवित रही है। बौद्ध, जैन और हिन्दू धर्मों ने अपने युग और देश की कला को आवश्यकतानुसार अपनाया। इन सभी धर्मों ने कला के क्षेत्र में प्रतीकों और रूढ़ि-

गत रीतियों को एक ही स्रोत से लिया। चाहे स्तूप हों या पवित्र वृक्ष या चक्र—ये सभी धार्मिक या कलात्मक तत्त्वों के रूप में सब के लिये सहज-सुलभ थे। आनन्दकुमार स्वामी के शब्दों में 'यद्यपि प्रायः समस्त भारतीय कला धार्मिक है फिर भी यह कहना गलत है कि उसकी शैलियां संप्रदायों पर निर्भर थीं।'

इस सत्य को ध्यान में नहीं रखने के कारण ही जायसवाल जैसे विद्वान् ने भी जैन धर्म से सम्बद्ध वास्तु कला के बारे में एक बड़ी भ्रामक बात कह दी है। जैन और बौद्ध मंदिरों पर अप्सराओं, सिद्धों और यक्षों आदि की मूर्तियों के बारे में अपने 'अंधकारयुगीन भारत' में वे कहते हैं—'बौद्ध तथा जैन वास्तु में इस प्रकार की मूर्तियों का एकमात्र अर्थ यही हो सकता है कि वे ब्राह्मण सम्प्रदाय के वास्तु से ही ली गई थीं और उन्हीं की नकल पर केवल वास्तु की शोभा और अलंकरण के लिये बनाई जाती थीं।' जायसवाल महोदय यह भूल जाते हैं कि कला के इन प्रतीकों और रूढ़ियों पर जैनियों तथा बौद्धों का उतना ही अधिकार था जितना ब्राह्मण सम्प्रदाय या हिंदू धर्म का, क्योंकि इन तीनों धर्मों से सम्बद्ध कलाओं का सीधा और स्वतंत्र संबंध भारतीय कला से था। भारतीय कला की ये तीनों शाखाएं परस्पर निर्भर होने के बदले समानाश्रयी थीं।

जहां तक स्थापत्य-कला (Architecture) का प्रश्न है, जैनियों की बराबरी शायद ही कोई दूसरा भारतीय धर्म कर सके। जिस तरह बौद्ध धर्म से सबंद्ध अजन्ता के मण्डोदक चित्र (fresoces) विश्व की चित्र-कला में अपना सानी नहीं रखते उसी तरह स्थापत्य में जैनियों का स्थान अद्वितीय है। फ्रेंच कलाविद् ग्यूरिनो ने अपनी पुस्तक 'ला रेलिजन द जैन' में ठीक ही कहा है कि 'विशेषतः स्थापत्य कला के क्षेत्र में जैनियों ने ऐसी पूर्णता प्राप्त कर ली है कि शायद ही कोई उनकी बराबरी कर सके।' दूसरे धर्मों के विशाल और सुन्दर मंदिर पाए जाते हैं लेकिन जैनियों ने 'मंदिरों के नगरों' को प्रतिष्ठित कर संसार को चकित कर दिया है। शत्रुंजय के शिखर पर जो मंदिरों का नगर है वह विस्मय की चीज़ है।

जैनियों की स्थापत्य-कला के सबसे प्राचीन अवशेष उड़ीसा के उदयगिरि और खण्डगिरि पर्वतों की और जूनागढ़ के गिरनार पर्वत की गुफाओं में मिलते हैं। मूर्तिकला के प्राचीनतम अवशेष मथुरा के कंकाली-टिला और दूसरे स्तूपों में मिलते हैं। उदयगिरि और खण्डगिरि की गुफाओं के बारे में फर्गुसन का कहना है कि उनकी विचित्रता और प्राचीनता तथा उनमें पाई जाने वाली मूर्तियों के आकार-प्रकार के कारण उनका महत्त्व असाधारण है।

उदयगिरि की हाथी गुफा खारवेल के शिला-लेख के कारण ही महत्त्वपूर्ण है। स्थापत्य कला की दृष्टि से रानि और गणेश गुफाएं उल्लेखनीय हैं। इनमें पार्श्व का जीवन वृत्त बड़ी कुशलता से खचित है।

यहां की मूर्तियों में भी, मथुरा की तरह, यूनानी और भारतीय वेश-भूषा का मिश्रण है। कारण स्पष्ट है। भारत और यूनान का संपर्क बहुत पुराना है और पारस्परिक प्रभाव स्वाभाविक ही है। आगे चलकर बौद्ध धर्म से संबद्ध गांधार मूर्ति कला में भी यही बात

पाई जाती है, लेकिन जीवन का जो उल्लास और हास यहां पाया जाता है वह गांधार की संयत कला में दुर्लभ है।

मथुरा के कंकाली या जैनो तिलास्तूप की कला ईसा के पूर्व पहली शताब्दि से लेकर ईसा के बाद दूसरी-तीसरी शताब्दियों तक विकासोन्मुख रही होगी। चूँकि मथुरा अमरावती, सारनाथ और गांधार के बीचोबीच अवस्थित है इसलिये वहां की कला में परंपरागत, भारतीय कला तथा गांधार की यूनान से प्रभावित कला के आदर्शों का सुन्दर समन्वय हुआ है।

भारतीय मूर्त्ति कला पर यूनानी कला का प्रभाव हितकर ही हुआ। जिस तरह आधुनिक काल में भारतीय कला की अभिव्यंजनात्मकता (Expressionism) को अपना कर इङ्गलैण्ड के श्रेष्ठ मूर्तिकार एप्स्टाइन तथा फ्रांस के प्रसिद्ध चित्रकार मातिसे प्रभृति ने अपने नए-नए प्रयोगों से संसार को चमत्कृत कर दिया है उसी तरह भारतीय कला पर यूनान का प्रभाव स्पृहणीय हुआ। पाश्चात्य कला 'दर्पणे प्रतिबिंबवत्' यथार्थता (Photographic representation) को ही कला का चरम उत्कर्ष मानती आई है। इसके विपरीत भारतीय दृष्टि से कला की पराकाष्ठा अभिव्यंजना (Expression) में ही निहित है। इसका फल यह हुआ कि पाश्चात्य देशों की कला के इतिहास में एकाधिक बार जड़ता के युग आ गए हैं। अभिव्यंजना रहित यथार्थता में जड़ता का आना स्वाभाविक ही है। दूसरी ओर भारतीय कला भी निराधार अभिव्यंजना के कारण प्रभाव शून्य हो जाया करती थी। इसलिए जब कभी इन दोनों आदर्शों का समन्वय हुआ है तो उसका परिणाम अच्छा ही हुआ है।

मथुरा-गांधार शैली में यूनान के शारीरिक स्वास्थ्य-सौन्दर्य के आदर्श को स्वीकार कर लेने से एक प्रभावपूर्ण संतुलन आ गया है।

कला की दृष्टि से मथुरा के आयाग पट, बोद्ध-स्तूप और तोरण उल्लेखनीय हैं।

आयाग पट पर खचित दो नारी विग्रहों में विन्सेंट स्मिथ महोदय ने अश्लीलता का आभास पाया है। कला में अश्लीलता प्रश्न बहुत टेढ़ा है। इस विषय पर यहां कुछ विचार करने का अवसर नहीं है। यहां पर इतना कह देना पर्याप्त है कि पश्चिम में हो या पूर्व में धार्मिक कला ने इस विषय में अत्यन्त उदार दृष्टिकोण अपनाया है। यह आश्चर्य की बात है कि विंसेंट स्मिथ महोदय भारतीय धार्मिक कला में अश्लीलता का दोष निकालें। असल में स्मिथ कभी भी भारतीय कला के आदर्शों को ठीक से हृदयंगम नहीं कर पाए थे। भारतीयकला पर जब उन्होंने पहले पहल कलम चलाई थी तो उन्होंने एक शब्द भी उसकी प्रशंसा में नहीं कहा था। बाद में हैवेल इत्यादि की भारतीय कला की विशेषताओं की व्याख्या के बाद उनको अपने मत को पूर्ण रूप से बदल देना पड़ा था।

अस्तु, संक्षेप में जहां मथुरा और उड़िस्सा के वास्तु में नर्त्तकियों की मूर्त्तियां गति और विकास को अभिव्यक्त करती हैं, वहीं भगवान् बुद्ध की तरह समाधिलीन तीर्थंकरों की मूर्त्तियां कर्म के बंधनों से मुक्त परिनिर्वाण की सफल अभिव्यंजना करती हैं।

जैन स्थापत्य के अपेक्षाकृत अर्वाचीन उदाहरण आबू, पारसनाथ, राजपुर, पावापुरी आदि तीर्थों में और राणा कुंभा के समय के अवशेषों में पाए जाते हैं।

दक्षिण में जहां बौद्ध धर्म के स्थापत्य के इने गिने अवशेष हैं वहां जैन धर्म के प्राचीन स्थापत्य के बहुसंख्य उदाहरण आज भी प्राप्य हैं।

इनमें प्रमुख हैं एल्लोरा की इन्द्र सभा और जगन्नाथ सभा। इनकी खुदाई बादामी या राष्ट्रकूट शाखा के चालुक्य राजाओं के तत्त्वावधान में हुई होगी। पाराड्य प्रदेश में कलुगमलइ का अद्भुत मंदिर है। वह भी विद्वानों के मत से मूलतः जैनधर्म का ही रहा होगा।

बौद्ध और हिन्दू मंदिरों की तरह जैन मंदिर-स्थापत्य के भी दो प्रधान वास्तु-प्रतीक हैं—स्तूपाकार उपरिभाग और शिखर। जैन स्थापत्य में इनका निर्माण जिस सफलता के साथ हुआ है वह आश्चर्यजनक है।

अब, संक्षेप में, जैनधर्म से संबद्ध चित्र कला का निदर्शन करने का प्रयत्न किया जायगा।

सब से प्राचीन जैन चित्र मदरास में तांजोर के पास पुद्दूकोटा रियासत के सित्तन्नवासल के गुफा मंदिर की दीवारों पर पाए जाते हैं। इनका समय ६२५—६५० ईस्वी सन् है।

भारतीय चित्रकला के सब से प्राचीन उदाहरण सरगुजा रियासत की जोगीमारा गुफा की दीवारों पर मिलते हैं। इन प्रागैतिहासिक चित्रों की कला उसी तरह की है जिस तरह की तत्कालीन स्पेन, मेक्सिको, क्रीट आदि की कला में पाई जाती है।

इसके बाद भारतीय कला के प्राचीन और साथ ही साथ उत्कृष्ट उदाहरण हैदराबाद के अजन्ता और एलोरा, ग्वालियर के बाघ, बंबई के बादामी और मदरास के सित्तन्नवासल की गुफाओं में ही मिलते हैं।

अजन्ता-एलोरा की चित्र-कला के बारे में प्रसिद्ध ही है कि इनका सम्बन्ध बौद्ध-धर्म से है। लेकिन सित्तन्नवासल के जैन धर्म से सम्बद्ध भित्तिचित्रों या मराडोदक चित्रों की कला भी उच्च कोटि की है। इसमें कोई संदेह नहीं कि अजंता के सर्वोत्कृष्ट उदाहरणों के साथ सित्तन्नवासल के चित्रों की तुलना करना अन्याय होगा, किन्तु ये चित्र भी भारतीय चित्र कला के इतिहास में गौरव का स्थान पाते हैं। इनकी रचना शैली बाघ और अजंता के भित्ति-चित्रों से बहुत कुछ मिलती जुलती है। इसका कारण यही है कि ये सभी शाखाएँ एक ही स्कन्ध, भारतीय कला के स्कन्ध से निकली थीं। जैन स्थापत्य की चर्चा करते हुए मैंने इस बात की ओर पाठकों का ध्यान आकृष्ट कर दिया था।

सित्तन्नवासल के बाद जैन धर्म से सम्बद्ध चित्रकला के उदाहरण भारतीय इतिहास के उत्तर मध्यकाल अर्थात् दसवीं-ग्यारहवीं शताब्दि से लेकर १५ वीं शताब्दि तक मिलते हैं।

इसके पहले चित्रकला लुप्त हो गई हो ऐसी बात नहीं। लेकिन प्राचीन भारत के जो भी अवशेष हमें मिल जाते हैं उन्हें गनीमत समझना चाहिए। मागधी प्राकृत की सुरसुन्दरी-कहा प्रभृति जैन पुस्तकों में चित्र-कला के सातत्य के स्पष्ट प्रमाण मिलते हैं यद्यपि अवशेष कुछ बाद के ही उपलब्ध हैं।

सच पूछिए तो मध्यकालीन चित्रकला के अवशेषों के लिए हम मुख्यतः जैन भाण्डारों के ही आभारी हैं। पहली बात तो यह है कि इस काल में प्रायः एक हजार वर्ष तक जैनधर्म का प्रभाव भारतवर्ष के एक बहुत बड़े हिस्से में फैला हुआ था। दूसरा कारण यह भी है कि धनी मानी जैनियों ने बहुत बड़ी संख्या में धार्मिक ग्रन्थ ताड़ पत्र पर लिखित और चित्रित (Illuminated) करा कर बंटवाए थे।

ये जैन चित्र केवल श्वेताम्बर सम्प्रदाय के ही हैं। इसका कारण स्पष्ट है। श्वेताम्बर सम्प्रदाय के तत्त्वावधान में अर्हन और तीर्थकरों के चित्रों को अलंकृत करने का अवसर चित्रकारों को पर्याप्त मात्रा में मिल सकता था लेकिन दिगम्बर सम्प्रदाय में नहीं।

निशीथचूर्णी, अंगसूत्र, त्रिशष्टिशलाकापुरुषचरित्र, नेमिनाथचरित्र, कथारत्नसागर, संग्रहणीयसूत्र, उत्तराध्ययनसूत्र, कल्पसूत्र, सावगपडिक्कमणसुत्तचुन्नी इत्यादि वे प्रमुख ग्रन्थ हैं जिनकी चित्रित प्रतियां आज भी उपलब्ध हैं।

दिगम्बर सम्प्रदाय के साहित्य की कतिपयों कृतियों में भी जैन चित्रकला के सुन्दर नमूने मिलते हैं। करणानुयोग सम्बन्धी त्रिलोकप्रज्ञप्ति, त्रिलोकसार प्रभृति प्राचीन ग्रन्थों में चित्रकला के सुन्दर नमूने है।

चूंकि पहले पहल इस काल के प्रतिनिधि स्वरूप चित्र जैन धर्म से ही सम्बद्ध पाए गए, इसलिए इस काल की चित्र कला की शैली का नामकरण जैन शैली किया गया।

इस नामकरण को क्यों स्वीकार नहीं किया जा सकता इसका एक प्रमुख कारण मैं आप को पहले ही बता चुका हूँ।

एक दूसरा कारण भी है, जिसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। भारतीय चित्रकला के इतिहास के शोध के सिलसिले में कुछ दिनों के बाद ऐसे बहुत सारे चित्रित अजैन ग्रंथ मिले जिनकी टेकनीक पूर्वोक्त चित्रित जैन ग्रंथों से मिलती जुलती थी—उदाहरणार्थ वसंतविलास, बालगोपालस्तुति, गीत गोविन्द, दुर्गासप्तशती, रति रहस्य इत्यादि।

इस पर श्रीन्हानालाल चमनलाल मेहता ने जो भारतीय कला के मर्मज्ञ विद्वान् और आलोचक हैं—इस काल की शैली का नामकरण गुजरात शैली किया।

लेकिन कालान्तर में इस प्रकार के बहुत से ग्रंथ मिले जिनका क्षेत्र गुजरात से बाहर था—जैसे राजपूताना, मालवा, जौनपुर, पंजाब इत्यादि। इसलिये आनन्द कुमार स्वामी ने इसका नामकरण पश्चिम-भारत-शैली किया है यद्यपि अब तो ऐसे ग्रंथ दक्षिण में भी मिले हैं और इस नाम में भी अव्याप्ति दोष आ जाता है।

यहाँ हमें इस समय की कला की विशेषताओं के संक्षिप्त परिचय से ही संतोष करना पड़ेगा।

मुझे यह देख कर बहुत आश्चर्य हुआ था कि इस शैली के महत्त्व को रायकृष्णदास जैसा कला का पारखी बिलकुल नहीं समझ पाया है। अपनी 'भारत की चित्रकला' में उन्होंने लिखा है कि इस शैली में "न सौंदर्य है, न रेखाओं का दम्म-खिम और न कल्पना की उड़ान"। यह आलोचना कुछ वैसी है जैसी पाश्चात्य विद्वानों की समस्त भारतीय कला के सम्बन्ध में, प्राच्य विद्या के प्रारंभिक काल में, हुई थी। उनके मतानुसार तो अनेक भुजाओं वाली भारतीय मूर्त्तियां कला की श्रेणी में आ ही नहीं सकती थीं। लेकिन उन्होंने पीछे चलकर भारतीय कला की अंतर्निहित वास्तविक आध्यात्मिक विशेषताओं को समझ लिया और वे अपनी गलती स्वीकार करने में पीछे नहीं रहे।

रायकृष्णदास को यह समझना चाहिये कि उपर्युक्त चित्रों में "एक प्रकार की निर्मलता, स्फूर्ति और गति वेग है, जिसमे डा० आनन्दकुमार स्वामी जैसे रसिक विद्वान् मुग्ध हो जाते हैं" (N. C. Mahta भारतीय चित्रकला)।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि ये चित्र अजन्ता या सितन्नवासल के चित्रों की तरह रोचक नहीं फिर भी किसी भी सुसंस्कृत मस्तिष्क पर इनका प्रभाव पड़े बिना नहीं रह सकता।

इन चित्रों की सरलता और स्पंदन शीलता को देखकर एन० सी० मेहता तो यहां तक कहते हैं कि "यही चित्र शैली हिन्दुस्तान की लोक शैली रही।"*

भंडारा जिले में जैन पुरातत्त्व

[ले०—मुनि श्री कांतिसागर महाराज, साहित्यरत्न]

भास्कर के गताङ्क में (भा० ११ कि० २) श्री कामता प्रसाद जी जैन ने उपर्युक्त शीर्षक लेख से भंडारा जिले के जैनपुरातत्त्व पर कुछ प्रकाश डालकर इस ओर पुरातत्त्वान्वेषी विद्वानों का ध्यान आकृष्ट किया था। इसमें शक नहीं कि भंडारा किसी समय जैन संस्कृति का विशाल केन्द्र अवश्य रहा होगा। इस बात के लिए साक्षी वहाँ प्राप्त होने वाले पुरातनावशेष हैं। इस जिले में भ्रमण करने का मुझे भी अवसर मिला है अतः इस प्रस्तुत भंडारा जिले में प्राप्त पुरातन जैन अवशेषों का ही उल्लेख करूँगा। आशा है पुरातत्त्व सम्बन्धी खोज करनेवाले विद्वानों को यह रुचिकर प्रतीत होगा।

जैन कला का मुख उज्ज्वल करने वाले शिल्प स्थापत्य के बहुत से पुरातन भग्नावशेष भंडारा जिले में प्राप्त होते हैं। जैन धर्म के व्यापक प्रसार के ये प्रत्यक्ष प्रमाण भी हैं। ये

---

*यह निबन्ध श्रीजैन-सिद्धान्त-भवन, आरा में महावीर जयन्ती के अवसर पर सभापति के पद से पढ़ा गया था। —सम्पादक

अवशेष केवल न इतिहास और कला की दृष्टि से ही नहीं अपितु भारतीय संस्कृति के इतिहास के पृष्ठों के लिए भी महत्त्वपूर्ण और बहुमूल्य हैं। परन्तु खेद की बात है कि यहाँ का पुरातत्त्वानुसंधान आज तक उचित रीति से नहीं हुआ। आज तक यहाँ कोई ऐसा सहृदय नहीं आया जो इन कलात्मक अवशेषों की करुण कहानी सुन इनके उद्धार के लिए कुछ प्रयत्नशील हुआ हो या औरों को इस दिशा में प्रवृत्त किया हो।

नागरा :—यह गाँव भंडारा जिले में गोंदिया जंक्शन से चार मील है। पुरातत्त्व की दृष्टि से यह बड़े महत्त्व का है। यहाँ जैन मन्दिरों के ध्वंसावशेषों से बना हुआ एक पुरातन शैव मन्दिर है। स्तंभों में कुंभ-कलस और कहीं-कहीं बड़ी बारीकी से जैन मूर्तियाँ खुदी हुई हैं। जो संभव है किसी के मिटाने से आजकल अस्पष्ट सी हो गयी हैं। मंदिर का तोरण जैनशिल्पशास्त्रानुसार बना हुआ है। वर्षा के दिनों में यहाँ आसपास के खेतों में मूर्तियाँ, सिक्के, ताम्रपत्र तथा तलवार आदि शस्त्र निकलते हैं। यहाँ के मिले हुए गोविन्दचन्द्र के सिक्के मैंने देखे हैं। एक महन्त के तलवार भी मैंने देखी थी जो उनके खेत में से निकली थी। उसी महन्त ने मुझे एक स्थान पर ले जाकर तीन सुन्दर, भव्य शिल्पकलात्मक खड्गासनस्थ दिगम्बर जैन प्रतिमाएँ बतलाईं। इन पर "वि० सं० १२०३ माघ वदि ३ रवि० भट्टारक सिंहसेन" "श० १५४२ चैत्र वदि २ सौमावघेह·········विश्वसोमसेन भट्टारकाना·······प्रणमंति" "शकाब्द १८०६ फाल्गुण ·····सावरगावंमध्ये ····" क्रमशः लेख खुदे हुए हैं। जैन इतिहास की दृष्टि से इन मूर्तियों का महत्त्व है। परिताप की बात तो यह है कि किसी अज्ञानी ने लेखों को कतई मिटा दिया है। सब से प्राचीन मूर्ति का लेख १५ पंक्ति में था पर अब केवल एक पंक्ति अवशिष्ट रह गयी है और वह भी अस्पष्ट। सिवाय शोक के और क्या किया जा सकता है। यदि सम्पूर्ण लेख प्राप्त होता तो न जाने क्या क्या ज्ञातव्य प्रकट होता। ये मूर्तियाँ कला की दृष्टि से उच्च श्रेणी की हैं, दर्शनमात्र से चेहरा शान्त रस से झलक उठता है। मैं तो इनके दर्शन से इतना मुग्ध हो गया कि अश्रुप्रवाह नेत्रों से प्रवाहित होने लगा। सप्रम विश्वसोमसेन भट्टारक सम्बन्धी दो लेख मेरे संग्रह में हैं। यह संग्रह अभी अप्रकाशित है। ये कारंजा के थे और बड़े उच्च कोटि के विद्वान् थे। "श्रीमद्रायगुरु वसुंधराचार्य, महावादीश्वररायवादी, विद्वज्जनसार्वभौम, साभिमानवादीभसिंहाभिनव चै ···" ये आप के विशेषण हैं। आपका प्रभाव सर्वत्र व्याप्त था। संभव है भंडारा जिले में भी आप का आगमन हुआ हो और उस समय यहाँ मन्दिर की प्रतिष्ठा हुई हो; क्योंकि आपने १०८ प्रतिष्ठाएँ भिन्न भिन्न स्थानों पर करवाई थीं। शक १५४१ सम्बन्धी मेरे अप्रकाशित संग्रह के लेख में इसका निर्देश है। ये तीनों मूर्तियाँ किसी अज्ञानी की अज्ञानता का परिचय दे रही हैं, अर्थात् खण्डित हैं; पर सौंदर्य की आभा ज्यों की त्यों सुरक्षित है। मेरे संग्रह में एक लेख सांवरगाँव से भी सम्बन्ध रखता है।

महंतजी के पास एक ताम्रपत्र होने का समाचार भी मुझे लोगों से मिला था। पर वे मुझे बतलाने को बिल्कुल तैयार न थे। बहुत कुछ कहने सुनने के बाद बतलाना इस शर्त पर तय हुआ कि मैं उसे दूर से ही देख लूँ; स्पर्श न करूँ। मैंने मंजूर किया। जब मुझे उन्होंने ताम्रपत्र बतलाया तब मुझे जो आनन्द और दुःख हुआ उसे मैं कैसे व्यक्त करूँ। वह ८ साइज़ का था और शिरोभाग में जिनमूर्ति पद्मासन में उत्कीर्णित थी। मैंने बहुत से ताम्रपत्र देखे जिनमें जैन भी सम्मलित हैं पर किसी में जिनमूर्ति उत्कीर्णित नहीं देखी। यह ताम्रपत्र १५ पंक्तियों में दो पत्रों में विभाजित था मैंने नकल करना प्रारम्भ किया तब उन्होंने साफ़ इन्कार कर दिया और ताम्रपत्र बन्द कर के उठा ले गये। उनका विश्वास है कि उसमें द्रव्य सम्बन्धी कुछ हकीकत है, अतः लिखने देना तो दूर रहा किसी को दिखलाने से भी इन्कार करते हैं। मुझे बहुत अफसोस हुआ। जाने ऐसे कितने ताम्रपत्र मंत्र, यन्त्र, द्रव्य विषयक विश्वासों के भाजन बनकर शुद्ध ऐतिहासिक महत्त्वपूर्ण साधन यों ही नष्ट हो रहे हैं। मुझे इसका अनुभव भी हुआ ही है।

उपर्युक्त ताम्रपत्र जैन इतिहास की दृष्टि से अवश्य महत्त्वपूर्ण है। इस पर शक संवत् १०३० उत्कीर्णित है। अन्त में किसी राजा के हस्ताक्षर हैं जो अस्पष्ट हैं। यदि कोई पुरातत्त्व प्रेमी वहाँ जाकर कुछ दिन रहकर खोज करें और महंतजी को समझा बुझा कर ताम्रपत्र की नकल करें तो बहुत कुछ अन्धकार दूर हो सकता है। वहाँ खण्डहरों की पूरी भरमार है और मुझे वहाँ रहने का बहुत कम अवकाश मिला।

पद्मपुर :—यह ग्राम गोंदिया तहसील में आमगाँव स्टेशन (जी० आई० पी०) से दो मील है यह स्थान सातवीं और आठवीं शताब्दियों में बहुत उन्नतावस्था में था और शिक्षा का विशाल केन्द्र था। संस्कृत साहित्य के चमकीले नक्षत्र कविवर भवभूति यहीं के निवासी थे। बहुत दूर दूर से राजकुमार न्यायशास्त्र का अध्ययन करने को यहाँ आते थे। वहाँ के उपलब्ध कतिपय पुरातन जैन भग्नावशेषों से प्रतीत होता है कि यह नगर जैन संस्कृति की दृष्टि से भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। मुझे तारीख ८-३-४४ को इन अवशेषों को देखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था।

नगर में बहुत पुरातन इमारतें दृष्टिगोचर होती हैं जो नगर की पुरातन उन्नति का इतिहास मौनरूप से कह रही हैं। कई स्थान ऐसे भी महत्त्वपूर्ण हैं जो भारत सरकार द्वारा सुरक्षित नहीं हैं।

ग्राम से उत्तर में दो फर्लाङ्ग पर सोनू पटेल के खेत में कुछ प्राचीन जैन मूर्तियाँ पड़ी हुई हैं जो कला की दृष्टि से बहुत ही महत्त्वपूर्ण हैं।

एक विशाल काय पद्मासनस्थ परिकर युक्त भगवान् पार्श्वनाथजी की प्रतिमा कालेपत्थर की बनी हुई है जो दूर से ही दर्शक को अपनी ओर आकृष्ट कर लेती है। दर्शक का मन उसके सौन्दर्य का अनुभव कर आनन्द में मग्न हो जाता है। प्रतिमा ३६ इञ्च है। १३

इस में समफण बड़े ही आकर्षक हैं। ऊपर के भाग में दो इन्द्र और हाथी दिखाई देते हैं, निम्न भाग में दो तीर्थङ्करों की मूर्त्तियाँ अवस्थित हैं। श्याम पाषाण पर उत्कीर्णित प्रभु के मस्तक पर अत्यन्त सूक्ष्म कीर्णि युक्त छत्र बना हुआ है जो सम्पूर्ण मूर्ति को चमका देता है। मुखमण्डल पर सौंदर्य, शान्तरस और महागाम्भीर्य के दर्शन होते हैं। अनुभव होने लगता है कि कहीं इस लघु देह में तो महान् आत्मा की स्थापना नहीं हो गयी है। मालूम होता है कि प्रतिमा सजीव है। इस प्रतिमा में जब मानव की आत्मा को आकर्षित करने की इतनी अद्भुत शक्ति है तो साक्षात् तीर्थंकर भगवान् में इससे भी अनंत गुनी शक्ति विद्यमान रही होगी। इस प्रकार की अनुभूति आत्मा में हुए बिना न रहेगी। दर्शन करते करते मुझे यहाँ उत्कृष्ट नाटककार भवभूति की यह पंक्ति याद आ गयी "पदे पदे यन्नवतामुपैति तदेवरूपं रमणीयताया:"। सचमुच में भवभूति के शब्दों का प्रत्यक्ष प्रमाण यहाँ मौजूद है। महा कलाकार ने अपनी कलाकुशलता से हृदय के सौन्दर्य प्रवाह को इतने सुन्दर ढंग से और इतनी सफलता से प्रवाहित किया है कि उसका अनुभव कर अवाक रह जाना पड़ता है।

प्रश्न होता है—मूर्ति का निर्माणकाल क्या होगा ? यद्यपि स्पष्ट रूप से मूर्ति पर कोई लेख खुदा हुआ नहीं है; तथापि सूक्ष्मातिसूक्ष्म कीर्णि (बड़ी बारीक खुदाई) को देखने से यह कलचुरी काल की प्रतीत होती है। जेवरों की बहुलता, [हाथियों पर] सूक्ष्म कीर्णि कलचुरी कला के प्रमुख लक्षण हैं। इसी समय की मैंने जबलपुर, घुनसौर और छपारा में मूर्तियाँ देखी हैं जिनपर कलचुरी कला मूर्तिमती हुई है। मैं इस मूर्ति को कला की दृष्टि से मध्यप्रान्त में प्राप्त पुरातन जैन प्रतिमाओं में दूसरा स्थान देता हूं। यहाँ पर अति हर्ष का विषय इतना ही है कि इस मूर्ति को लोगों ने किसी देव देवी का रूप देकर सिंदूर नहीं लगाया और न किसी प्रकार का बलिदान ही देते हैं जैसा कि कई स्थानों में हुआ करता है।

इसी खेत की मेड़ पर एक जैन मूर्ति नग्न खड्गासनस्थ अत्यन्त दुरवस्था में पड़ी हुई है। यह कई टुकड़ों में विभाजित है; पर किसी भले आदमी ने इसे ठीक ठाक कर गारे से चिपका कर रख दिया है। कला की दृष्टि से यह मूर्ति महत्त्व की नहीं है।

एक मूर्ति भगवान् ऋषभदेव की पद्मासनस्थ विराजमान है। यह मूर्ति दिगम्बर सम्प्रदाय की है, दोनों ओर इन्द्र तथा ऊपर के भाग में दो आलों में जिन मूर्तियां प्रस्थापित हैं। यह भी खण्डित है। इसका मस्तक नाली के द्वार में लगा हुआ पाया गया। मैंने उसे ठीक करा कर सब मूर्तियों के साथ रखवा दिया।

यहां पर १३ इंच के श्याम पाषाण पर एक और मूर्ति उत्कीर्णित है। इस मूर्ति के चारों ओर नग्न मूर्तियाँ खुदी हुई हैं। पाषाण में बहुत से रज: कण दिखलाई पड़ते है इसलिए वह मैंगनिस मालूम होता है।

यहाँ और भी बहुत से अवशेष उपलब्ध होते हैं पर वे इतने अपूर्ण हैं कि यह कहना मुश्किल है कि उनका सम्बन्ध किस धर्म या संस्कृति से है।

ऊपर जिन अवशेषों का मैंने उल्लेख किया है वे सभी भारत सरकार द्वारा अरक्षित हैं, अतः डर है कि सनक पाकर यह अमूल्य निधि कहीं विलीन न हो जाय।

ग्राम के किनारे से हेमाड़ पन्थी कला का एक जैन मन्दिर है। केवल सभा मंडप और स्तम्भों के अतिरिक्त कोई पाषाण वहाँ नहीं है। यहाँ के स्तम्भों पर भी जैन मूर्तियाँ उत्कीर्णित हैं। इस मंदिर के तोरण भाग पर जो चार फर्लाङ्ग दूर पड़ा हुआ है, जैन मूर्तियाँ स्पष्ट हैं। यहाँ पर ई० स० १९०४ में सरकार की ओर से खुदाई का कार्य प्रारम्भ हुआ था; पर उसी समय स्थगित कर दिया गया।

यहाँ से एक रास्ता आमगाँव की ओर जाता है। वहाँ एक छोटी सी पहाड़ी है जो भवभूति के नाम से प्रसिद्ध है। ऊपर के भाग में इस पहाड़ी पर एक छोटी सी झोपड़ी में बहुत से देव-देवियों की प्रतिमाएँ हैं। एक मूर्ति को लोगों ने भवभूति की मूर्ति समझ रखा है। वहीं एक जैन प्रतिमा भी है।

पहाड़ी पर से यहाँ का प्राकृतिक दृश्य बड़ा सुहावना मालूम होता है। पद्मपुर का प्राचीन नाम पद्मपुरी बताया जाता है। जहाँ दृष्टि जाती है वहीं जैन, बौद्ध और ब्राह्मण धर्मों से सम्बन्ध रखनेवाले पुरातत्त्व के कुछ न कुछ अवशेष मिल ही जाते हैं। ये सभी अवशेष प्राचीन नगर के वैभव के सूचक हैं। आठवीं शताब्दी के शिल्प भी यहाँ देखने को मिलते हैं।

इतना विशाल पुरातत्त्व विषयक संग्रह देखकर यह निश्चय हो जाता है कि किसी समय यहाँ बहुत से जैन निवास करते रहे होंगे। आज भी वहाँ जैन कलारों की अधिक संख्या है जो किसी समय जैन धर्मानुयायी थे। अभी भी मांस भक्षण तथा मदिरापान को वे घृणित समझते हैं। यहाँ पर मुझे बड़े परिताप के साथ लिखना पड़ रहा है कि कलाविज्ञों द्वारा कला का निर्माण हुआ पर ऐसा समय आ गया है कि इसको समझने वालों की संख्या तो बहुत कम है ही पर इसे सुरक्षित रखनेवालों की तो पूरी कमी है। ये अवशेष इस प्रकार पड़े हैं जैसे कि अपनी करुण कथा ही सुना रहे हों।

पद्मपुर से चार मील पर कारंजा नाम का मौजा पड़ता है। कहते हैं वह भी ऐतिहासिक दृष्टि से कम महत्त्व का नहीं है। वहाँ भी जैन प्रतिमाएँ प्राप्त हुई हैं जो वहाँ के ब्राह्मण मालगुजार के द्वारा सुरक्षित रखी गयी हैं। लाँजी भंडारा जिले का एक प्राचीन गाँव है जहाँ का अन्वेषण हुआ ही नहीं। मेरे जैनेतर परिचित मित्रों ने बताया कि वहाँ कई सुन्दर तथा कलापूर्ण जैन प्रतिमाएँ पायी गयी हैं जिनमें से कई तो सर्वथा अखंडित हैं।

इस प्रकार भंडारा जिले में कई स्थानों पर जैन पुरातत्त्व के अवशेष बिखरे पड़े हैं। यदि खोज की जाय तो और भी बहुत कुछ मौलिक सामग्री मिलने की पूर्ण संभावना है; क्योंकि मध्यप्रान्त में पुरातत्त्व विषयक अध्ययन बहुत ही कम हुआ है। अभी बहुत से शिलालेखादि ऐतिहासिक साधन प्रकाशन की प्रतीक्षा कर रहे हैं। इनका प्रकाशन भारतीय

और खासकर मध्यप्रदेश की संस्कृति की दृष्टि से आवश्यक ही नहीं प्रत्युत अनिवार्य है। मेरे निजी संग्रह में भी कई ऐतिहासिक साधन सुरक्षित हैं।

मध्यप्रांत भले ही आज शिक्षा और संस्कृति में पिछड़ा हुआ मालूम होता हो पर इसका अतीत अत्यन्त उच्च और अनुकरणीय था। यहाँ पर जैन साहित्य, शिलालेख, प्रतिमालेख तथा पुरातन अवशेष आदि कई प्रकार का मौलिक ऐतिहासिक सामग्री विद्यमान है, जिसके उपयोग के बिना जैन इतिहास सर्वथा अपूर्ण रहेगा। इस प्रान्त का दुर्भाग्य है कि उचित रीति से संशोधन करनेवाली कोई संस्था नहीं है। यदि होगी भी तो नाम मात्र की ही। मैं विद्वजनों से यही चाहूंगा कि अति शीघ्र इस प्रान्त में खोज का कार्य प्रारंभ कर दें। मैं स्वयं सहायता करने को तैयार हूं। मेरा विश्वास है कि यदि यहाँ का कुछ भी कार्य हुआ तो लोगों को आश्चर्यान्वित किये बिना न रहेगा। मैं यह अपने अनुभवों से लिख रहा हूं।

जैन कथा साहित्य

[ले०—श्रीयुत अगरचन्द नाहटा]

कथा-कहानी मानव की अति प्रिय वस्तुओं में है। बाल्यकाल से ही इसका प्रभाव हृदय पट पर अङ्कित होने लगता है, बालक थोड़ा सा समझदार होते ही कहानी सुनने को लालायित हो उठता है। जितना प्रभाव विधि निषेधात्मक उपदेशों का नहीं पड़ता, कथा-कहानी द्वारा सहज ही में पड़ जाता है। इस प्रकार संस्कृति निर्माण में कथा-कहानी का महत्त्वपूर्ण स्थान होने के साथ-साथ मनोरंजन के रूप में भी इसकी उपयोगिता निर्विवाद सिद्ध है। कथा पढ़ने और सुनने में जो रस की अनुभूति होती है उससे सहज ही में काल निर्गमन हो जाता है और मनुष्य अघाता नहीं है। इसी अनुभूति के आधार पर हमारे साहित्यकारों ने सुन्दर कथा ग्रन्थों की रचना बहुत विशाल परिमाण में की है[१]।

भारतीय कथा साहित्य में जैन कथा ग्रन्थों का स्थान बड़ा ही महत्त्वशाली है, पर अभी तक हमारी उपेक्षा के कारण उसका उचित मूल्याङ्कन नहीं हुआ है। भाषा की दृष्टि से तो जैन कथा ग्रन्थों का महत्त्व सर्वाधिक है। संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, हिन्दी, राजस्थानी, गुजराती, कन्नड़, तामिल आदि प्रधान भारतीय भाषाओं में जैन कथा साहित्य सुचारु रूप से फैला हुआ है। कई कई कथाएं तो इतनी अधिक लोकप्रिय हुई कि उनमें से प्रत्येक कथा पर एक ही भाषा में पचास पचास जैन विद्वानों ने रचना कर डाली है। परिमाण के हिसाब से कई कई कथाएं बहुत ही विस्तृत पाई जाती हैं तो कई लघुकाय

१ कथा साहित्य का प्राचीन नाम जैन साहित्य में प्रथमानुयोग, बौद्ध साहित्य में सुत्त पिटक और वैदिक परंपरा में इतिहास पाया जाता है। ये तीनों शब्द लगभग एक ही बात के द्योतक हैं।

निबन्धों के रूप में भी प्राप्य हैं। विषय विभाग के हिसाब से यद्यपि जैन लेखकों का प्रधान दृष्टिकोण धार्मिक रहा है फिर भी बुद्धिवर्द्धक[२], हास्यविनोद[३] कौतूहल[३], ऐतिहासिक[४] आदि विविध प्रकार[५] की कथाएं भी अनेकों उपलब्ध हैं। विशालता में जैन कथा साहित्य बहुत विस्तीर्ण है। हजारों जैन कथा ग्रन्थ यत्र तत्र जैन भंडारों में पाए जाते हैं। कथा साहित्य के कई संग्रहग्रन्थों में तो एक ही ग्रन्थ में १००—२०० यावत् ३६० कथाओं तक का संग्रह पाया जाता है जिसमें वक्ता एक ही ग्रन्थ के आधार से नित्य नई कथा सुनाते हुए भी वर्ष भर श्रोताओं को मुग्ध कर सकता है। लोक भाषा में रचित रास, चौपई संज्ञक कई कथा ग्रन्थ तो जैन भंडारों में सचित्र पाये जाते हैं जिनका कला की दृष्टि से भी बहुत अधिक मूल्य है। कई कथा ग्रन्थों में नवों रसों का बड़ा ही सरस वर्णन पाया जाता है, कई महाकाव्य हैं उनका विविध दृष्टियों से असाधारण महत्त्व है।

जैनागमों में वाङ्मय के प्रकार—

जैनागमों में चार अनुयोग बतलाए गए हैं—१ प्रथमानुयोग, २ करणानुयोग, ३ चरणानुयोग, ४ द्रव्यानुयोग। इनमें से प्रथम में सदाचारों को आचरण करने वाले स्त्री, पुरुषों का जीवन अंकित होता है जिसे धर्मकथा कहते हैं, किस धार्मिक विधान को किस व्यक्ति ने किस प्रकार आचरित किया, अनेकों विघ्न बाधाएं उपस्थित होने पर भी किस प्रकार उन्होंने सदाचारों की प्रतिज्ञाओं को निवाहा और उनके द्वारा उन्हें क्या फल प्राप्त हुआ? धर्मकथा में ऐसी कथाओं का ही समावेश होता है। दूसरे अनुयोग में गणित प्रधान खगोल, भूगोल आदि विषयों का वर्णन मिलता है। तीसरे में सदाचार के मूल नियम और उनके आचरण की विविध प्रक्रियाओं का वर्णन पाया जाता है और चौथे में जीव, अजीव, कर्म, परमात्मा, जगत् का स्वरूप आदि तत्त्वों की व्याख्या की जाती है। इनमें से धर्मकथानुयोग का स्थान बहुत ऊंचा है इसका कारण यह है कि अधिकांश जन साधारण उच्च शिक्षित नहीं होता अतः दूसरे तीनों अनुयोग उनके समझने में क्लिष्ट होते हैं। सदाचार के पालन व पापों से निवृत्त होने के उपदेश देने से लोग उन्हें आचरित करने व पाप कार्यों को परिहार करने के लिये उतने उत्सुक नहीं होते, जितने वे धर्मकथानुयोग में उन सदाचारों के पालन का फल व पापों का कुफल सुन कर सहज ही में उन्हें पालन व अयोग्य कार्यों का परिहार करने के लिये दृढ़ प्रतिज्ञ हो जाते हैं। करणानुयोग एवं द्रव्यानुयोग को तो कुशाग्र बुद्धिवाले ही समझ सकते हैं इसलिये आम जनता में धर्म प्रचार का मुख्य साधन एक

१ इस कोटि की आराधना कथा कोश एवं नन्दि सूत्र में कई कथाएँ हैं। २ राजशेखर सूरि का, कथा ग्रन्थ। ३ धूर्त्ताख्यान। ४ प्रबन्ध संग्रह और अनेक ऐतिहासिक काव्यादि। ५ जैन साहित्य में कथाओं के प्रकार—भक्तकथा, स्त्रीकथा, अवानिपालकथा और राष्ट्रकथा को विकथा तथा धर्मचर्चा को धर्मकथा कहा गया है। ६ उदाहरणार्थ श्रीपाल कथा को लिया जा सकता है जिस पर श्वेताम्बर दिगम्बर दोनों सम्प्रदायों के ६० ग्रन्थ विद्यमान हैं। इसके विषय में अनेकान्त वर्ष २ अंक २, वर्ष ३ अंक ७ में प्रकाशित मेरा लेख देखना चाहिए।

धर्म कथानुयोग ही माना गया है; कहा जाता है कि ज्ञाता धर्म कथा नामक छठे जैनागम में ३॥ करोड़ कथाएं थीं पर काल प्रभाव वश आज केवल १९ अध्याय ही इसके प्राप्त हैं जिसमें द्रौपदी आदि कुछ कथानक ऐतिहासिक व्यक्तियों के एवं कुछ उदाहरण के रूप में कथानक हैं जो बड़े सुन्दर हैं। जैनधर्म के धार्मिक आचारों को पालन करने वाले १० श्रावकों का वर्णन उपासकदशा सूत्र में पाया जाता है। इसी प्रकार जैन मुनियों का अनुत्तरोपपातिक दशा, अन्तः कृतदशा, मूलाचार आदि कई ग्रन्थों में बहुत अच्छा वर्णन है। अच्छे काम करने वाले और बुरे काम करने वाले व्यक्तियों के उदाहरण (उनके फल के निर्देश में) विपाक सूत्र में बतलाए गये हैं। प्राचीन जैनागम साहित्य की कथाओं का तत्कालीन सामाजिक संस्कृति, इतिहास, निरूपण शैली, भाषा के विकाश आदि विविध दृष्टियों से बहुत महत्त्व है।

मूल आगमों के पश्चात् कथा साहित्य का विकाश[1] हम उन आगमों पर रची हुई निर्युक्तियों, भाष्य, चूर्णि एवं वृत्तियों में विस्तार से पाते हैं। निर्युक्ति, चूर्णि एवं भाष्यादि प्राचीन टीकाएं जिनके कथानक पर्याप्त प्राचीन एवं समसामयिक भी हैं इनका निर्माण काल ५ वीं से ९ वीं शताब्दी तक का है। इस समय के स्वतन्त्र कथा ग्रन्थ बहुत कम पाये जाते हैं, कुछ ग्रन्थ रचे अवश्य गये थे, और उनका निर्देश पीछे के कथा ग्रन्थोंमें आता है लेकिन वे आज प्राप्य नहीं हैं। जैन विद्वानों ने लोक रुचि की ओर अधिक ध्यान रखा है और समय-समय पर जन साधारण में प्रचलित प्रसिद्ध कथानकों पर भी काफी ग्रन्थ लिखे हैं। जिस समय रामायण एवं महाभारत की कथा ने जन साधारण में एक नवीन उत्साह और अभिरुचि उत्पन्न कर दी थी, जैन विद्वानों ने वसुदेवहिण्डी[2], पउमचरियं[3] हरिवंश पुराण आदि मौलिक ग्रन्थों की रचना की। इसके पश्चात् पादलिप्तसूरि ने तरंगवती नामक कथा बड़ी रसपूर्ण बनाई पर वह मूल रूप में अब उपलब्ध नहीं है उसका संक्षिप्त सार[4] ही हमें उस सरस कथा का रसास्वादन करा रहा है। धम्मिलहिण्डी ग्रन्थ भी एक सरस कथा ग्रन्थ है। इसी प्रकार दिगम्बर सम्प्रदाय में हरिषेण ने एक अराधना कथा कोश बनाया, जिसकी श्लोक संख्या साढ़े बारह हजार है। दिगम्बर सम्प्रदाय में 'आराधना कथाकोश' नाम के दो संस्कृत ग्रन्थ और हैं, एक आचार्य प्रभाचन्द्र का गद्यबद्ध और दूसरा ब्र० नेमिदत्त का पद्यबद्ध। ये कथाएँ भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण, रोचक एवं सरस है आठवीं शताब्दी में हरिभद्रसूरि जी ने

१ इस सम्बन्ध में विशेष वर्णन प्रो० A. N. उपाध्ये संपादित बृहद् कथाकोश की प्रस्तावना में देखना चाहिए।

२ आत्मानंद जैनसभा भावनगर से प्रकाशित, सम्पादक मुनि पुण्य विजयजी।

३ इसके रचनाकाल के सम्बन्ध में मत भेद हैं। ग्रन्थकार के निर्देशानुसार इसका समय वीर सं० ५३० है।

४ इसका जर्मनी में अनुवाद प्रकाशित हुआ था, उससे गुजराती में अनुवाद प्रकाशित हुआ है।

समराइच्च[1] कहा नामक बड़े सुन्दर ग्रन्थ की रचना की, यह ग्रन्थ पर्याप्त प्रसिद्ध रहा है और पिछले ग्रन्थकारों ने बड़े आदर के साथ इसका उल्लेख किया है। दिगम्बराचार्य जिनसेन ने हरिवंश पुराण बनाया। इसी प्रकार रविषेण ने पद्मपुराण, धनपाल ने भविष्यदत्त कथा आदि महत्वपूर्ण ग्रन्थ लिखे। इन कथाग्रन्थों ने कथा साहित्य में एक नवीन शैली का आदर्श उपस्थित किया। भविष्यदत्त कथा में भारतीय साहित्य में ही नहीं बल्कि विश्व साहित्य की अजोड़ पुस्तक है। इस ग्रन्थ में गम्भीर तम आध्यात्म एवं मनोवैज्ञानिक भावों का इतना सुन्दर विश्लेषण एवं हृदयहारी वर्णन पाया जाता है जो पाठकों को मुग्ध किये बिना नहीं रहता। इसके पश्चात् कथा साहित्य के जैन ग्रन्थों का विकाश बड़ी तीव्र गति से आगे बढ़ा, दिगम्बर साहित्य में हरिषेण का बृहद्‌कथा[2]कोश एवं श्वेताम्बर साहित्य में भी श्री जिनेश्वरसूरिजी[3], देवभद्रसूरिजी[4] आदि ने कथाओं के विशाल संग्रह ग्रन्थ रचे। मौलिक कथा ग्रन्थों का तांता सा लग गया; प्राकृत, अपभ्रंश, संस्कृत भाषा में दशवीं शताब्दी से इतने अधिक ग्रन्थ रचे जाने लगे जिनका नामोल्लेख करना भी इस लघु लेख में संभव नहीं है। मौलिक कथा संग्रह ग्रन्थों के अतिरिक्त एक एक कथा पर स्वतन्त्र काव्य भी अनेक रचे गये जिनकी संख्या भी सैकड़ों पर है। इसी प्रकार जैन तीर्थङ्करों, शलाका पुरुषों के चरित्र सम्बन्धी भी बहुत बड़े साहित्य का निर्माण हुआ है।

जैन साहित्य में ऐसे कई प्रकरण ग्रन्थ भी मिलते हैं जिनमें धर्मोपदेश के दृष्टान्त में या महापुरुषों के गुण स्मरण रूप में अनेकों व्यक्तियों का नाम निर्देश किया गया है। उन ग्रन्थों के टीकाकार व बालावबोधकारों ने निर्दिष्ट व्यक्तियों के कथानक अपनी टीकाओं में विस्तार से लिखे हैं। भरहेसर बाहुबलिवृत्ति, ऋषिमंडलवृत्ति, आदि इसके उज्ज्वल उदाहरण हैं। इन वृत्तियों में सैकड़ों कथायें हैं। साधारणतया पचासों प्रकरण ऐसे हैं जिनमें प्रसंगवश अवान्तर कथाओं का भी काफी संग्रह किया गया है कई मौलिक प्रकरण ग्रन्थों का विषय धर्मोपदेश, सदाचार का है और उसके उदाहरण में कथाओं का संग्रह किया गया है। व्रत कथाओं[5] एवं धार्मिक अनुष्ठानों—दान, पूजा, शील, इत्यादि के माहात्म्य में भी सैकड़ों कथाएं पाई जाती हैं।

---

१ रायल एसियाटिक सोसाइटी कलकत्ता से डॉ० हर्मन जैकोबी ने संपादित कर प्रकाशित किया है,

२ इसे प्रो० ए० एन उपाध्ये ने सिंघी जैन ग्रंथमाला से प्रकाशित किया है। इसका रचना काल सं० ९८९ है।

३ यह भी सिंघी जैन ग्रंथमाला से शीघ्र ही प्रकाशित होगा।

४ मुनि पुण्यविजय ने सम्पादित कर श्री जैन आत्मानंद सभा, भावनगर से प्रकाशित किया है, रचना सं० ११५८ है।

५ इसके सम्बन्ध में 'जैन सिद्धान्त भास्कर' में प्रकाशित वर्ष ११ अंक १ में मेरा लेख देखना चाहिए।

तेरहवीं शताब्दीसे लोकभाषा साहित्य में कथा ग्रन्थों की रचना रास, चौपाई, बेलि, धवल, प्रबन्ध, सम्बन्ध आदि अनेक नामों से होने लगी। पहले ये कृतियाँ छोटी छोटी बनाई जाती थीं पर सोलहवीं शताब्दी से इनका आकार-प्रकार विस्तृत होने लगा और सत्रहवीं शताब्दी में तो ऐसी अगणित रचनाओं का निर्माण हुआ है और तब से अविच्छिन्न रूप से यह क्रम थोड़ा बहुत आज भी विद्यमान है।[१] जैन विद्वानों की यह एक बड़ी विशेषता रही है कि उन्होंने अनेक लोक प्रचलित आख्यानों को जैन सांचे में ढालकर जैन साहित्य की अतिशय श्री वृद्धि की है। कई लोक कथाओं पर तो उनके अनेकों ग्रन्थ विद्यमान[२] हैं। विक्रम की विविध कथाओं पर ही जैन विद्वानों के रचित करीब ६० ग्रन्थ मेरे अन्वेषण में आये हैं। जैनेतर विद्वान् लोग साम्प्रदायिक साहित्य समझकर जैन कथा साहित्य के अध्ययन की ओर विशेष अग्रसर नहीं हुए अन्यथा इस महान् साहित्य का उचित महत्त्व अब तक कभी का प्रकाश में आ गया होता। जैन ग्रन्थों में आई हुई कई कथाएं इतनी लोक प्रसिद्ध हैं कि जो केवल भारतीय साहित्य में ही नहीं किन्तु पाश्चात्य साहित्य में लोकादर प्राप्त हैं। अभी एक बंगाली विद्वान् ने कलकत्ते की वीर शासन जयन्ती के उत्सव में इस बात के कुछ मनोरंजक उदाहरण पेश किये थे। नंदी सूत्र वृत्ति में आई हुई रोहकादि की कथाएं और अभयकुमार की कथा बाल साहित्य में बुद्धिवर्द्धक होने के कारण बड़ी उपयोगी सिद्ध हो सकती है। वर्त्तमान लोक रुचि एवं शैली का ध्यान रखते हुए यदि इन जैन कथानकों को नये ढंग से लिखकर प्रकाशित किया जाय तो मेरा अनुमान है कि इनकी प्रसिद्धि बहुत ही अधिक होगी एवं अच्छे संस्कारों की जो सुदृढ़ छाप इनके द्वारा पड़ेगी वह अन्य कथा साहित्य से दुर्लभ है। आशा है अध्ययन शील विद्वान् एवं नवीन कहानी लेखक साहित्यकार इस ओर शीघ्र ध्यान देंगे।

मेरा यह लेख जैन कथा साहित्य का सूचना-मात्र ही है। उपर्युक्त प्रत्येक कथन के प्रमाण दिये जाते तो जैन कथा साहित्य के महत्त्व को समझने में बड़ी सुगमता होती, पर कागज के इस अकाल में सामयिक पत्रों के पृष्ठ बहुत घट जाने के कारण इच्छा होते हुए भी उस लोभ का संवरण करना पड़ा है।

---

१ लोक भाषा में रचित श्वेताम्बर जैन कथा ग्रन्थों के लिए श्री० मोहनलाल दलीचंद देसाई संपादित 'जैन गूर्जर कविओ' भाग १-२-३ देखने चाहिए। भाग दूसरे के परिशिष्ट नं० १ में देसाई महोदय ने १० जैन ग्रंथों के आधार से करीब ५०० जैन कथानकों की सूची दी है। वास्तव में समस्त जैन कथाओं का एक विस्तृत कोश अवश्य ही प्रकाशित होना चाहिए।

दिगम्बर विद्वानों ने भी हजारों कथा ग्रन्थ बनाये हैं। संस्कृत, प्राकृत के अतिरिक्त अपभ्रंश कन्नड और हिन्दी भाषा में जैन कथा ग्रन्थ तो इसी सम्प्रदाय के मुख्यतया प्राप्त हैं।

२ इसके सम्बन्ध में श्रीयुक्त देसाई लिखित "जैन साहित्य का संक्षिप्त इतिहास" के पेराग्राफ नं० ७८१-८२, ८३८ से ९०१ और ९७९ सटिप्पण देखने चाहिए। इस ग्रन्थ में एवं जैन ग्रन्थावली में संस्कृत, प्राकृतादि जैनकथा ग्रन्थों का विवरण प्रकाशित है। दिगम्बर ग्रन्थों की कुछ सूची पं० नाथूराम जी प्रेमी ने 'दिगम्बर जैन ग्रन्थ कर्त्ता और उनके ग्रन्थ' नाम से प्रकाशित की थी उसके पश्चात् १ लेख पं० कैलाशचंद्र शास्त्री का 'जैन सिद्धान्त भास्कर' में छपा था। कुछ भंडारों की सूचियां अनेकान्त में प्रकाशित हुई हैं। परन्तु पूरा परिचय तो दि० साहित्य का इतिहास ग्रन्थ या विस्तृत सूची प्रकाशित होने से ही मिल सकता है।

भगवान् महावीर का विहार प्रदेश

[लेखक—श्रीयुत बाबू कामता प्रसाद जैन, D. L., M. R. A. S.]

'शनैः शनैः प्रभु करैं विहार, नाना देश ग्राम पुर मार।'
आरजखण्ड कियौ सम्बोध, तीस वरष विहरै अवरोध।'

—वर्द्धमान पुराण १६।१०१

जैनियों के अन्तिम तीर्थङ्कर भ० महावीर वर्द्धमान ने बारह वर्ष का घोर तप तपा—उस तपस्या में उनकी आत्मा कर्ममल से मुक्त हो गई। भ० महावीर सर्वज्ञ-सर्वदर्शी परमात्मा हुये। जैन शास्त्र उनके वैभव का बखान करते हैं। बौद्ध शास्त्र भी कहते हैं कि 'भ० महावीर सर्वज्ञ सर्वदर्शी, लोक प्रख्यात् और अनुभवी वयप्राप्त लोक नेता थे'[1]। निस्सन्देह वह विश्व की विभूति थे। इन्द्र ने जाना कि भ० महावीर द्वारा विश्व का कल्याण होगा। अतः उसने प्रभु से निवेदन किया कि वे आर्यखंड में विहार कर के ज्ञानामृत की वर्षा करें, जिससे लोक को अमरत्व की प्राप्ति हो! इस निमित्त को पाकर भ० महावीर का विहार समग्र आर्यखंड में हुआ!

जैन शास्त्रों में आर्यखंड से मतलब भरतक्षेत्र के उस भूभाग से है जिसमें आर्य लोग रहते हैं और जहां धर्म-कर्म की प्रवृत्ति हमेशा रहती है। उस भूभाग की परिधि अत्यधिक है—आज की ज्ञात दुनियां उसमें समा जाती है। भरत क्षेत्र का विस्तार ५२६$\frac{6}{19}$ योजन कहा गया है और एक योजन यहां दो हजार कोस का माना है। भरतक्षेत्र के बीच में विजयार्ध पर्वत है, जिसके इधर-उधर (पूर्व-पश्चिम) गंगा, सिन्धु नदियां बहती हैं। इन नदियों और पर्वतों से भरतक्षेत्र के छः खण्ड हो जाते हैं। आजकल जो पृथ्वी उपलब्ध हुई है उसका समावेश भरतक्षेत्र के आर्यखंड में हो जाता है—विजयार्ध पर्वत उसके बाहर की चीज़ है। वह शायद उत्तरी ध्रुव में कहीं हो, जहां विद्याधरों की बस्तियां थीं और जहां आज बड़े २ नगरों के खंडहर मिलते हैं।[2]

पंडित प्रवर वृन्दावन जी ने इस विषय में लिखा है कि "भरतक्षेत्र की पृथ्वी का क्षेत्र तो बहुत बड़ा है। हिमवन कुलाचल तैं लगाय जंबूद्वीप के कोटताई, बीचि कछू दश लाख कोश चौड़ा है, तामें यह आर्यखंड भी बहुत बड़ा है। या मैं बीचि यह खाड़ी समुद्र है, ताकूं उपसमुद्र कहिये है।" स्व० पंडित गोपालदास जी ने भी यही मत व्यक्त किया था। श्रवण बेलगोल के पंडिताचार्यजी ने भी इसी मत को मान्य किया था। उन्होंने आर्यखंड को अरब, चीन आदि छप्पन ५६ देशों में विभक्त बतलाया था। आधुनिक विद्वत्समाज मध्य एशिया, अफरीका आदि देशों का उल्लेख 'आर्यन' अथवा 'आर्यबीज' रूप में करता है। अतः वर्तमान में ज्ञात सारी दुनिया आर्यखंड में अन्तर्भुक्त समझनी चाहिये।

---

१ मज्झिमनिकाय (P. T. S.) भा० १ पृ० ६०

२ हमारी 'भगवान पार्श्वनाथ' नामक पुस्तक देखो।

इस दशा में भ० महावीर का आर्यखंड में विहार करने का अर्थ यह होता है कि उन्होंने आज की ज्ञात दुनियां में प्रायः सर्वत्र विहार किया था। एक तीर्थङ्कर महापुरुष के लिये समग्र आर्यखंड में विहार करना कुछ भी अनोखा नहीं है। किन्तु आजकल बहुत से विद्वान् भ० महावीर के विहार क्षेत्र को भारत के पूर्वीय भाग में ही सीमित मानते हैं। दक्षिण भारत, राजपूताना और पंजाब की ओर भ० महावीर पहुंचे ही नहीं थे, यह उनकी मान्यता है। श्वेताम्बरीय 'कल्पसूत्र' में भ० महावीर ने विहार कर के जिन २ स्थानों पर चौमासा किया, उनके उल्लेख के आधार से कुछ विद्वानों ने उपर्युक्त मत स्थिर किया है। यह चातुर्मास वैशाली, वणियग्राम, राजगृह, नालन्दा, मिथिला, अलभी, पाण्डवभूमि, श्रावस्ती और पावापुर में हुये लिखे गये हैं![1] किन्तु इसका यह अर्थ नहीं हो सकता कि इन स्थानों के अतिरिक्त अथवा इनके निकटवर्ती क्षेत्र से दूर देशों में भगवान् गये ही नहीं। हाथी गुफा के शिलालेख से स्पष्ट है कि भ० महावीर का समोशरण कुमारी पर्वत पर अवतरित हुआ था[2]; परन्तु 'कल्पसूत्र' में यह कहीं नहीं लिखा कि भ० महावीर की धर्मदेशना कुमारी पर्वत पर हुई थी। इसके विपरीत यह उल्लेख स्पष्ट मौजूद है कि भ० महावीर का विहार सारे आर्यखंड में हुआ था। अतः उसे पूर्वीय भारत में सीमित करना अयथार्थ है।

श्रीजिनसेनाचार्य जी ने 'हरिवंशपुराण' में स्पष्ट रूप में उन नाना देशों का उल्लेख किया है जिनमें भ० महावीर विहरे थे। उन्होंने लिखा है कि "जिस प्रकार भ० ऋषभदेव ने पहिले अनेक देशों में विहार कर उन्हें धर्मात्मा बनाया था, उसी प्रकार भ० महावीर ने भी मध्य के—काशी, कौशल, कौशल्य, कुसंध्य, अश्वष्ट, साल्व, त्रिगर्त, पांचाल, भद्रकार, पाटच्चर, मौक, मत्स्य, कनीय, सौरसेन एवं वृकार्थक; समुद्रतट के—कलिंग, कुरुजांगल, कैकेय, आत्रेय, कांबोज, वाल्हीक, यवनश्रुति, सिंधु, गांधार, सौवीर, सूरभीरु, दशेरुक, वाडवान, भारद्वाज और क्वाथतोय; एवं उत्तर दिशा के तार्ण, कार्ण आदि देशों में विहार कर उन्हें धर्म की ओर ऋजु किया था[3]।"

जिन देशों के नाम श्री जिनसेनाचार्य ने ऊपर लिये हैं उनके अतिरिक्त और भी बहुत से देश थे जिनमें भ० महावीर का पवित्र विहार हुआ था। उपर्युल्लिखित देशों में

---

१ श्री विजयेन्द्रसूरि कृत 'श्रीवीरविहार मीमांसा' देखो।

२ जर्नल ऑव बिहार एण्ड ओड़ीसा रिसर्च सोसाइटी,

३ 'काशिकौशलकौशल्यकुसंध्याश्वष्टनामकान्।
साल्वत्रिगर्तपांचालभद्रकारपटच्चरान् ॥३॥
मौकमत्स्याकनीयांश्च सूरसेनवृकार्थवान्।
मध्यदेशानिमान्मान्यान् कलिंगकुरुजांगलान् ॥४॥
कैकेयाऽऽत्रेयकांबोजवाल्हीकयवनश्रुतीन्।
सिंधुगांधारसौवीरसूरभीरुदशेरुकान् ॥५॥
वाडवानभरद्वाजक्वाथतोयान् समुद्रजान्।
उत्तरांस्तार्णकार्णांश्च देशान् प्रच्छाल नामकान् ॥६॥३॥' —हरिवंशपुराण

अधिकांश भारत भर में फैले मिलते हैं और बहुत-से भारत के बाहर भी प्रतीत होते हैं। प्रस्तुत लेख में हम यह देखने का प्रयत्न करेंगे कि यह देश कहां अवस्थित थे। इसके पहले पाठक यह ध्यान में रक्खें कि पुरातत्त्व और अनुश्रुति इस बात की पोषक है कि भ० महावीर ओड़ीसा, पंजाब, राजपूताना, महाराष्ट्र आदि देशों में विहारे थे। कुमारी पर्वत ओड़ीसा में है; जहां महावीर प्रभु की धर्म देशना का शिलालेखीय उल्लेख मिलता है। गांधारदेश को राजधानी तक्षशिला के भग्नावशेष जैनधर्म के अस्तित्व को प्रमाणित करते हैं। जैनशास्त्र कहते हैं कि गांधार में भ० महावीर का समोशरण अवतरित हुआ था। लोग कहते हैं कि वहां पास में कोटेरा ग्राम के पर्वत पर जो प्राचीन ध्वंस मंदिर है, वह भ० महावीर के शुभागमन का स्मार्क है[१]। मेवाड़देश में मज्झिमिका नगरी भ० महावीर के निकट समय में प्रख्यात् थी। वहां ऐसे लेख मिले हैं जिनसे उस नगरी में अहिंसाधर्म के प्राबल्यकी सूचना मिलती है। भ० महावीर के निर्वाण काल के ८४ वें वर्ष के एक शिलालेख में उसका उल्लेख है[२]। यदि भ० महावीर का विहार उस नगरवर्ती प्रदेश में न हुआ होता तो इतने प्राचीन उल्लेख वहां जैनधर्म के प्रभाव के कैसे मिलते? कैसे जैनधर्म वहाँ पहुँचा? जब स्वयं तीर्थङ्कर ही वहां न पहुंच पाये तो उनके गणधर जल्दी से वहां कैसे पहुंचे? गणधरों के बहुप्रदेशी विहार का वर्णन भी शास्त्रों में प्रायः नहीं मिलता! अतः यह उचित जँचता है कि स्वयं भ० महावीर का विहार उक्त प्रदेशों में हुआ था। महाराष्ट्र का तेरपुर स्थान जैनधर्म का प्राचीन केन्द्र है। यह उल्लेख इस बात के प्रमाण हैं कि भ० महावीर का विहार पूर्वीय भारत में ही सीमित नहीं रहा था।

अब आइये पाठक, श्री जिनसेनाचार्य जी के बताये हुये देशों में से प्रत्येक का परिचय पाने का प्रयत्न करें। पहले ही मध्यदेश के स्थानों में काशी का उल्लेख है।

१ काशी देश की स्थापना भ० ऋषभदेव के समय में इन्द्र द्वारा हुई थी। कहते हैं कि चन्द्रवंश के काशीराज की अपेक्षा यह देश काशी कहलाया था। टोल्मी ने इसे कस्सिड (Kassida or Kassidia) देश लिखा था। वर्तमान का बनारस डिवीजन ही प्रायः प्राचीन काशी देश है।

२ कौशल काशी से सटा हुआ देश था। आजकल के फैज़ाबाद डिवीजन का प्रदेश उसमें अन्तर्भुक्त था। कौशल की राजधानी अयोध्या थी। कौशल के पश्चिम में पञ्चाल, दक्षिण में सर्पिका नदी (सई नदी), पूर्व में सदानीर और उत्तर में नेपाल था।

३ कौशल्य संभवतः दक्षिण कौशल का द्योतक है, जो विंध्याचल का पृष्ट भाग कहा जा सकता है।

४ कुसंध्य कौन सा देश था? यह ठीक से बताना कठिन है; परन्तु 'हरिवंश पुराण' में अन्यत्र एक कुशद्य देश की राजधानी शौर्यपुर लिखी है। इस शौर्यपुर को यादवनरेश शूर ने मथुरा से चल कर बसाया था। आजकल आगरा जिला के अन्तर्गत बटेश्वर नामक

१ Stein in Vienna Oriental Journal, 1890, p. 80; p. 263.

२ राजपूताने का इतिहास (ओझा), भा० १ पृ० ३१८ व संक्षिप्त जैन इतिहास।

—भा० २ खंड १ पृ० १००

स्थान पर प्राचीन शौर्यपुर के ध्वंशावशेष बताये जाते हैं। अतः संभव है कि कुशाद्य और कुसंध्य देश एक हों ? इसी प्रदेश से सटा हुआ कान्यकुब्ज (कन्नौज) नगर है; जो कुसस्थल नाम से भी प्रसिद्ध रहा है[१]। शौर्यपुर और कान्यकुब्ज के मध्य में संकिसा (प्राचीन संकाश्य) जिला फर्रुखाबाद में पड़ता है; वहां जनक के भाई कुशध्वज शासन करते थे[२]। अतः यह सारा प्रदेश ही उस समय कुशद्य या कुसंध्य नाम से प्रसिद्ध था, ऐसा अनुमानित होता है। इसके अतिरिक्त एक कुशद्वीप अफ्रीका में मिश्र, अबीसिनीया और इयूथोपिया के भूभाग प्रदेशवाला था—वहां यादवों के पहुंचने की वार्ता भी प्रचलित थी और आर्य संस्कृति का प्रसार था[३]। किन्तु कौशल्यदेश के साथ आगरा से कन्नौज तक फैला हुआ कुशद्यदेश श्री जिनसेनाचार्य को अभिप्रेत प्रतीत होता है।

५ अश्वष्ट इस नाम से सादृश्य रखने वाले दो स्थान (१) अश्वक (२) अष्टकप्र हैं। अश्वक प्रदेश पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्त से परे काबुल नदी के उत्तर भाग में स्थित था। यूनानियों ने इसे Aspasioi नाम से पुकारा था[४]। अश्वष्ट से इसका सादृश्य अधिक है। अष्टकप्र का उल्लेख टोल्मी ने किया है, जो हस्तकवप्र का अपभ्रंश है। यह गुजरात में था[५]।

६ साल्व ज्ञात नहीं कि इससे कौन सा प्रदेश अभिप्रेत है। अलबत्ता दक्षिण भारत के राजाओं में एक राजवंश 'सालुव' नामक भी था साल्वमल्ल जिनदास तुलुवदेश पर शासन करते थे[६]। दक्षिण के एक शिलालेख में उल्लेख है कि सालुव राजा पूर्वी प्रदेश से वहां आये थे[७]। अतः साल्व देश विहार ओड़ीसा अथवा दक्षिण भारत में अवस्थित हो सकता है।

७ त्रिगर्त श्रीहेमचन्द्राचार्य ने 'अभिधानचिन्तामणि' (४।२४) में त्रिगर्त का उल्लेख जालन्धर के साथ किया है। (जालन्धरास्त्रिगर्ताःस्युः) रावी, व्यास और सतलज नदियों का मध्यवर्ती प्रदेश त्रिगर्त कहलाता था। इसके जालंधर व कोटकांगड़ा मुख्य नगर थे[८]।

८ पांचाल वर्तमान बदायूं, फर्रुखावाद, बरेली, एटा आदि ज़िलों का प्रदेश ही प्राचीन पांचाल है। उसकी उत्तरीय राजधानी अहिच्छत्र थी और दक्षिणी काम्पिल्य[९]। फर्रुखावाद जिले का काम्पिल्य प्राचीन काम्पिलज है। यहां विमलनाथ तीर्थङ्कर के चार

१ कनिंघम ऐन्शियेंट आगरफी ऑव इण्डिया, नोट्स, पृ० ७०७
२ पूर्व० पृ० ७०५
३ भ० पार्श्वनाथ, पृ० १
४ कनिंघम, ऐ, आ० इं०, ६६७
५ पूर्व० पृ० ६११
६ जैनिज्म एण्ड कर्णाटक कल्चर (धारवार) पृ० ५२
७ मैसूर एण्ड कुर्ग (राइस) पृ० १५२-१५३
८ कनिंघम. ऐआई० पृ० ६८३
९ पूर्व० पृ० ७०४

कल्याणक हुये थे। कायमगंज स्टेशन से आया जाता है। श्वेताम्बरीय 'उपासकदशासूत्र' में उल्लेख है कि भ० महावीर का समवशरण काम्पिल्य में आया था।

१० पाटचर ज्ञात नहीं इससे कौन-सा प्रदेश लिखा गया है। सिन्धु का 'पाटलिन' नाम से यूनानियों ने उल्लेख किया है। संभव है पाटचर सिन्धु का पार्श्ववर्ती प्रदेश हो।

११ मौक कनिंघम सा० ने पंजाब में जलालपुर के पास राजा मोघ द्वारा स्थापित मोग स्थान का उल्लेख किया है[1]; परन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि वह स्थान मौक था।

१२ मत्स्य इस देश की राजधानी वैराट् थी, जो आजकल जयपुर रियासत का बैराट नगर है। अतः भरतपुर और जयपुर रियासतों के पासवाला देश और अलवर रियासत मत्स्य देश कहा जा सकता है[2]। वह इन्द्रप्रस्थ और शूर से दक्षिण में था।

१३ कनीय देश का पता लगाना शेष है।

१४ शौरसेन प्रदेश इन्द्रप्रस्थ से दक्षिण में और मत्स्य से पूर्व में स्थितथा। वह मथुरा से चम्बल तक फैला हुआ था। मथुरा राजधानी थी[3]।

१५ वृकार्थक इस नाम के देश का पता हमें नहीं ज्ञात हुआ।

१६ कलिङ्ग वङ्ग देश के दक्षिण में था और दक्षिण में महेन्द्र पर्वत तक फैला हुआ था। दन्तपुर राजधानी थी। वर्तमान का ओड़ीसा प्रान्त व उसका दक्षिणवर्ती प्रदेश को कलिङ्ग समझना चाहिए।

१७ कुरुजांगल देश सरस्वती और गंगा नदियों का मध्यवर्ती भूभाग था, जिसकी राजधनी हस्तिनापुर थी। आजकल मेरठ और मुजफ्फरनगर आदि जिलों में यह देश गर्भित है।

१८ कैकेय प्रदेश पंजाब में व्यास नदी के उस पार गांधार तक फैला हुआ था। वर्तमान कंधार तक का प्रदेश इसे समझना चाहिये[4]।

१९ आत्रेय अज्ञात है।

२० कम्बोज गांधार का पार्श्ववर्ती प्रदेश था[5]। आजकल कंधार से सटा हुआ प्रदेश कम्बोज समझना चाहिये।

२१ वाल्हीक वाहीक लोगों का प्रदेश वाल्हीक होना चाहिये, जो वैदिक आर्यों के देश से दूर बसते थे। कात्यायनवार्त्तिका में 'बहिस्' (Out side) धातु से वाहीक शब्द की उत्पत्ति लिखी है[6]। 'बृहत् संहिता' में भी वाल्हीक देश का उल्लेख हुआ है,

१ कनिंघम, ऐन्शियेंट जागरफी ऑव इण्डिया, पृ० २०४
२ पूर्वपुस्तक पृ० ७०२
३ पूर्वपुस्तक पृ० ७०६
४ पूर्वपुस्तक पृ० ६८५
५ कनिंघम, ऐआई०, पृ० ६८३
६ पूर्व० पृ० १८७

जिसे विद्वान् लोग बैक्ट्रियन देश की राजधानी बल्ख का संस्कृत रूप बताते हैं। जब बल्ख के शक लोग पंजाब में आ बसे तब वह प्रदेश भी बाहीक नामसे प्रसिद्ध होगया था[1]।

२२ यवनश्रुति प्रदेश यूनान और उसके पार्श्ववर्ती भूभाग का द्योतक है। यूनानी लोग प्राचीन भारत में 'यवन' नाम से उल्लेखित होते थे[2]। आजकल के विद्वान् भी यह कहते हैं कि बौद्ध भिक्षु और जैन श्रमण यूनान और नार्वे तक प्रचार के लिये गये थे[3]। एक श्रमणाचार्य (दि० जैन) की समाधि यूनान के अथेन्स नगर में थी।[4]

२३ सिन्धु वर्तमान का सिन्ध प्रान्त प्राचीन सिन्धु माना गया है। वैसे ग्वालियर राज में पद्मावती के आसपास का सिन्धु, पारा, लवण और मधुमती नदियों का पार्श्ववर्ती प्रदेश भी सिन्धु नाम से प्रसिद्ध था[5]; परन्तु वह समुद्रवर्ती नहीं था। इसलिए 'हरिवंश' का सिन्धु वर्तमान का सिन्ध प्रान्त है।

२४ गांधार यूनानी लेखक स्ट्रेबो ने गांधार का उल्लेख 'गंदारितिस' (Gandarites) नाम से किया है और उसे चोस्प (Choaspes) और सिन्धु नदियों के बीच में बहने वाली कोफ़ूस (Kophes) नदी के किनारे २ फैला हुआ बताया है। टोलमी ने उसका उल्लेख 'गंद्रोह' (Gandaroe) नाम से किया है और उसे कोफे (Kophe) के दोनों तटों पर वहां तक फैला बताया है जहां तक वह सिंधु में जाकर गिरी है। चीनी यात्रियों ने 'कीन-तो-लो' (Kien tho-lo) नाम से उसका उल्लेख किया है और उसे सिन्धु नदी से पश्चिम की ओर अवस्थित लिखा है[7]। 'रामायण' में इसका उल्लेख 'गन्धर्व-विषय' नाम से हुआ है और उसे सिंधु के दोनों तटों पर फल फूल से शोभित बताया है। युद्ध कोविद गंधर्व उसकी रक्षा करते थे[8]। ऋग्वेद और महाभारत में भी गांधार का उल्लेख हुआ है। ईरानी इसे 'गदार' कहते थे। तक्षशिला और पुष्कलावती इसके मुख्य नगर थे[9]।

२५ सौवीर 'बृहत्संहिता' में सिंधु-सौवीर देश को नैऋत्य दिशा में बताया है[10]। यह प्रदेश सिंधु से सटा हुआ था। भ० महावीर के मौसा राजा उदयन सिंधु और

---

१ इण्डियन हिस्टॉरीकल क्वारटर्ली, भा० २ पृ० ७२६
२ हिस्टॉरीकल ग्लीनिंग्स पृ० ७०-७८
३ भगवान् महावीर
४ इण्डियन हिस्टॉरीकल क्वॉरटर्ली,
५ कनिंघम, ऐन्श० इं० पृ० ७१०
६ पूर्वो०, पृ० ४७
७ कनिंघम, ऐन्श० इं० पृ० ४७
८ 'अयं गन्धर्वविषयः फलमूलोपशोभितः ॥
सिन्धोरुभयतः पार्श्वे देशः परमशोभनः ।
तं च रक्षन्ति गन्धर्वाः सायुधाः युद्धकोविदाः ॥
—उत्तरकाण्ड १००।१०-११
९ कनिंघम, ऐन्श० इं० पृ० ६०४
१० 'नैऋत्याम् दिशि देशा—पह्लव काम्बोज सिंधु-सौवीरः । —बृहत्संहिता, १४।१७

सौवीर पर शासन करते थे। भ० महावीर का समोशरण जब यहां आया तब वह मुनि हो गये[1]।

२६ सुरभीक भी समुद्रतटवर्ती देश था, जो संभवतः 'सुरभि' नामक देश का बोधक है। यह सुरभिदेश मध्य ऐशिया में क्षीरसागर (Caspian Sea) के निकट (Oxus) नदी से उत्तर की ओर स्थित था। यह आजकल खीव (Khiva) प्रान्त का खनत अथवा खरिस्म प्रदेश है[2]।

२७ कुशोदक
२८ वाहवाल
२९ मारद्राज

इन देशों का पता लगाने में हम असमर्थ हैं। यदि कोई पाठक इनका परिचय प्रकट करें तो अच्छा है।

३० क्वाथतोय देश समुद्र के किनारे होने के कारण उस समुद्र के जल के कारण इस नाम से प्रसिद्ध हुआ प्रतीत होता है। वह उस समुद्रतट का देश था, जिसका जल क्वाथ के समान था। अतः इस प्रदेश का 'रेड-सी' (Red Sea) के निकट होना उचित है। रेड-सी के किनारे पर अबीसीनिया, अरब, इथ्यूपिया आदि देश अवस्थित हैं, जिनमें जैन धर्म प्रचार के उल्लेख मिलते हैं।[3]

३१ तार्ण उत्तर दिशा का देश था और संभवतः तूरान था।

३२ कार्ण भी उत्तर दिशा को बताया है और यह काफिरिस्तान हो सकता है।

३३ प्राचाल अज्ञात है।

जैन वीर बंकेय

[ले०—श्रीयुत पं० के० भुजबली शास्त्री, विद्याभूषण, भारतीय ज्ञानपीठ, MOODBIDRI.]

विख्यातानुरूप रेवा राजधानी में राष्ट्रकूट-नरेश जगत्तुंग गोविंद न्यायपूर्वक राज्य करता था। गोविंदराज तथा इनकी सुशीला पटरानी गामुंडब्बे का सुपुत्र ही 'कविराजमार्ग' के रचयिता, कविरत्न नृपतुंग हैं। राजा गोविंद के मरणोपरांत कुमार नृपतुंग के निर्बल कंधों पर ही इस विशाल राज्य का शासन-भार आ पड़ा। नृपतुंग ही सुविधानुसार रेवास्थित अपनी राजधानी को दक्षिण के मान्यखेट पर लाये। नृपतुंग विचक्षण, कला-विशारद, सर्वधर्म-समदर्शी एक आदर्श शासक थे। इनकी पतिपरायणा पट्टमहिषी उमादेवी के गर्भ में कुमार कृष्ण एवं चंद्रब्बलब्बे तथा शंखादेवी नामक पुत्रियों का जन्म हुआ। नृपतुंग के राजकार्यों में जैन वीर बंकेय ही पथप्रदर्शक रहे। वीर मुकुल के पुत्र एरकोरि, एरकोरि के पुत्र घोर, घोर के पुत्र वीर बंकेय हैं। बंकेय के प्रपितामह मुकुल शुभतुंग कृष्णराज के, पितामह

1. कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑव इण्डिया, पृ० २१२
2. इंडियन हिस्टॉरीकल क्वारटर्ली, भा० १ पृ० २६
3. भगवान पार्श्वनाथ, पृ० १०३-२०२

एरकोरि शुभतुंग के पुत्र भुवदेव के एवं पिता घोर चक्री गोविंदराज के राजकार्य सारथि थे। बंकेय की अद्वैया माता सती विजयांबा रही। नृपतुंग की बंकेय पर अटूट श्रद्धा थी। यही कारण है कि एक लेख में नृपतुंग ने बंकेय के संबंध में 'वितततज्योतिर्निशितासिरिवापरः' यों स्पष्ट कहा है।

पहले बंकेय नृपतुंग के आप्त सेनानायक के रूप में अनेक युद्धों में विजय प्राप्त कर नरेश के पूर्ण कृपापात्र बनने के फलस्वरूप पीछे वे विशाल बनवासि प्रांत के सामंत बना दिये गये। यद्यपि बाद बंकेय नृपतुंग से कुछ दूर रहने लगे अवश्य। फिर भी नरेश पर उनका वही पहले का भाव था। बल्कि बंकेय का यदा-कदा मान्यखेट में आना-जाना भी बना रहता था। बंकेय के महा-प्रधान गणपति भटार यद्यपि वैदिक मतावलंबी थे। फिर भी बंकेय पर उन्हें अगाध प्रेम था। यह कहना अनुचित नहीं होगा कि नृपतुंग के शासन-काल में मान्यखेट राजधानी में क्रमशः जैन विद्वानों एवं अधिकारियों की संख्या में जो वृद्धि हुई थी उसमें बंकेय का भी हाथ रहा।

एक रोज पुलिगेरे के 'महाजन' के सुयोग्य अध्यक्ष रविकय्य के साथ सिंघण हेग्गडे ने मान्यखेट में बंकेय से भेंट कर गंग राजवर्ग-द्वारा उन्हें पहुंचाये जाने वाले असीम कष्टों का निवेदन कर इन कष्टों से मुक्त करने के लिये चक्रवर्ती को सहायता की प्रबल इच्छा व्यक्त करते हुए इस कार्य में सहयोग देने के लिये बंकेय से प्रार्थना की। सिंघण की करुणकथा से वीर बंकेय का हृदय पिघल गया और उसे आश्वासन देते हुये दूसरे ही दिन प्रातःकाल चक्रवर्ती के दरबार में उन्हें बुलाया। दूसरे दिन नृपतुंग भी सिंघण की इस करुणकथा से विशेष प्रभावित हुआ और इन कष्टों से उन्हें मुक्त करने का गुरुतर भार नरेश ने जैन वीर बंकेय पर लादा। बंकेय नृपतुंग की इस महती आज्ञा को सहर्ष स्वीकार कर वापिस बनवासि लौटते ही गंगराज पर युद्ध के लिये सेना सिद्ध करा कर शुभ मुहूर्त में वहां से चल भी पड़ा।

इसी बीच में बंकेय को चक्रवर्ती नृपतुंग का एक आवश्यक पत्र मिला। उस पत्र में इस बात का संकेत था कि 'गुप्तचरों से अभी-अभी मालूम हुआ है कि युवराज कृष्ण इस समय गंगवाडि में ही मौजूद हैं। वहां के युवराज भूतुग से इनकी घनी मैत्री हो गई है। साथ ही साथ यह भी ज्ञात हुआ है कि कुमारी चंद्रब्बलब्बे का विवाह युवराज भूतुग से करना उन लोगों ने निश्चित कर लिया है। प्रायः इस कार्य में कुमारी चंद्रब्बलब्बे की सम्मति भी ली गई है। अतः आप वहां पर काफी सतर्क एवं सावधानी से काम लेना।'

दूसरे ही दिन प्रातःकाल बंकेय की अजेय सेना बनवासि की सीमा पार कर गई। बाद कई प्रयासों में यह गंगवाडि की सीमा पर पहुंची और वहां से बीच-बीच के गांवों को नय-भयों से अधीन करती हुई सीधी राजधानी की ओर बढ़ी। फलतः एक रोज संध्या के समय सेना ने गंगवाडि के दुर्ग से उत्तर की ओर करीब तीन मील की दूरी पर वर्तमान

विशाल मैदान में अपना पड़ाव डाला। दूसरे दिन प्रातःकाल बंकेय ने अपने एक सुयोग्य कुशल राजकर्मचारी द्वारा गंगराज राजमल्ल के पास इस आशय का एक संदेश कह भेजा कि चक्रवर्ती नृपतुंग से आप के सामंतो ने यह शिकायत की है कि आप उन्हें हर प्रकार से सताते हैं। इस बात की यथार्थता जानने के लिये चक्रवर्ती के द्वारा मैं यहां पर भेजा गया हूं। इसलिये इस समय धर्मानुकूल इसका समाधान करना आप का कर्तव्य है।

परन्तु गंगराज ने इस संदेश को ठुकरा दिया। परिणामतः बंकेय वीरावेश से तत्क्षण अपनी प्रबल वाहिनी के साथ आगे बढ़े। यथाशीघ्र वे जलदुर्ग को लांघ कर किले के अन्दर आ पहुंचे। वहां पर दोनों ओर की सेनाओं में तुमुल युद्ध हुआ। अन्त में गंगराज की सेना हार गई, बंकेय की विजय हुई, गंगराज राजमल्ल बंदी बना दिये गये। बाद युवराज कृष्ण को आगे आना पड़ा और इन्हीं की सम्मति से गंगराज मुक्त कर दिये गये। नृपतुंग से क्षमायाचना के लिये युवराज कृष्ण तथा बंकेय के साथ राजमल्ल गंग युवराज भूतुग, पल्लव नंदिवर्धन को लेकर मान्यखेट राजधानी में चलने को तैयार हुए। ये सब यथासमय मान्यखेट पर पहुंचे और चक्रवर्ती ने उन्हें क्षमा भी कर दिया। इतना ही नहीं, युवराज भूतुग के प्रार्थनानुसार दीर्घकाल से बन्दी किये गये वेंगि के चालुक्य-सामंत गुणगांक विजयादित्य भी छोड़ दिये गए।

इसी समय भरी सभा में नृपतुंग की ओर से वीर बंकेय को उल्लेखनीय इस अमर विजयोपलक्ष्य में कोई अभीष्ट वर मांगने के लिये आज्ञा हुई। इस पर भव्य बंकेय ने सगद्गद राजा नृपतुंग से यह प्रार्थना की कि 'महाराज, अब मेरी कोई भी लौकिक कामना बाकी नहीं रही। अगर आप को कुछ देना ही अभीष्ट है तो कोलनूर में मेरे द्वारा निर्मापित पवित्र जिन मंदिर के लिये—सुचारु रूप से इसके कार्य संचालनार्थ आप एक भूदान प्रदान कर सकते हैं।' बस, बंकेय के इस आशयानुसार उक्त मंदिर के निरीक्षक सैद्धांतिकामणी देवेंद्रमुनि को चक्रवर्ती नृपतुंग की ओर से राष्ट्रपति जयाल्वकं तत्त्वावधान में एक भूदान दिया गया। यह एक विशाल प्रस्तर खंड में अंकित उल्लेख आज भी उपलब्ध है।

स्थालीपुलाक न्याय से विज्ञ पाठक सिर्फ इसी एक दृष्टांत से बंकेय के अटूट धर्मप्रेम को आसानी से परख लेंगे। वास्तव में बंकेय एक अजेय वीर ही नहीं थे; बल्कि एक आदर्श भव्य श्रावक भी। एक सुप्रसिद्ध जैनेतर विद्वान् का कहना है कि दक्षिण भारत के उल्लेखार्ह वीरों में जैन वीर बंकेय का नाम ही प्रथम है। बल्कि इन्हीं के नाम से उसी जमाने में बसा हुआ 'बंकापुर' नामक एक आदर्श नगर का भग्नावशेष पूना-बंगलूर रेलवे लाइन में हुब्बल्लि-हरिहर स्टेशनों के बीच में पाठकों को आज भी मिलेगा।

यद्यपि बंकेय की अमर जीवनी अभी तक गाढांधकार में छिपी पड़ी थी। अब भारतीय ज्ञानपीठ काशी की कर्णाटक-शाखा मूडबिद्री के सफल प्रयत्न से वह शीघ्र ही विज्ञ पाठकों के समक्ष सहर्ष रखी जानेवाली है। कन्नड़ भाषा में तो जीवनी तैयार हो चुकी है। सिर्फ प्रेस में देना बाकी है। हां, इसके हिन्दी अनुवाद में कुछ समय लगेगा अवश्य। पता नहीं है कि ऐसे-ऐसे कितने वीर रत्नों की आदर्श जीवनियां इस प्रकार सघन अंधकार में पड़ी-पड़ी उद्धारक एवं प्रकाशकों की प्रतीक्षा कर रही होंगी। रत्नगर्भा यह भारत माता धन्य है, जिसकी कोख में ऐसे-ऐसे असंख्य वीर रत्न जन्म लेकर अपनी प्यारी माता के मुख को उज्ज्वल कर गये हैं।

स्वप्न और उसका फल

[ले०—श्रीयुत साहित्यरत्न, न्याय-ज्योतिषतीर्थ पं० नेमिचन्द्र जैन शास्त्री, आरा]

(गतांक से आगे)

पाश्चात्य मतानुसार स्वप्न फल

टाट—अगर स्वप्न में फटे, मैले टाट के दर्शन हों तो अनिष्ट होता है और स्वच्छ टाट पर स्वयं को बैठते हुए देखने से धन प्राप्ति होती है। जी० एच० मिलर के मत से लाटरी या सट्टे में बहुत धन एवं स्वादिष्ट भोजन मिलते हैं।

टीन—स्वप्न में टीन के देखने से मित्रों से शत्रुता होती है। टीन में रखी हुई चिकनी वस्तु का दर्शन करने से मिष्टान्न एवं मांस की प्राप्ति होती है तथा अचानक मित्रों से मिलन होता है। टीन का काटना और खाना अनिष्टकर होता है।

तालाब—स्वप्न में तालाब देखने से आशा से अधिक धन की प्राप्ति होती है तथा दो वर्ष बाद विपुल सम्पत्ति की प्राप्ति समझनी चाहिये।

दुग्धालय—स्वप्न में दुग्धालय देखने से अविवाहितों को शीघ्र ही प्रेमिका मिलती है और विवाहितों को सुख-शान्ति मिलती है। किसी-किसी के मत से यह साधारण स्वप्न है, इसका कोई विशेष फल नहीं बताया है।

दुर्घटना—स्वप्न में दुर्घटना देखने से इस बात की चेतावनी मिलती है कि यात्रा करना बन्द कर देना चाहिये, यात्रा तीन महीने तक प्राणान्त करने वाली होती है।

धनदौलत—स्वप्न में स्वयं धन दौलत देखने से प्रकट होता है कि अपने दृढ़ अध्यवसाय से उद्योग में अपरिमित धन की प्राप्ति होगी। दूसरे आदमी को धन प्राप्त करते हुए देखने से ज्वर आने का भय रहता है।

धुँआ—स्वप्न में धुँआ देखना अत्यन्त हानिकारक होता है। इस स्वप्न का फल चिन्ता, भय, प्रेमिका वियोग, धन हानि एवं कार्य-असफलता है।

नट—नाचते हुए नट को स्वप्न में देखने से पिता को कष्ट एवं मित्र की मृत्यु होती है। साधारण रूप से नट को देखने से शुभ फल होता है।

पर्वत—स्वप्न में पर्वत के ऊपर चढ़ना देखना शुभ फल दायक है; शिखर पर चढ़कर ऊपर ही रह जाना देखने से सहस्रों रुपये की आमदनी होती है और नीचे गिरना देखने से बहुत कष्ट होता है तथा व्यापार में सैकड़ों रुपये की हानि होती है।

बाण—स्वप्न में बाण देखने से सुख, आदर, आतिथ्यलाभ एवं त्यौहार आदि में आनन्दोल्लास होता है। रोग, दुःख एवं निराशा का नाश होता है। पुराना टूटा बाण देखने से प्रेम और उद्योग में बाधा आती है तथा प्रेमिका से अपमान सहन करना पड़ता है। बाण चलाना देखने से घरेलू युद्ध होता है।

बालक—स्वप्न में रोते हुए बालक को देखने से बीमारी और निराशा होती है। मतान्तर से पाँच माह की लम्बी बीमारी का सामना करना पड़ता है। तेजस्वी और स्वस्थ बालक को देखने से प्रेम के बदले प्रेम मिलता है तथा मित्रों से बधाइयाँ मिलती हैं। यदि कोई स्त्री स्वप्न में किसी बच्चे का लालन-पालन करती हुई अपने को देखे तो उसे यह समझना चाहिये कि जिस पर वह विश्वास करती है उसीसे ठगी जायगी एवं उसका प्रेमी गुप्त रूप से किसी अन्य के साथ प्रेम करता है जिसका भण्डा-फोड़ शीघ्र ही होने वाला है। मतान्तर से बच्चे के साथ प्रेम करते हुए अपने को देखना सन्तानदायक बताया गया है।

बैल—यदि स्वप्न में सुन्दर श्वेत वर्ण के बैल के दर्शन हों तो दुश्मनों की चालबाजी से अच्छे मित्र रक्षा करते हैं तथा शरीर निरोग रहता है। बैल के साथ क्रीड़ा करते हुए अपने को देखने से पन्द्रह दिन के भीतर लाटरी में धन मिलता है। रुपये, पैसों से बैल की पूजा करना देखने से जमीन के नीचे से धन की प्राप्ति होती है।

भयभीत—स्वप्न में अपने को भयभीत देखने से प्रवास होता है तथा किसी बड़े कार्य में असफलता मिलती है। बन्धुओं और मित्रों से विरोध होता है।

भिक्षा—स्वप्न में क्रुद्ध होकर भिक्षा देना या लेना देखने से निन्दा होती है। प्रसन्नता पूर्वक भिक्षा देना और लेना देखने से तीन दिन आनन्द पूर्वक व्यतीत होते हैं; मतान्तर से यह स्वप्न साधारण है, इसलिये इसका कोई विशेष फल नहीं बताया गया है।

भूखा—स्वयं अपने को स्वप्न में भूखा देखना घर में सुख और सन्तोष के अभाव को प्रकट करता है तथा प्रेमियों के लिये ऐसा स्वप्न देखने पर विवाहोपरान्त शीघ्र ही विवाह विच्छेद होता है। भूखे व्यक्तियों को चारों ओर भ्रमण करते हुए देखने से प्रेमिका का रुष्ट होना प्रकट होता है तथा एक महीने के लिये आर्थिक कष्ट होता है। भूख से अत्यन्त विह्वल होकर भिक्षा मांगते हुए अपने को देखने से भारी विपत्ति आती है। अत्यन्त भूख से पीड़ित होकर रोना-चिल्लाना देखने से किसी बड़े नेता की मृत्यु होती है। जी० एच० मिलर के मत से भूखे मनुष्य का स्वप्न में दर्शन करने से शीघ्र विवाह होता है।

मगर—स्वप्न में मगर देखने से युद्ध क्षेत्र में १० दिन के बाद जाना पड़ता है। यदि भूखा मगर खाने को दौड़ता हुआ दृष्टिगोचर हो तो भयङ्कर बीमारी आती है। मगर के साथ क्रीड़ा करते हुए देखने से नाना प्रकार की विपत्तियों का सामना करना पड़ता है।

मछली—स्वप्न में मछली का दर्शन शुभ फलदायक होता है। यदि पानी में तड़फड़ाती हुई मछली का दर्शन स्वप्न में हो तो हानि; मछली बेचनेवाले की दुकान पर दर्शन हो तो लाभ और रास्ते में ले जाते हुए अन्य व्यक्ति को देखने से कार्य में सफलता मिलती है। मतान्तर से मछली का स्वप्न विवाह का सूचक है, पर इस स्वप्न में दो मछलियों के दर्शन अपेक्षित हैं।

मवक्किल—स्वप्न में मवक्किल के देखने से घर में सन्तान लाभ होता है। यदि रुपये देते हुए किसी मवक्किल को वकील से बातें करते हुए देखे तो अपमान और धन हानि होती है। साधारणतया मवक्किल का स्वप्न शुभ फलप्रद होता है।

मवेशी—स्वप्न में मवेशी देखने से भाई की उन्नति होती है। यदि मवेशी स्वप्न में बीमार दिखलाई पड़े तो बड़े पुत्र की बीमारी की सूचना समझनी चाहिये। गाय, हाथी, घोड़े आदि पालतू मवेशी के देखने से श्रेष्ठ फल होता है।

मशान—स्वप्न में मशान भूमि के दर्शन हों तो घर में होने वाली कलह की सूचना समझनी चाहिये। यदि मशान भूमि में अधिक मनुष्यों की भीड़ दिखलाई पड़े तो घर में उत्सव होता है।

मसजिद—स्वप्न में मसजिद देखने से धार्मिक कार्यों में उत्साह होता है। यदि रंगीन, बेलबूटों से चित्रित मसजिद स्वप्न में दिखलाई पड़े तो किसी बड़ी भारी विपत्ति की सूचना समझनी चाहिये।

मस्तक—यदि स्वप्न में मस्तक में दर्द हो तो शारीरिक कष्ट की सूचना समझनी चाहिये। आधे मस्तक में दर्द का अनुभव हो तो आगामी विपत्ति की सूचना समझनी चाहिये।

माता—स्वप्न में आदर्श माँ के दर्शन हों तो कार्य में सफलता मिलती है और माता के साथ वार्तालाप हो तो युद्ध में विजय, लाटरी से धन लाभ होता है। यदि माता मस्तक पर हाथ रख कर कुछ आदेश दे तो वह यथार्थ निकलता है।

माला—स्वप्न में सुन्दर माला के दर्शन हों तो कामिनियों के दर्शन, आलिंगन और वार्तालाप का सुख प्राप्त होता है। माला धारण करने से विवाह शीघ्र होता है, नये उत्सवों में जाना पड़ता है। यदि कोई अपने गले की माला उतार कर दूसरे को अर्पित करे तो १० महीने के भीतर मृत्यु की सूचना समझनी चाहिये। मुरझाई हुई माला का दर्शन बीमारी की सूचना देता है।

मुद्रा—स्वप्न में मुद्रा का दर्शन विपत्ति सूचक है। यदि किसी स्थान से अकस्मात् बहुत-सी मुद्राएँ प्राप्त होने का स्वप्न आवे तो युद्ध क्षेत्र में जाने का निमंत्रण समझना चाहिये। मुद्रा बनाते हुए स्वयं को देखे तो प्रेमिका मिलन और अन्य को देखे तो तलाक जानना चाहिये।

मोती—स्वप्न में मोती का दर्शन व्यापार में लाभकारक होता है। यदि मोतियों की माला धारण करने का स्वप्न आये तो किसी जासूसी कार्य में सफलता की सूचना समझनी चाहिये। समुद्र के किनारे से मोतियों के निकालने का स्वप्न आवे तो घर में सन्तान उत्पत्ति समझनी चाहिये।

यन्त्र—यदि स्वप्न में यन्त्र दिखाई पड़े तो किसी मशीनरी के कार्य में बड़ी भारी सफलता समझनी चाहिये। देश-विदेशों से व्यापारिक सम्बन्ध बढ़ता है। किसी प्रयोगशाला में जाकर यंत्रों के आविष्कार का स्वप्न दिखाई पड़े तो स्वप्न द्रष्टा विज्ञान की उन्नति के साथ-साथ रासायनिक और वैज्ञानिक यंत्रों का आविष्कारक होता है। जड़ विज्ञान के अतिरिक्त विद्युत-आलोक और जल के सम्बन्ध में पदार्थ ज्ञान घातक यन्त्रों का श्रेष्ठ आविष्कर्ता

बनता है। यंत्र से काम करते हुए स्वयं को देखने से धन प्राप्ति और अन्य को देखने से मित्र समागम होता है। मतान्तर से यन्त्र संचालन का स्वप्न शीघ्र विवाह का सूचक है।

यहूदी—यदि स्वप्न में यहूदी जाति के लोग अपनी प्राचीन भाषा हिब्रु में बातचीत करते हुए दिखाई पड़ें तो उनकी भाषा की उन्नति की सूचना समझनी चाहिये। मतान्तर से इस स्वप्न का फल किसी भी प्राचीन भाषा का उन्नति द्योतक है। यहूदी युवति से स्वप्न में प्रेम करते हुए स्वयं को देखे तो सुन्दर, स्वस्थ और सुशिक्षित अपनी जाति की कन्या से विवाह और अन्य को प्रेम करते देखे तो सुन्दर स्त्री—दो बार विवाह की गई युवति से विवाह होता है। इस स्वप्न का फल तीन महीने के बाद और पाँच महीने के पहले मिलता है।

यात्रा—यदि स्वप्न में किसी स्थान के लिये यात्रा करते हुए देखे तो युद्ध और मुकदमे में विजय होती है। यदि यात्रा के लिए सब सामान तैयार कर चलने की तैयारी करते हुए अपने को देखे तो व्यापार में लाभ, युद्ध में विजय और प्रियजनों से मिलन होता है। यात्रा की तैयारी नहीं हुई, किन्तु यात्रा करने के लिये यदि उत्सुकता स्वप्न में दिखाई पड़े तो कालान्तर में यात्रा करनी पड़ती है। यदि साथ में कुछ मित्र और पूज्य लोग यात्रा करते हुए दिखाई पड़ें तो तीन महीने के भीतर किसी पवित्र स्थान के लिये यात्रा करनी पड़ती है, इस यात्रा में धन-धान्य के लाभ के साथ और भी अनेक प्रकार की सुन्दर वस्तुएँ मिलती हैं। मतान्तर से इस स्वप्न का फल जुआ या लाटरी से धन लाभ कराने वाला बताया गया है।

युद्ध—यदि स्वप्न में युद्ध करते हुए अपने को देखे तो शीघ्र ही युद्ध के लिये प्रस्थान करना पड़ता है। मल्लयुद्ध के स्वप्न का फल विजयोत्पादक और अस्त्र युद्ध के स्वप्न का फल कष्ट के साथ विजयदायक होता है। युद्ध क्षेत्र में हाथी घोड़े और बन्दूकों की भयङ्कर आवाज सुनाई पड़े तो स्वामी की विजय और सुनसान क्षेत्र दिखाई पड़े तो पराजय समझनी चाहिये।

योगी—यदि स्वप्न में किसी योगी के दर्शन हों तो धार्मिक भावों की जाग्रति, धन एवं प्रिय वस्तुओं की प्राप्ति होती है। यदि योगी से बातचीत करते हुए अपने को देखे तो सुन्दर वस्तुएँ उपयोग के लिये मिलती हैं, तथा मनोरंजन की सामग्री की प्राप्ति होती है। ध्यानस्थ योगी के दर्शन करने से लौकिक कार्यों में सफलता मिलती है। यदि स्वप्न में योगी का उपदेश सुनाई पड़े तो यश प्राप्ति तथा प्रेमिका मिलन होता है।

रक्त—यदि अपने शरीर से रक्त निकलता हुआ स्वप्न में दिखाई दे तो दैनिक कार्यों में व्यतिक्रम एवं अन्य के शरीर से रक्त निकलता हुआ दिखाई पड़े तो दैनिक कार्य सुचारु रूप से सम्पन्न होते हैं। साधारणतया रक्त दर्शन का स्वप्न अच्छा होता है। मतान्तर से रक्त के दर्शन होने से रोग की सूचना समझनी चाहिये।

रंग—स्वप्न में रंगों के देखने से अपमान होता है। साधारणतया हरे रंग का दर्शन स्वप्न में सम्मान सूचक बताया गया है। रंग के स्वप्न का सम्बन्ध मानापमान से है।

रोना—स्वप्न में अपने को रोते हुए देखने से तीन महीने के भीतर अकस्मात् चोट लगती है। और दूसरे को रोते हुए देखने से किसी निकट सम्बन्धी को भयङ्कर बीमारी होती है जिससे उसे बहुत कष्ट होता है। स्वप्न में बच्चे को रोते हुए देखने से सन्तति कष्ट और वृद्ध को रोते हुए देखने से कुटुम्बियों को कष्ट होता है।

ललितकला—यदि स्वप्न में अपने को ललित कलाओं—वास्तु, मूर्त्ति, चित्र, काव्य और संगीत कलाओं का निर्माण करते हुए देखे तो कुछ समय के बाद अच्छा कलाकार होता है। कलाकार के लिये यह अत्यावश्यक है कि वह स्वप्न में अभीष्ट कला के दर्शन करे। प्राचीन स्वप्न सिद्धान्त के अनुसार अदृश्य शक्ति कलाकार को भविष्य की सूचना देकर कलाविद् होने के लिये प्रेरित करती है।

लीथो—यदि स्वप्न में लीथो—पत्थर का छापा जिस पर हाथ से लिख कर अक्षर या चित्र छापे जाते हैं, दिखाई पड़े तो मनुष्य कम्पोजीटर या प्रेस संचालक बनता है। इस स्वप्न का फल तभी सत्य होता है जब लगातार दस-बारह दिन तक आता रहे।

लुटिया—यदि स्वप्न में जल से भरी हुई लुटिया के दर्शन हों तो कहीं शीघ्र यात्रा करनी पड़ती है, जिसमें नाना प्रकार के कष्ट सहन करने पड़ते हैं। मतान्तर से जल-भरी लुटिया का दर्शन लाटरी से धन प्राप्त करने की सूचना देना है।

लुहार—यदि स्वप्न में काम करते हुए लुहार को देखे तो वायुयान के कारखाने में काम करने की सूचना समझनी चाहिये। साधारणतया यह स्वप्न सैनिक बनने की सूचना देता है।

लूता—यदि स्वप्न में लूता—मकड़ी काटती हुई दिखाई पड़े तो भयानक रोग होता है। मतान्तर से कोई विद्वेषी दर्शक को विषपान कराता है।

लोह—यदि स्वप्न में लोहा दिखलाई पड़े तो तीन महीने के बाद सुवर्ण की प्राप्ति समझनी चाहिये। लोहे के अस्त्र तथा लोहे की अन्य चीजों के दर्शन हों तो देश के ऊपर किसी प्रकार की विपत्ति की आशंका समझनी चाहिये।

वनगज—यदि स्वप्न में वनगज दिखाई पड़े तो घर में सन्तान की उत्पत्ति होती है। यदि मदोन्मत्त वनगज इधर-उधर भागता हुआ दिखाई पड़े तो गर्भ-स्राव हो जाता है। साधारणतया गज के दर्शन स्वप्न में श्रेष्ठ होते हैं।

वनलता—यदि स्वप्न में वनलताएँ हरी-भरी दिखलाई पड़ें तो दो-तीन महीने के भीतर अपरिमित धन मिलता है तथा घर में कन्या रत्न की प्राप्ति होती है। वाटिका की लताओं का यह फल नहीं होता।

वनस्पति—यदि स्वप्न में वनस्पतियों के दर्शन हों तो माली का कार्य करना पड़ता है। हरी-भरी वनस्पतियों के दर्शन प्रेमिका से मिलाने वाले होते हैं।

वर्षा—स्वप्न में पानी की मूसलाधार वृष्टि होते हुए दिखाई पड़े तो व्यापार में लाभ, घरेलू कार्यों में झगड़ा और मित्रों से वियोग होता है।

सस्य—यदि स्वप्न में सस्य दिखाई पड़े तो अपने कार्य की उन्नति समझनी चाहिये।

सिंह—स्वप्न में सिंह के देखने से बल, प्रताप और पौरुष की वृद्धि होती है। युद्ध क्षेत्र में शत्रुओं के दाँत खट्टे करने योग्य सामर्थ्य मिलती है। मतान्तर से प्रतापी सन्तान की उत्पत्ति होती है।

पौर्वात्य और पाश्चात्य स्वप्न-सिद्धान्त की तुलना

यदि तुलनात्मक दृष्टि से पौर्वात्य और पाश्चात्य स्वप्न सिद्धान्तों के ऊपर दृष्टिपात किया जाय तो अवगत होगा कि पौर्वात्यों के मतानुसार प्रतीक कल्पना ही सब कुछ है, पर पाश्चात्यों ने प्रतीक कल्पना के अतिरिक्त इच्छाओं की स्वतन्त्रधारा के कारण अतृप्त इच्छाओं के उदय को भी स्वप्न बताया है, इसलिये जिस प्रकार की इच्छा स्वप्न में दिखलाई पड़ती है, उस इच्छा जनित फल भी घट सकता है। जिन इच्छाओं को सार्थकता मिल चुकी है, यदि वे ही इच्छाएँ पुनः स्वप्न में आयें तो स्वप्न निरर्थक होते हैं। इसलिये पाश्चात्य गणकों ने अधिकांश रूप से अनिरंजित इच्छाओं को ही स्वप्न बताया है, अतः जागृतावस्था में भी स्वप्न सन्तति चल सकती है। लेकिन जागृतावस्था की इच्छाएँ संज्ञात इच्छा के आधीन रहने से फलोत्पादक नहीं होती हैं, क्योंकि रुद्ध या अवदमित इच्छाएँ संज्ञात-इच्छा के द्वारा शासित की जाती हैं, अतएव जागृतावस्था की विचारधारा स्वप्न रूप में चलती रहती है, किन्तु इच्छाओं की अनेक रूपता के अभाव में निस्सार होती है। पौर्वात्य स्वप्न-सिद्धान्त के अनुसार जागृतावस्था की विचार सन्तति को स्वप्न का रूप नहीं दिया जा सकता है, क्योंकि इस सिद्धान्त में जागृत, सुषुप्त और स्वप्न ये तीन व्यक्ति की अवस्थाएँ बतलाई गई हैं। व्यक्ति केवल स्वप्नावस्था में ही स्वप्न देखता है, क्योंकि यह अवस्था जागृति और सुषुप्ति के मध्य की है, इसमें चैतन्य रूप इन्द्रियजन्य ज्ञान अर्द्ध जागृत रहता है अतः स्वप्न सम्बन्धी क्रियाएँ इसी अवस्था में हो सकती हैं। इसीलिये भारतीय सिद्धान्त के अनुसार सभी स्वप्नों का फल एक सदृश नहीं हो सकता है। जिस व्यक्ति की आत्मा जितनी अधिक विकसित, पवित्र और उज्ज्वल होगी, स्वप्न का फल भी उतना ही अधिक सत्य निकलेगा। क्योंकि जो व्यक्ति दुराचारी होगा, वह निरन्तर नाना प्रकार की चिन्ताएँ करता ही रहेगा, अतः स्वप्न में उनका आना स्वाभाविक है। शारीरिक अस्वस्थता के कारण जो स्वप्न आते हैं, वे भी निरर्थक ही होते हैं क्योंकि बीमारी की स्वप्नावस्था दूषित रहती है, उसकी इन्द्रिय जन्य ज्ञानधारा अधूरी रहती है। अतः पौर्वात्यों के मत में जागृतावस्था में स्वप्न सन्तति बन नहीं सकती है। पौर्वात्य और पाश्चात्यों के स्वप्न फल में भी अन्तर है, क्योंकि पौर्वात्यों ने आत्मा एवं पुनर्जन्मादिका

अस्तित्व माना है, अतः बहुत-से स्वप्न जन्म-जन्मान्तरार्जित संस्कारों के कारण ही आते हैं, इन स्वप्नों में इच्छाओं की अनेकरूपता कारण नहीं रहती है, किन्तु अदृष्ट या संस्कार ही कारण होते हैं। पाश्चात्यों ने शरीर को एक यन्त्र के समान माना है जिसमें किसी भौतिक घटना या क्रिया का उत्तेजन पाकर प्रतिक्रिया होती है। स्वप्न भी ज्ञानधारा की क्रिया-प्रतिक्रिया के कारण आते हैं, इनका सम्बन्ध संस्कारों से कुछ भी नहीं है. जैसे जड़ मशीन चलते चलते कभी मन्द और कभी तेज चलने लगती है, ठीक इसी प्रकार बाह्य कारणों से प्रभावित होकर शरीर की क्रियाएँ कभी मन्द और कभी तेज होती हैं। क्रियाओं की मन्दावस्था का नाम स्वप्नावस्था एवं वेगावस्था का नाम सचेतनावस्था—जागृतावस्था है। फ्रायड के मतानुसार मनुष्य का संचालन करनेवाली शक्तियाँ विशुद्ध प्रवृत्ति मूलक हैं, जो उसे सर्वदा पूर्णरूप से बाह्याभ्यन्तर प्रभावित करती रहती हैं। मनुष्य के व्यक्तित्व का अधिकांश भाग अचेतन मन के रूप में है, जो प्रवृत्तियों का भाण्डार है। इन प्रवृत्तियों में मुख्य रूप से काम की और गौणरूप से विभिन्न प्रकार की वासनाएँ संघटित रहती हैं। इन महासमुद्रीय वासनाओं में कुछ तो तृप्त हो जाती हैं, और कुछ अतृप्त रहती हैं, अतः वे ही अतृप्त वासनाएँ विभिन्न रूप धारण कर स्वप्न के रूप में आती हैं।

इस सिद्धान्त के अनुसार बुद्धि भी मनुष्य की प्रवृत्ति का एक प्रतीक है, इसके द्वारा व्यक्ति अपनी कामनाओं को सफल करता रहता है। चेतन मन नाना प्रकार की कामनाओं को उत्पन्न करता है, वे कामनाएँ बुद्धि द्वारा चरितार्थ की जाती हैं। किन्तु बुद्धि कैसी ही प्रचण्ड और अभिनव क्यों न हो, एक निमित्त मात्र हैं, अतः समस्त वासनाएँ बुद्धि द्वारा औचित्य सिद्ध नहीं कर पाती हैं, क्योंकि जब प्रवृत्ति ही बुद्धि की प्रेरणात्मिका शक्ति है, तब उसकी वह दासी सारी वासनाओं को चरितार्थ करने में असमर्थ रहती है। अतः स्वप्न द्वारा वे समस्त अतृप्त वासनाएँ पूर्ण की जाती हैं। पौर्वात्य सिद्धान्त में वासनाओं की तृप्ति के के लिये केवल स्वप्न नहीं आते, किन्तु आत्मा का प्रतिबिम्ब शरीरस्थ चन्द्रमण्डल में पड़ने से स्वप्नावस्था में अधिक चंचलता रहती है इसीसे आत्मिक क्रियाएँ अधिक तेजी से होती हैं, फलतः स्वप्न अनेक रूप में परिणत हो जाते हैं। भारतीय ज्योतिष शास्त्र के अनुसार शरीर में एक सौर मण्डल रहता है। तथा जिस प्रकार आकाशस्थ सौर-मण्डल भ्रमण करता है, ठीक उसी प्रकार प्रत्येक व्यक्ति का सौर-मण्डल भ्रमण करता है। व्यक्ति जब पैदा होता है, तब उसके उत्पत्ति काल की लग्न ही उसके शरीर के सौर-मण्डल की लग्न होती है, इसीलिये ज्योतिष-शास्त्र सम्बन्धी फलादेश दो-तीन वर्ष की आयु तक ठीक नहीं घटता है, क्योंकि तब तक बच्चे के शरीर का सौर-मण्डल स्वतन्त्र रूप से भ्रमण नहीं कर सकता है। इसका प्रधान कारण यह है कि इस समय तक बच्चे का स्वतन्त्र रूप से विकास नहीं होता है; उसका रहन-सहन दूसरों के ऊपर आश्रित रहता है अतः चार वर्ष की अवस्था के बाद ही ठीक फल घटता है। स्वप्न के फल में विशेषता इसी सौर-मण्डल के कारण होती है। जैन ग्रन्थ ज्ञानप्रदीपिका

के स्वप्नकाण्ड में लग्नानुसार[1] स्वप्नों का फल बताया गया है, इसका प्रधान कारण मेरी समझ से यही है कि शरीरस्थ सौर-मण्डल की आकाश गामी सौर-मण्डल के साथ तुलना कर क्रान्ति वृत्तीय लग्नों की समानता स्थिर की गई है। ज्ञानप्रदीपिका का स्वप्न सम्बन्धी प्रकार योग शास्त्र के शरीरस्थ सौर-मण्डलीय प्रकार से मिलता-जुलता है। आचार्य ने इसी लिये "चतुर्थभवनात् स्वप्नं ब्रूयात् ग्रहनिरीक्षकः" इस पद्य में चतुर्थ भवन को प्रधानता दी है। सारांश यह है कि जहाँ पाश्चात्य स्वप्न सिद्धान्त में केवल अचरितार्थ बौद्धिक प्रवृत्तियों को स्वप्न का कारण बताया है, वहाँ पौर्वात्य सिद्धान्त में आत्मा के चन्द्रमण्डलीय प्रतिबिम्ब को कारण माना है। यह प्रतिबिम्ब सर्वदा, सब के लिये एक समान नहीं होता, बल्कि आत्मा की अशुद्ध अथवा विशुद्ध अवस्था के अनुसार घटित होता है, यही स्वप्न की सत्यासत्य अवस्थाओं के होने का कारण है। दूसरी विशेषता पौर्वात्य और पाश्चात्य स्वप्नों के फल में अपनी-अपनी संस्कृति की भी है। इसी कारण कई स्वप्नों के फल पाश्चात्य साहित्य में स्वादिष्ट मांस भोजन, मदिरा सेवन, प्रेमिका संगम और तलाक आदि बताये गये हैं, लेकिन पौर्वात्य स्वप्नों के फल में मांसादि का सेवन कहीं नहीं बताया है। संस्कृति की भिन्नता के कारण स्वप्नों के फल में जमीन आसमान का अन्तर पड़ गया है। एक ही वस्तु के दर्शन का फल दोनों सिद्धान्तों के अनुसार पृथक्-पृथक् होगा, पश्चात्य सिद्धान्त में इस फल भिन्नता का कोई भी कारण नहीं बताया है, लेकिन भारतीय स्वप्न सिद्धान्त के अनुसार स्थान विशेष के कारण सौर-मण्डल में अक्षांश, देशान्तर वश अन्तर पड़ जाता है, अतः एक विदेशी का स्वप्न एक भारतीय के स्वप्न की अपेक्षा भिन्न फलदायक होगा। इच्छा अतृप्ति के सिद्धान्तानुसार स्वप्न निरर्थक होते हैं, पर सौर-मण्डलीय सिद्धान्त के अनुसार स्वप्न प्रायः सार्थक होते हैं। यहाँ प्रायः शब्द से मेरा तात्पर्य यह है कि आत्मा की विशुद्ध और अशुद्ध अवस्था वश चन्द्रमण्डल में पड़ने वाले प्रतिबिम्ब में हल्कापन और घनीभूतपन जितना अधिक या कम रहता है फल में भी वैसी हीनाधिकता होती जाती है। प्रतिबिम्ब जितना अधिक चंचल होता है, स्वप्न उतने ही अधिक निस्सार होते हैं। जिस आत्मा का स्थिर प्रतिबिम्ब चन्द्रमण्डल पर पड़ता है उसके स्वप्नों का फल सत्य निकलता है।

स्वप्नोत्पादक कारणों के अतिरिक्त कारण संख्या सम्बन्धी तीसरी विशेषता भी है। पाश्चात्य *जगत् स्वप्नोत्पत्ति का एक कारण नहीं मानता, किन्तु विभिन्न वैज्ञानिकों के मतानुसार*

१—स्वप्ने यानि च पश्यन्ति तानि वक्ष्यामि सर्वदा। शिरोदये देवगृहं प्रासादादीन् प्रपश्यति ॥
पृष्ठोदये दिनाधीशे विधौ मानुष्यदर्शनम्। मेषोदये दिनाधीशे ज्ञातदेहस्य दर्शनम् ॥
वृषभस्योदयेऽर्कारौ व्याकुलान्मृतदर्शनम्। मिथुनस्योदये विप्रान् तपस्विवदनानि च ॥
कुलीरस्योदये क्षेत्रं शस्यं दृष्ट्वा पुनर्गृहम्। तृणान्यादाय हस्ताभ्यां गच्छन्तीति विनिर्दिशेत ॥
सिंहोदये किरातश्च महिषीं गिरिपन्नगम्। कन्योदयेऽपि चारुढे मुग्धकांकन्यकावधूः ॥
—ज्ञानप्रदीपिका पृ० ४४

कारणों की भिन्नता स्वीकार की गई है। लेकिन भारतीय साहित्य में स्वप्नोत्पादक कारणों की भिन्नता नहीं है। प्रायः सभी विचारक एक ही निष्कर्ष पर पहुंचते हैं। चौथी विशेषता दार्शनिक दृष्टि से आत्मतत्त्व के विषय में विचार करने के कारण चैतन्य और भौतिकवाद सम्बन्धी है। पाश्चात्य लोग स्वप्नोत्पत्ति का कारण भौतिक ही मानते हैं, तथा उसका फल भी भौतिक शरीर पर ही पड़ता है, अतः उसका संस्कार आगे के लिये नाम मात्र को भी शेष नहीं रहता है। लेकिन पौर्वात्य सिद्धान्त में आत्मा की अमरता मानी गई है, इसके साथ जन्म-जन्मान्तर के संस्कार चलते रहते हैं। आत्मा भौतिकता से परे ज्ञान, दर्शन, सुख एवं वीर्य स्वरूप है तथा संस्कार जड़ हैं किन्तु वे अनादिकाल से आत्मा से संबद्ध हैं, आत्मा और संस्कार इन दोनों का आपस में अति निकट संयोग है, पर स्वभाव-दृष्टि से दोनों पृथक-पृथक् हैं। इन्हीं संस्कारों के कारण हमारे शरीर के सौर-मण्डल का संचालन होता है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि व्यक्ति का जैसा शुभाशुभ अदृष्ट होता है, वैसे ही सुख, दुःख उसे मिलते हैं। अतः स्वप्न भी उसके अदृष्ट की प्रेरणा से ही आते हैं। अदृष्ट की इसी प्रेरणा के कारण नाना प्रतीक स्वप्न में दृष्टिगोचर होते हैं। कभी-कभी यह भी दिखलाई पड़ता है कि जैसा हम स्वप्न में देखते हैं, वैसा ही फल शीघ्र घटता है। इसका कारण यह है कि ऐसे व्यक्ति की आत्मा स्वप्न देखने के समय अधिक विशुद्धावस्था में थी, इसलिये आत्मा का प्रतिबिम्ब स्थिर रूप में रहा। जब प्रतिबिम्ब चंचल रहता है उसी समय अधिक संकल्प-विकल्प उत्पन्न होते हैं जिससे प्रतीकों की एक श्रेणी बन जाती है और स्वप्न भी प्रतीकों के रूप में दिखलाई पड़ने लगते हैं। भारतीय ज्योतिष-शास्त्र में जो प्रातःकाल के स्वप्नों को सत्य फलदायक बताया गया है, उसका कारण भी यही है कि प्रातःकाल के समय सौर-मण्डल की गति स्वभावतः स्थिर हो जाती है, अर्थात् रात के १० या ११ बजे से लेकर रात्रि के २-३ बजे तक शरीरस्थ सौर-मंडल की गति में एक रूपता नहीं रहती है, कभी वह तीव्र और कभी मन्द होती है जिससे प्रतिबिम्ब में चंचलता रहती है फलतः स्वप्न भी निरर्थक हो जाते हैं। तात्पर्य यह है कि पाश्चात्य स्वप्न सिद्धान्त का सम्बन्ध केवल शरीर से और पौर्वात्य का सम्बन्ध आत्मा से है। इसी कारण वेदान्त में जागृत, स्वप्न, सुषुप्त और तुरीय ये चार जीवात्मा की अवस्थाएँ मानी गई हैं। जैन दर्शन के अनुसार दर्शनावरणी कर्म के क्षयोपशम की हीनाधिकता से स्वप्न के फलों में भी हीनाधिकता आती है। स्वप्नोत्पत्ति का कारण पूर्वोपार्जित अदृष्ट ही है, जिन स्वप्नों में शारीरिक विकार प्रधान कारण होते हैं वे निरर्थक और जिनमें अदृष्ट कारण होता है वे सार्थक होते हैं।

(समाप्त)

मदन-काम-रत्नम्

[ले०—श्रीयुत पं० रामनाथ पाठक 'प्रणयी' आयुर्वेद-व्याकरण-साहित्याचार्य, डुमरांव]

इस ग्रन्थ के रचयिता आचार्य पूज्यपाद हैं। आप अनेक विषयों के विद्वान् होने के साथ-साथ आयुर्वेद के भी प्रकाण्ड विद्वान थे। प्रस्तुत ग्रन्थ के अवलोकन से आपकी आयुर्वेद विषयक विद्वत्ता का पता सहज में ही लग जाता है। यों तो इस ग्रन्थ के कई प्रयोग अन्य ग्रन्थों से मिलते जुलते हैं, पर इसकी निजी विशेषता भी है। इसमें १११ अनुपम उत्तमोत्तमवाजीकरण के सहायभूत १५ सेक-लेपादि भी संकलित हैं। इस तरह सब मिलकर १२६ योग एक-सौ-छब्बीस रत्नों की तरह ग्रन्थ की शोभा बढ़ा रहे हैं। अष्टाङ्ग-आयुर्वेद का यह आठवां अङ्ग वाजीकरण तन्त्र भी आयुर्वेद के लिये सर्वथा एक बहुत बड़ा महत्त्व रखता है। आज आयुर्वेद में जितने भी रस ग्रन्थ उपलब्ध हैं, उनमें एक ही जगह इसके सभी अङ्गों पर पूर्णतः प्रकाश डाला गया हो, ऐसा एक भी नहीं। उसमें भी वाजीकरण तन्त्र तो सर्वत्र केवल नाम गिनाने पर्यन्त ही दृष्टिगोचर होता है। 'मदन-काम-रत्नम्' की यह सब से बड़ी विशेषता है कि इसे आद्योपान्त पढ़ लेने पर वाजीकरणयोगों के लिये पुनः अन्यत्र मृगमरीचिका भ्रान्त होने की आवश्यकता नहीं पड़ेगी। बल्कि तृप्ति की पराकष्ठा से हृदय नाच उठेगा। यहाँ आप उनमें से कतिपय योगों का निदर्शन देख स्वयं अनुमान लगा सकते हैं।

कामदेव रस

सूतं गन्धं कान्तभस्मापि तुल्यं यामं तोयैः शाल्मलीमम्भवोत्थैः,
गोलं कृत्वा वेष्टयित्वाऽथ माषैराज्ये पक्त्वा काचकूप्यां निधाय।
भूकुष्माण्डं नागवल्लीभव पिष्ट्वा तोयं दद्याद्गाविमेकां प्रयत्नात्,
सिद्धः सूतः कामदेवोऽस्य वल्लं मध्वाज्याभ्यां योजयेत्त्रिमासम्।
खण्डं दुग्धं चानुपाने च दद्यात् रात्रौ दुग्धं शक्तिमानेन देयम्,
तिक्तं रूक्षं वर्जयित्वातिचाम्लं पेयं नित्यं शाल्मली तोययुक्तम्।
खण्डं धात्रीवानरीमूलदुग्धं पुष्टिवीर्यं जायते तत्प्रभूतम्,
कुर्यान्नित्यं रम्यकान्ताविनोदं कृत्वा दिव्यं कामदेवं रसेन्द्रम्।

शुद्ध पारद, शुद्ध गन्धक, कान्त-भस्म इन तीनों को समान लेकर सेमल की छाल के रस (रस के अभाव में क्वाथ) से मर्दन कर गोला बनावे और उसे उड़द के गुँधे हुये आटे से परिवेष्टित कर घी में तब तक पकावे जब तक आटे का रंग लाल हो जाय। पुनः उसे आटे से निकाल कर भूकुष्माण्ड और पान के रस के साथ आतशी शीशी में डालकर लघु बालुका यन्त्र में रात्रिपर्यन्त पकावे। पीछे प्रातःकाल गोले को शीशी से निकाल, पोंछकर सुरक्षित रखे। यही सिद्ध 'कामदेव रस' हुआ।

मात्रा :—३ रत्ती।

अनुपान :—मिश्री की चासनी और घी के साथ मिश्रित कर खाने के पश्चात् खाँड मिला हुआ दूध पिये। और भी रात में जितना दूध पी सके उतना, सेमल का स्वरस अथवा आँवला और केवाँच की जड़ का बारीक चूर्ण मिला हुआ, पिये। रस सेवन काल में तिक्त, रुक्ष और अम्ल पदार्थों का पूर्ण परित्याग कर दे। इस तरह यह क्रम ११ दिन तक व्यवहृत रखे।

[यह योग नित्यनाथ विरचित 'रसरत्नाकर', विष्णु पण्डित विरचित 'रसराजलक्ष्मी', 'रस मुक्तावली', शालिग्राम संग्रहीत धन्वन्तरि', और आनन्दानुभव विरचित 'रसदीपिका' में भी मिलता है। किन्तु 'रस दीपिका' में 'मदन कामदेव, नाम से यह रस पाया जाता है।]

कामेश्वर मोदक

सम्यङ्मारितमभ्रकं कटुफलं कुष्ठाश्वगन्धामृताः,
मेथीमोचरसो विदारिमुशली गोकण्टकेक्षुरकाः।
रम्भाकन्दशतावरीत्यजमुदा माषास्तिला धान्यकम्।
यष्टी नागबलाकचोरमदनं जातीफलं सैन्धवम्।
भार्गी-कर्कट-शृङ्गि-भृङ्ग-त्रिकटु द्वे जीरके चित्रकम्,
चातुर्जात-पुनर्नवे गजकणा द्राक्षा शठी वानकः।
शाल्मल्यङ्घ्रि फलत्रिकं कपिभवं बीजं समं चूर्णयेत्—
चूर्णांशा विजया, सिता द्विगुणिता, मध्वाज्यमिश्रं तु तत्।
कर्षार्धां वटिकां विलेह्यमथवा कृत्वा सदा सेवयेत्,
पेया क्षीर-सिताऽनुवीर्यकरणे स्तम्भेऽप्यलं कामिनाम्।
श्यामावश्यकरः समाधिसुखदः सङ्गेऽङ्गनाद्रावकः,
क्षीणे पुष्टिकरः, क्षय-क्षयकरः, नानामयध्वंसकः।
कासश्वासमहातिसारशमनः, मन्दाग्निसन्दीपनः,
ह्यर्शांसि ग्रहणीप्रमेहनिचयश्लेष्मातिसारप्रणुत्।
नित्यानन्दकरैर्विशेषकविताबार्ता विलासोद्भवः,
दत्ते सर्वगुणान् महास्थिरदशा ध्यानावसाने भृशम्—
अभ्यासेन निहन्ति मृत्युपलितं कामेश्वरो वत्सरात्।
सर्वेषां हितकारको निगदितः श्रीनित्यनाथेन वै।
वृद्धानामपि कामवर्द्धनकरः प्रौढाङ्गनासङ्गमे,
सिद्धोऽयो नववत्सवमोघ-सुखदो भूपैः सदा सेव्यताम्।
इत्येतदुक्तं बहुवीर्यवर्द्धनं रात्रौ सदा क्षीरसितासमन्वितम्।
भुक्तोत्तरं सेवितमाशुकामिनां विदग्धरामाकुलवश्यकारकम्।

निश्चन्द्र अभ्रक-भस्म, कायफल, कूठ, असगन्ध, गिलोय, मेथी, मोचरस, विदारीकन्द, मुसली, गोखरू, तालमखाना, केले का कन्द, शतावर, अजमोद, उड़द, तिल, धनियाँ, मुलहठी, नागवला कचूर, मदनफल, जायफल, सैन्धव, भारङ्गी, काकड़ासिंगी, भाँगरा, त्रिकटु, (सोंठ, मिर्च, पीपल) श्वेत जीरा, श्यामजीरा, चित्रक, तज, पत्रज, इलायची, नागकेसर, पुनर्नवा, गजपीपल, मुनक्का, शन के बीज, अडूसा, सेमर का मुसला, आँवला, हर्रे, बहेरा, केवाँछ के बीज—इन सब को बराबर लेकर चूर्ण करे और सब के चतुर्थांश विजया (भाँग) का चूर्ण एवं सब से दूनी मात्रा में शक्कर मिलाकर यथावश्यक मिश्री-घी मिलाकर गोला बनाले। पश्चात् आधे आधे तोले की गोलियां बनाकर रख ले अथवा अधिक मात्रा में मिश्री घी डाल कर अवलेह बनाकर रख दे। इस तरह तैयार होने पर इसकी कामेश्वर मोदक संज्ञा होगी।

मात्रा:—१ गोली अथवा आधा तोला अवलेह।

अनुपान:—गोली अथवा अवलेह सेवन करने के पश्चात् शक्कर मिला हुआ दूध पिये।

उपयोग:—इसके सेवन से कामियों के वीर्य की वृद्धि और स्तम्भन होता है। योगियों के लिये यह रसायन समाधि-सुखद है। स्त्रियों को पुरुष सङ्गम में द्रवित करता है। क्षीणों के लिये पुष्टिदायक है। क्षय-व्याधि को नष्ट करता है। कास, श्वास, घोर अतिसार, मन्दाग्नि, बवासीर, ग्रहणी और श्लेष्मातिसार प्रभृति निःशेष रोगों को दूर कर स्थायी-सौख्य प्रदान करता है। यहाँ तक कि वृद्धों को भी रति सुख प्रदान करता है।

[यह रसायन-मोदक नित्यनाथ विरचित 'रसायनखण्डम्', अनन्तदेव विरचित 'रस-चिन्तामणि', शान्तिनाथ विरचित 'रसमंजरी', रामनाथ विरचित 'योगमहार्णव', प्रभृति ग्रन्थों में भी मिलता है। गोविन्ददास संगृहीत 'भैषज्यरत्नावली' में मुख्यतः इसका पाठ संग्रहणी-अधिकार में मिलता है।]

इस ग्रन्थ के परिचय लेखक ने स्वयं 'भैषज्य रत्नावली' के आधार पर इसे बनाकर संग्रहणी के रोगियों पर अनुभव किया है। वस्तुतः यह मोदक अत्यन्त सफल सिद्ध हुआ है।

'भैषज्य रत्नावली' के एक हिन्दी अनुवादक ने इस रस को तन्त्रान्तर में 'महाकामेश्वर' नाम से भी मिलने की चर्चा की है।

पूर्णचन्द्ररस

हैमी भूतिः सूतभूत्या समाना तद्वत्ताभ्रं गन्धकं मौक्तिकञ्च,
वज्रं कान्तं शृङ्गवेराम्बुतोयैः मर्द्यं शोष्यो वस्त्रमृद्भ्यां प्रवेष्ट्य।
भाण्डके सलवणके निवेश्य तद्गोमयेन परिवेष्ट्य भाजनम्,
शोषयेच्च पुटयेन्मृगाग्निना पूर्णचन्द्र इति जायते रसः।
यक्ष्माणां जयति प्रसह्य चपलाक्षौद्रान्वितः शूलनुत्,
साज्येण ससर्पिषा ससितया धात्र्याम्लपित्तापहः।

कुणडल्यम्बुयुतो जयत्यपि महातापञ्च पित्तोद्भवम्,
शाल्मल्यम्बुगुडूचिकाम्बुसहितः पाण्डुं सितासंयुतः।
पुष्टि-दृष्टि-बलवीर्यवर्द्धनो जायतेऽखिलगदापहारकः,
स्त्रीगदापहरणः शिशुरक्षाकारकः, स्वगदजानुपानकैः ?।

स्वर्ण, पारद की भस्में, शुद्ध वत्सनाग विष, शुद्ध गन्धक और मोती की भस्म—इन सब को सम भाग लेकर अदरख और चित्रकमूल के रस (अथवा क्वाथ) से एक-एक दिन मर्दन कर गोला बना सुखाले, पुनः उस गोले पर चार तह कपड़ा लपेट ऊपर से कपड़मिट्टी कर अच्छी तरह सुखावे। पश्चात् उसे लवण के भीतर बन्द कर, गोबर से वर्त्तन के मुख को बन्द कर, भली भाँति सुखाने के अनन्तर निर्वात स्थान में उस पर इतने घास की अग्नि दे कि कपड़ा जल जाय। पीछे स्वाङ्गशीतल होने पर निकाल कर रख ले। इस तरह इस सिद्ध रसायन को 'पूर्णचन्द्र रस कहते' हैं।

अनुपान— यक्ष्मा में—पीपल और मिश्री की चासनी।
" शूल में—सैन्धव, घी और शक्कर।
" अम्लपित्त में—आमले का रस।
" पित्तजदाह में—गुडूची का हिम अथवा क्वाथ।
" पाण्डु में—सेमल की छाल और गुडूची का क्वाथ।
" नेत्र ज्योति, बल, वीर्य और पुष्टि के लिये—शक्कर।

इसी तरह स्त्री और बालकों के विविध रोगों पर यथायोग्य अनुपान के साथ इस रसायन के उपयोग से आश्चर्यजनक फल प्राप्त होता है।

[यह योग रसावतार, रसदीपिका, रसचन्द्रिका, प्रभृति रस ग्रन्थों में भी उपलब्ध होता है। रसचण्डांशु, रसप्रकाश एवं रस सुधाकर में भी यह योग दीख पड़ता है, किन्तु उनमें आये हुये योगों में विष एवं मोती भस्म का पाठ नहीं मिलता है। और उनकी जगह नाग भस्म प्रक्षिप्त पाया जाता है। भावना की जगह उन ग्रन्थों के पाठ में केवल चित्रक मूल का क्वाथ ही दृष्टिगोचर होता है। वस्तुतः दोनों ही पाठ उत्तम प्रतीत होते हैं। फिर भी वाजीकरण मात्र के लिये निर्माण किये जाने वाले योगों में मोती और विष की जगह अगर नागभस्म का उपयोग किया जाय तो विशेष सुन्दर हो, किन्तु भावना किसी एक या दोनों द्रव्यों से भी दोनों योगों में दी जा सकती है]

अस्तु, निदर्शन के लिये सहृदय पाठकों के समक्ष ये तीन योग प्रस्तुत किये गये हैं। ऊपर मैंने प्रकृत ग्रन्थ में जिन १११ योगों के आने की चर्चा की है, वे सभी इसी तरह अनुभव सिद्ध है। यह ग्रन्थ मुझे श्री जैन-सिद्धान्त-भवन के पुस्तकाध्यक्ष के अनुग्रह से मिल सका है। मेरा विचार है कि मैं यथाशीघ्र इसका हिन्दी अनुवाद कर कृपालु आयुर्वेद के प्रेमियों के समक्ष रख सकूँ।

मूलाचार के कर्त्ता बट्टकेरि

[ले०—श्रीयुत पं० नाथूराम प्रेमी]

दिगम्बर सम्प्रदाय में मुनियों के आचार विषयक ग्रन्थों की बहुत कमी है। प्राचीन ग्रन्थों में ले देकर मूलाचार ही एक ग्रन्थ उपलब्ध है। वीरनन्दि का आचार-सार और आशाधर का अनगारधर्मामृत आदि पिछले ग्रन्थ इसी के आधार से लिखे हैं। धवला टीका के कर्त्ता वीरसेन स्वामी ने मूलाचार का ही आचारांग नाम से उल्लेख किया है।

इसके कर्त्ता का नाम 'बट्टकेरि' आचार्य है। परन्तु उनके विषय में अभी तक यह नहीं मालूम हुआ कि वे कब हुए हैं, उनका गुरुपरम्परा क्या है और वे कहाँ के थे। उनका यह नाम भी कुछ अद्भुत-सा है। मैं बरसों से सोच रहा था कि आखिर यह कैसा और कहाँ का नाम है।

अभी उस दिन कनड़ी भाषा के सुप्रसिद्ध कवि बेट्टगेरि कृष्णशर्मा का नाम एक पत्र में पढ़ा, तो मूलाचार कर्त्ता के नाम पर एकाएक प्रकाश पड़ गया।

कवि कृष्णशर्मा के गदग (धारवाड़) के पास के बेट्टगेरि या बेट्टकेरी ग्राम के रहने वाले हैं और बेट्टगेरी का उच्चारण बेट्टकेरी भी होता है।

कर्नाटक में और उसके दक्षिण में गाँवों के नाम व्यक्ति के नाम के पहले लिखने की पद्धति बहुत समय से है। कर्नाटक प्रान्त के पंडित के० भुजबली शास्त्री, के० कुमारय्या शास्त्री, जैन समाज में सुपरिचित हैं, इनके नामों के प्रारंभ के 'के०' आदि अक्षर इनके मूल ग्रामों के ही द्योतक हैं। भारतीय दर्शन शास्त्र के प्रकाण्ड पंडित सर्वपल्ली सर राधाकृष्णन के नाम का 'सर्वपल्ली' अंश उनके गाँव का ही बोधक है।

इससे मुझे कल्पना हुई कि बट्टकेरि नाम भी गाँव का बोधक होना चाहिए और मूलाचार के कर्त्ता बेट्टगेरी या बेट्टकेरी ग्राम के ही रहने वाले होंगे और जिस तरह कोण्डकुण्ड के रहने वाले आचार्य कोण्डकुन्द तथा तुम्बुलूर ग्राम के रहने वाले तुम्बलूराचार्य कहलाये उसी तरह ये बट्टकेरि कहलाने लगे। इनका मूल नाम क्या था, सो तो लोग भूल गये, सिर्फ नाम का यह अंश बच रहा।

डा० ए० एन० उपाध्ये ने मुझे बतलाया है कि कनड़ी में 'बेट्ट' छोटी पहाड़ी को और गेरी या केरी गली या मोहल्ले को कहते हैं। बेलगाँव और धारवाड़ जिले में इस नाम के गाँव अब भी मौजूद हैं।

पं० सुब्बया शास्त्री से मालूम हुआ कि श्रवण बेल्गोल का भी एक मुहल्ला बेट्टगेरि नाम से प्रसिद्ध है।

कारिकल के हिरियंगदि बस्ति के पद्मावती देवी के मन्दिर के एक स्तंभ पर श० सं० १३९७ (वि० सं० १५३२) का एक शिलालेख है जो कनड़ी भाषा में है[1]। इस लेख में 'बेट्टकेरि' गाँव का नाम दो बार आया है और वह कारिकल के पास ही कहीं होना चाहिए।

सो हमारा अनुमान है कि मूलाचार के कर्त्ता बट्टकेरि भी उक्त नाम के गाँवों में से ही किसी गाँव के रहने वाले होंगे।

१—साउथ इण्डियन इन्स्क्रिप्शन्स जिल्द ७ मंजेश्वर के विद्वान् एम० गोविन्द पै द्वारा इस लेख की सूचना मिली है।

समीक्षा

भगवान् महावीर का अचेलक धर्म—लेखक : श्री पं० कैलाशचंद्रजी शास्त्री, प्रधानाध्यापक स्याद्वाद महाविद्यालय काशी; प्रकाशक : मंत्री प्रकाशन विभाग, भा० दि० जैन संघ चौरासी, मथुरा; साइज : डबल क्राउन सोलह पेजी। पृष्ठ संख्या : ३५; मूल्य: पाँच आने। छपाई-सफाई अत्यन्त सुन्दर।

यह शास्त्रीजी का वह निबंध है, जो वीर शासन महोत्सव पर पढ़ा गया था। इसमें विद्वान् लेखक ने अत्यन्त परिश्रम कर अन्वेषणात्मक ढंग से अचेलक धर्म का समर्थन किया है। निबंध से आपकी प्रौढ़ विद्वत्ता, जैन शास्त्रों का तलस्पर्शीज्ञान एवं अन्वेषण शक्ति का पता भली भाँति लग जाता है। आपने प्रथम श्वेताम्बर आगमों के पर्याप्त प्रमाण देकर अचेलक धर्म की पुष्टि की है। समाज में कुछ समय से स्त्री-मुक्ति, सचेल-संयम आदि की चर्चा जोरों से चल रही है। इसी चर्चा के फलस्वरूप लब्ध-प्रतिष्ठ विद्वान् लेखक ने आवश्यक निर्युक्ति, उत्तराध्ययन, आचाराङ्ग सूत्र और दशवैकालिक सूत्र इत्यादि प्रसिद्ध श्वेताम्बर आगमों के प्रमाण ज्यों के त्यों उद्धृत कर अचेल-संयम का समर्थन किया है। शास्त्रीजी के निबन्ध से स्पष्ट सिद्ध है कि अर्वाचीन श्वेताम्बर आगम ग्रंथों के टीकाकारों ने सवस्त्र-संयम का विधान किया है। तथा इस काल में भी अचेलक साधु ही श्रेष्ठ समझे जाते थे; पर धीरे-धीरे समय के प्रभाव और हठवादिता के कारण लोग सचेल-संयम की पुष्टि करने लगे। शास्त्रीजी ने दिगम्बर आगमों के प्रमाणों से भी अचेलक धर्म को ही सिद्ध किया है। आजकल के कुछ विद्वान् श्रुतसागरीवृत्ति और भगवती आराधना के आधार पर दिगम्बर जैन ग्रंथों में भी सचेल संयम का विधान सिद्ध करना चाहते हैं। परन्तु शास्त्रीजी ने उपर्युक्त ग्रंथों के विवादास्पद स्थलों को लेकर बड़े सुंदर ढंग से तर्क पूर्ण विचार कर अचेलक धर्म को पुष्ट किया है। हमारा ख्याल है कि इस निबंध से जिज्ञासुओं की शंकाओं का समाधान हो जायगा। सर्वार्थसिद्धि की "भावलिङ्गं प्रतीत्य पंचापि निर्ग्रन्था लिङ्गिनो भवन्ति, द्रव्यलिङ्गं प्रतीत्य भाज्याः" इस पंक्ति सम्बन्धी शंका का निराकरण भी अत्यन्त सरल और सौम्य शब्दों में किया है। समाज में कुछ समय से जो अप्रिय सचेल-अचेल संयम की शंका उठी है, उसका अन्त तो शास्त्रीजी के इस निबंध से हो जाना चाहिये। प्रत्येक विद्वान् और स्वाध्याय प्रेमी को इसे मंगाकर अवश्य पढ़ना चाहिये। समाज शास्त्रीजी का अत्यन्त आभारी है।

ब्र० पं० चन्दाबाई

सत्साधु-स्मरण-मङ्गलपाठ—संयोजक और अनुवादक : श्री पं० जुगलकिशोर मुख्तार, 'युगवीर'; प्रकाशक : वीर-सेवा-मंदिर सरसावा, जिला सहारनपुर; साइज : डबल क्राउन सोलह पेजी। पृष्ठ संख्या : १२ + ७६; मूल्य : आठ आने।

इस पुस्तक में संयोजक महोदय ने गौतम गणधर, भद्रबाहु, गुणधर, धरसेन, पुष्पदन्त, भूतबलि, कुंदकुंद, उमास्वाति, समंतभद्र, सिद्धसेन, पूज्यपाद, पात्रकेसरि, अकलंक, विद्यानंद, माणिक्यनंदि, अनंतवीर्य, प्रभाचन्द्र, वीरसेन, जिनसेन एवं वादिराज के स्मरण संकलित किये है। कलम के धनी मुख्तार साहब ने सरल, सौम्य और मुहावरेदार भाषा में श्लोकों का अनुवाद किया है। ग्रंथ के आरम्भ में विद्वत्तापूर्ण प्रस्तावना है। आपने बताया है कि "सत्साधुओं का स्मरण बडा ही मंगलदायक होता है। 'चत्तारि मंगलं' में साहू मंगलं पद के द्वारा साधुओं को भी मंगलमय निर्दिष्ट किया है।" इससे स्पष्ट है कि साधुओं के पुण्यगुणों के स्मरण से आत्मा पवित्र हो जाती है, पापों से रक्षा होती है। आत्मोन्नति के लिये प्राणी अग्रसर होते हैं। मुख्तार साहब ने इन स्मरणों का संग्रह कर समाज का बडा भारी उपकार किया है, थोड़े पढ़े-लिखे स्वाध्याय प्रेमी भी आत्म-विशुद्धि कर सकते हैं। इन स्मरणों से आत्मा तो पवित्र होती ही है, किन्तु अनेक ऐतिहासिक और सामाजिक बातों पर भी प्रकाश पड़ता है। छपाई-सफाई, गेटप आदि अत्यन्त सुन्दर हैं, प्रत्येक स्वाध्याय प्रेमी को इसे मंगाकर अवश्य पढ़ना चाहिये। हमारे ख्याल से यह संकलन दैनिक पाठ करने के लिये अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होगा।

सिद्धान्त-समीक्षा भाग—१—यह पंडित फूलचन्द्रजी शास्त्री और डॉ० हीरालालजी के लेखों का संग्रह है। ये सभी निबन्ध जैन सन्देश में प्रकाशित हो चुके हैं, पर हिन्दी-ग्रन्थरत्नाकर कार्यालय के अध्यक्ष पं० नाथूरामजी प्रेमी ने इन्हें एकत्रित कर प्रकाशित किया है। इनमे दिगम्बर शास्त्रों की विवादास्पद कई मान्यताओं पर प्रकाश पड़ता है। निबन्ध अन्वेषणात्मक ढंग से उद्धरण सहित लिखे गये हैं। इस संग्रह से वेद वैषम्य सम्बन्धी चर्चा पर पूर्ण प्रकाश पड़ता है, साधारण हिन्दी भाषा-भाषी जनता भी महत्त्व पूर्ण शास्त्रीय विषयों को सरलता से विचार सकती है। दोनों ही विद्वान् लेखकों ने प्रबल युक्तियों से अपने-अपने पक्ष की पुष्टि की है। प्रत्येक स्वाध्याय प्रेमी को इसे हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर कार्यालय बम्बई से मंगाकर पढ़ना चाहिये।

सिद्धान्त-समीक्षा भाग—२—प्रकाशक : हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर कार्यालय बम्बई; साइज : डबल क्राउन सोलह पेजी; मूल्य १) रुपया।

यह पंडित जीवन्धरजी शास्त्री और डॉ० हीरालालजी के उत्तर, प्रत्युत्तर और तद्विषयक अन्य लेखों का संग्रह है। इन निबन्धों से जैन सिद्धांत की अनेक सूक्ष्म बातों पर प्रकाश

पड़ता है। दोनों ही विद्वानों ने शंका समाधान के रूप में स्त्री-मुक्ति, और केवली-भुक्ति पर विचार-विनिमय किया है। साधारण जनता के लिये भी यह पुस्तक उपयोगी है; विवादास्पद स्थलों पर विचार-विनिमय करने के लिये पर्याप्त सामग्री इन निबन्धों में है। प्रोफेसर साहब के नवीन अन्वेषण ने विद्वानों को गम्भीर विचार करने का अवसर प्रदान किया है। दोनों ही पक्ष के लेख पठनीय हैं। प्रेमीजी ने एकत्रित संग्रह प्रकाशित कर जनता का कल्याण किया है। विचारक विद्वानों को अवश्य मगाकर देखना चाहिये। पुस्तक की छपाई-सफाई अच्छी है।

अपभ्रंश-दर्पण——लेखक : श्री जगन्नाथराय शर्मा एम० ए०, गोल्ड मेडलिस्ट, प्रोफेसर पटना-कालेज, पटना; प्रकाशक : साहित्य-सुमन-माला कार्यालय, बांकीपुर, पटना; साइज : डाबल क्राउन सोलह पेजी; पृष्ठ संख्या : २ + २ + ८ + १७५; मूल्य : एक रुपया, आठ आना।

हिन्दी में यह अपने ढंग की एक ही पुस्तक है। हिन्दी की जननी अपभ्रंश भाषा के सम्बन्ध में अभी तक कोई भी परिचयात्मक पुस्तक नहीं लिखी गई है। इसके द्वारा लेखक ने एक बड़ी भारी कमी की पूर्त्ति की है। प्रोफेसर साहब ने अपनी विद्वत्ता पूर्ण भूमिका में बताया है कि भारत में बहुत वर्ष तक अपभ्रंश भाषा राष्ट्रभाषा एवं साहित्य भाषा के पद पर आसीन रही है। यह अत्यन्त मधुर और सरस भाषा है। पुस्तक के प्रारम्भ में अपभ्रंश की उत्पत्ति के सम्बन्ध में प्रकाश डाला गया है। आगे चलकर स्वयं ग्रन्थकर्त्ता ने इस बात को बतलाने का प्रयत्न किया है कि अपभ्रंश भाषा साहित्य में १००० ई० सन् तक प्रयुक्त होती रही। आगे इसी अपभ्रंश से मराठी, गुजराती, बङ्गला आदि भाषाओं का जन्म हुआ बताया गया है। 'अपभ्रंश-साहित्य का महत्त्व और सौष्ठव' शीर्षक में लेखक ने बताया है कि "हिन्दी की जननी होने के नाते तो अपभ्रंश भाषा हमारे सम्मान की वस्तु है ही, उसका साहित्य भी कम महत्त्व नहीं रखता है। यद्यपि इसका अधिकांश भाग हमें उपलब्ध नहीं और जो उपलब्ध है भी वह प्रायः अप्रकाशित है, तथापि जो कुछ प्रकाशित है, उससे ही उसके महत्त्व की पर्याप्त सूचना मिलती है। हिन्दी का कौन कवि है, जो प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में उसके साहित्य से प्रभावित न हुआ हो? चन्द से लेकर हरिश्चन्द्र तक तो उसके ऋण भार से दबे हैं ही, आजकल की नई-नई काव्य पद्धतियों के उद्भावक भी विचार कर देखने पर उसकी परिधि से बहुत बाहर न मिलेंगे।" इन पंक्तियों से स्पष्ट है कि हिन्दी के प्रायः सभी कवि अपभ्रंश भाषा के साहित्य से प्रभावित हैं और उसी के आधार पर रचनाएँ करते हैं। लेखक ने स्वयं आगे उद्धरण देकर इस बात को सिद्ध किया है कि जैन ग्रन्थ 'भविसयत्तकहा' के आधार पर हिन्दी के रामचरितमानस और पद्मावत जैसे जगत् प्रसिद्ध ग्रंथ लिखे गये हैं। इसीका समर्थन करते हुए लिखा है कि "जिस प्रकार जायसी और तुलसी ने कतिपय ३२ मात्राओं वाली चौपाइयों की अर्धालियों के बाद ४८ मात्राओं वाले दोहे रखे हैं, ठीक उसी प्रकार

३२ मात्राओं की अर्धालियों वाले पंझटिका या अल्लिला नामक छन्दों के बाद धनपाल ने ६२ मात्राओं वाला घत्ता नामक छन्द रक्खा है। जिस प्रकार जायसी और तुलसी में तुकों की लड़ी हर एक चरण के अन्त में कम से कम प्रत्येक दो चरणों में मिलती है, उसी प्रकार धनपाल में भी। इस प्रकार रचना दृष्टि से इन तीनों ग्रन्थों की पद्धति बिल्कुल एक है।" इससे स्पष्ट सिद्ध है कि हिन्दी के कवि अपभ्रंश के रचयिता जैन कवियों के ऋणी हैं। जैन कवियों ने विपुलमात्रा में अपभ्रंश साहित्य की रचनाएँ कर हिन्दी साहित्य की उत्पत्ति में सहायता पहुँचाई है।

इस ग्रन्थ के द्वितीय भाग में अपभ्रंश व्याकरण दिया गया है, इससे अपभ्रंश के विद्यार्थियों को तो लाभ होगा ही, पर साधारण पाठक भी लाभ उठा सकते हैं। इसमें विभक्ति चिह्न, लिंग, वचन, कारक, अव्यय एवं क्रियाएँ आदि व्याकरण के विषयों का बड़ा सुंदर विवेचन किया है। अपभ्रंश साहित्य में प्रगति करने के लिये यह दूसरा भाग बड़ा उपयोगी है। तृतीय भाग में अपभ्रंश ग्रन्थों से टैक्स्ट पाठ उद्धृत किये हैं, जो परीक्षार्थियों के लिये उपयोगी हैं। लेखक ने इन अवतरणों का हिन्दी अनुवाद भी पृथक् दिया है, इससे इनकी उपयोगिता और बढ़ गई है। पुस्तक अत्यन्त उपयोगी है, प्रत्येक साहित्य प्रेमी को मगाकर पढ़ना चाहिये। छपाई-सफाई सुंदर है।

ईश्वरोपालम्भः (खण्डकाव्यम्)—लेखक : श्री पं० कमलाकान्त उपाध्याय, व्याकरण-साहित्य-वेदान्ताचार्य, काव्यतीर्थ, हिन्दीरत्न; प्रकाशक : कांतकुटीर, आरा; पृष्ठ संख्या : २७; मूल्य : सद्भावनामात्र।

यह एक खण्डकाव्य है, ललित श्लोकों के साथ कवि ने स्वोपज्ञ-वृत्ति भी लिखी है। इसमें विद्वान् लेखक ने ईश्वर को उलाहना दिया है कि हे भगवन् यदि तुम्हारा संसार में नियन्ता रूप से अस्तित्व है तो तुम किसीको दुःखी, किसीको सुखी, किसी को दरिद्री, किसीको धनी, किसीको मूर्ख, किसीको पण्डित, किसीको कार्य कुशल और किसीको बुद्धू क्यों बनाते हो ? यह सारा संसार दिन-रात दुःख की भट्टी में जलता रहता है, और भगवन् आप कुछ नहीं करते हैं। क्या आपका यही न्याय है कि धनी, पापाचारी सुखी रहें और निर्धन सदाचारी भी दिन रात विपत्तियाँ सहन करते रहें। कवि ने भक्ति रस के आवेश में आकर कहीं-कहीं ईश्वर की पर्याप्त भर्त्सना की है, लेकिन काव्य की दृष्टि से यह भर्त्सना भी व्याजस्तुति के रूप में है, अतः प्रकारान्तर से इसमें ईश्वर की जगन्नियन्ता के रूप में स्तुति की गई है। बीच-बीच में कवि ने दार्शनिक पुट भी दिये हैं। वेदांत-दर्शन, वैशेषिक-न्याय एवं सांख्य-दर्शन के संक्षिप्त सिद्धांतों का भी प्रतिपादन किया है। कवि ने ईश्वर के विभिन्न आकारों में दर्शन किये हैं, प्रकृति के साथ ईश्वर की समानता भी दिखाने की चेष्टा की है। प्रसंगवश बीच-बीच में कृषक, मजदूर आदि की दीन दशा का भी चित्राङ्कन किया है। कवि प्राचीनता का पोषक होते हुए भी आधुनिक प्रगतिवाद का समर्थक है। श्लोक अत्यन्त मधुर और सरस हैं, पढ़ते समय मन को अपूर्व आह्लाद मिलता है।

विद्वान् लेखक ने स्वोपज्ञ वृत्ति में सुंदर श्लोकों का सरल संस्कृत में भाव भी समझा दिया है। यद्यपि पुस्तक के प्रारम्भिक अंशमें कवि जगत्कर्तृत्व का पोषक दृष्टिगोचर होता है, पर अन्तिम पद्य **"तथास्ति चास्तित्वमपीह कुत्रचिन्नवेति सन्दिह्यत एव मे मनः"** में उसने जगन्नियन्ता के विषय में शंका की है। वस्तुतः कवि की यह शंका ठीक ही है, क्योंकि युक्ति से भी जगन्नियन्ता के रूप में ईश्वर का अस्तित्व सिद्ध नहीं होता है। संस्कृत साहित्य की श्रीवृद्धि के लिये कवि का प्रयास सराहनीय है, अन्य संस्कृत के कवियों को भी इस ओर ध्यान देना चाहिये। पुस्तक पठनीय है, साहित्य प्रेमियों को मगाकर अवश्य पढ़ना चाहिये।

नवीन मूल रामायण—रचयिता और प्रकाशक : पं० रजनीकान्त शास्त्री, बी० ए०, बी० एल० बक्सर; साइज : डबल क्राउन सोलह पेजी; पृष्ठ संख्या : २ + ३८; मूल्य पाँच आने।

यह वाल्मीकीय और तुलसीकृत रामायण के कथानक के आधार पर संस्कृत पद्यों में रची गई नवीन कृति है। शास्त्रीजी ने इसमें गागर में सागर भर देने की कहावत को चरितार्थ किया है। उपर्युक्त रामायणों के कथानकों के अतिरिक्त लोक में प्रचलित घटनाओं का समावेश भी इस ग्रंथ में हो गया है। उत्तरकाण्ड में रामाश्वमेध की कथा भी संक्षिप्त स्थान पा गई है। शास्त्रीजी के श्लोक अत्यन्त सरल और मधुर हैं, अनजान व्यक्ति उन्हें कालिदास के ही समझेगा। रामचन्द्रजी लङ्का से लौटते समय सीताजी को रास्ते के स्थानों का परिचय देते हैं, उनके परिचय सम्बन्धी श्लोक ठीक रघुवंश के तेरहवें सर्ग के श्लोकों से मिलते जुलते हैं। शास्त्रीजी संस्कृत साहित्य के अच्छे कवि हैं, आपने अपनी इस कृति में प्रत्येक श्लोक के साथ सरल हिन्दी अर्थ भी रखा है, जिससे इस ग्रंथ की उपयोगिता और बढ़ गई है। नमूने के लिये एक पद्य उद्धृत किया जाता है—

"हत्वा हनूमान् पथ कालनेमिं सरोवरस्थां मकरीं च घोराम्।
मरुज्जवः प्राप नगाधिराजं द्रोणं ज्वलद्रत्नमयूखदीप्तम् ॥"

अर्थात् हनुमान् मार्ग में कालनेमि तथा तालाब में रहने वाली भयङ्कर मकरी का बध कर वायु वेग से पर्वत राज द्रोणाचल पर पहुँचे, जो जलते हुए रत्नों की किरणों से दीप्यमान हो रहा था। पाठक देखेंगे कि उपर्युक्त एक ही पद्य में कवि ने संक्षेप में कालनेमि वाली कथा भी कह दी है और हनूमान् को द्रोणाचल पर भी पहुँचा दिया है। इसी प्रकार रामायण की मूल कथा तथा अवान्तर प्रक्षिप्त कथाओं का समावेश कवि ने बड़ी कुशलता से किया है। छपाई, सफाई, गेटपादि सुंदर हैं, संस्कृत प्रेमियों को मगाकर पढ़ना चाहिये।

नेमिचन्द्र शास्त्री

आचार्य प्रभाचन्द्र का तत्त्वार्थसूत्र (अनुवादादि सहित)—सम्पादक : पं० जुगल-किशोर मुख्तार, 'युगवीर'; प्रकाशक : वीर-सेवा-मन्दिर सरसावा; साइज : डबल क्राउन सोलह पेजी; पृष्ठ संख्या : ५२; मूल्य : चार आने ।

प्रस्तुत ग्रंथ में १० अध्याय १०७ सूत्र हैं । ग्रंथ का प्रतिपाद्य विषय उमास्वाति के तत्त्वार्थ सूत्र के समान मोक्ष मार्ग ही है। इसका कलेवर देखने से प्रतीत होता है कि आचार्य ने मुमुक्षुओं के उपकारार्थ ही इसका निर्माण किया है। इसके भी दस अध्याय हैं, ग्रन्थ की भाषा अत्यंत सरल है। उमास्वाति विरचित तत्त्वार्थसूत्र के अनुक्त विषयों को भी आचार्य ने मणि-काञ्चन की भाँति प्रकृत विषय में मिला दिया है। उदाहरणार्थ तीसरे अध्याय के 'विदेहेषु संततश्चतुर्थः', 'एकादशरुद्राः', 'नवनारदाः', 'चतुर्विंशतिकामदेवाः' ये चार सूत्र लिये जा सकते हैं। आचार्य ने इन सूत्रों को बड़ी कुशलता से प्रकरण में सम्बद्ध कर दिया है। कहीं-कहीं पर सूत्रों के क्रम में परिवर्तन हो गया है; अष्टम अध्याय में 'त्रयस्त्रिंशद्देवायुषः' सूत्र के बाद 'नामगोत्रयोर्विंशतिः' सूत्र आया है। इससे नामकर्म की स्थिति बीससागर की सिद्ध होगी; बीस कोड़ा-कोड़ी सागर की नहीं। सम्भव है यह त्रुटि प्रतिलिपि कर्त्ताओं की कृपा से हुई हो।

इस उपयोगी ग्रन्थ का सम्पादन श्री पं० जुगलकिशोरजी मुख्तार ने किया है। आप सफल सम्पादक और संशोधक हैं, अतः इस ग्रन्थ का सर्वाङ्ग सुन्दर सम्पादित होना स्वाभाविक है। मुख्तार साहब ने अनुवाद में प्रस्तुत ग्रन्थ के सूत्रों की उमास्वाति के तत्त्वार्थसूत्र के सूत्रों के साथ तुलना की है। तथा जहाँ पर क्रम भंग हुआ है, उसकी समीक्षा भी संक्षेप में सुबोध ढंग से लिखी है। ग्रन्थ के प्रारम्भ में सुन्दर विद्वत्ता पूर्ण प्रास्तावना लिखी गई है, इससे तुलनात्मक ढंग से अनेक तत्त्वार्थसूत्र विषयक बातों का पता लग जाता है, प्रस्तावना के अध्ययन मात्र से ही विषय का ढाँचा मस्तिष्क में आ जाता है। ग्रन्थ की छपाई-सफाई, गेटप आदि अत्यन्त सुन्दर हैं। प्रत्येक स्वाध्याय प्रेमी को मगाकर पढ़ना चाहिये।

परमानन्द साहित्याचार्य

श्रीजैन-सिद्धान्त-भवन आरा का वार्षिक विवरण

[२७-५-४४—१३-६-४५]

जैन-सिद्धान्त-भवन आरा ३४ वर्षों से जैन समाज की ही नहीं, अपितु साहित्य से सम्बन्ध रखनेवाले व्यक्तिमात्र की सेवा करता चला आ रहा है। इस भवन ने इस वर्ष भी कितनी ही साहित्यिक संस्थाओं एवं व्यक्तियों के प्रकाशन कार्य में साहाय्य प्रदान किया है। जैन संस्कृति के इतिहास निर्माण में इस भवन का विशेष हाथ है। अनेक अलभ्य ग्रन्थरत्नों के संग्रह के साथ-साथ पुरातत्त्व विषयक अन्य सामग्री का भी संग्रह किया जा रहा है। इस वर्ष वीर संवत् २४७० ज्येष्ठ शुक्ल पंचमी से वीर संवत् २४७१ ज्येष्ठ शुक्ल चतुर्थी तक भवन के सामान्य दर्शक रजिस्टर में ४०७२ व्यक्तियों ने हस्ताक्षर किये हैं। परन्तु हस्ताक्षर करने की कृपा न करनेवाले व्यक्तियों की संख्या भी इससे कहीं अधिक होगी। विशिष्ट दर्शकों में निम्नलिखित महानुभावों के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं :—

श्रीमान् प्रो० विश्वनाथजी एम० ए० पटना-कालेज पटना, श्रीमान् पं० रामसुचरित्र राजज्योतिषी डुमराँव, श्रीमान् पं० फूलचंद्रजी सिद्धांत-शास्त्री बनारस, श्रीमान् पं० राजकुमारजी साहित्याचार्य बनारस, श्रीमान् पं० जगन्मोहनलालजी शास्त्री कटनी, श्रीमान् पं० रजनीकान्तजी शास्त्री, साहित्य भूषण, बी० ए०, बी० टी० बक्सर, श्रीमान् धर्मप्रियजी शास्त्री एम० ए०, राष्ट्रवाणी पटना, श्रीमान् प्रो० नन्ददुलारे वाजपेयी हिन्दू वि० काशी, श्रीमान् मूलचंद किसनदासजी कापड़िया सूरत, श्रीमान् परमजी वेदालंकार, प्रिंसिपल गुरुकुल वैद्यनाथधाम, श्रीमान् प्रो० रामव्यासजी ज्योतिषाचार्य हिन्दू विश्वविद्यालय बनारस, श्रीमान् पं० रामनाथ पाठक 'प्रणयी' साहित्याचार्य, संस्कृत कालेज डुमराँव एवं श्रीमान् डी० एन० वर्मा एडवोकेट हाईकोर्ट पटना। इन विद्वानों ने अपनी बहुमूल्य शुभ सम्मतियों के द्वारा पूर्ववत् भवन की सुव्यवस्था एवं संग्रह आदि की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की है।

पाठक:—भवन के सामान्य पाठक वे हैं जो भवन में ही बैठकर अभीष्ट ग्रन्थों का अवलोकन करते हैं। क्योंकि सर्वसाधारण जनता को ग्रंथ घर ले जाने के लिये नहीं मिलते। इसीलिये प्रायः स्थानीय पाठकों को नियमानुसार भवन में ही आकर अध्ययन करना पड़ता है। इनके लिये हर तरह से सुविधाएँ भी दी जाती हैं। इनके अतिरिक्त अपवाद रूप में विशेष नियम से जिन-जिन खास व्यक्तियों को घर ले जाने के लिये ग्रंथ दिये गये हैं उन ग्रंथों की संख्या ४०७ है। इन ग्रंथों से स्थानीय पाठकों के अतिरिक्त श्रीमान् पं० महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्य भारतीय ज्ञानपीठ बनारस, श्रीमान् पं० कैलाशचन्द्रजी सिद्धांत-शास्त्री, प्रधानाध्यापक स्याद्वाद विद्यालय काशी, श्रीमान् पं० फूलचन्द्रजी सिद्धांत-शास्त्री जयधवला कार्यालय बनारस, श्रीमान् बा० उमाकान्त प्रेमचन्द्र शाह बड़ौदा, श्रीमान् पं० परमानन्दजी शास्त्री सरसावा, श्रीमान् पं० दरबारीलालजी न्यायाचार्य वीर-सेवा-मन्दिर सरसावा, श्रीमान् बा० पन्नालालजी अग्रवाल देहली, श्रीमान् बा० कामताप्रसादजी

अनीगंज, श्रीमान् पं० मौजीलालजी शास्त्री नागौर, श्रीमान् पं० रामप्रसादजी शास्त्री. अध्यक्ष ऐलक पन्नालाल सरस्वती भवन बम्बई, श्रीमान् पं० के० भुजबलीजी शास्त्री, विद्याभूषण मूड़बिद्री, श्रीमान् प्रो० शेषय्यंगार एम० ए० मद्रास यूनीवर्सिटी मद्रास, श्रीमान् सेठ ईश्वरदास पांजरापोल अहमदाबाद, श्रीमान् हरिलाल जीवराज भाई राजकोट सदर, श्रीमान् पं० जनार्दन मिश्र वेदाचार्य, संस्कृत कालेज डुमराँव एवं श्रीमान् पं० रामनाथ पाठक व्याकरण-साहित्य-आयुर्वेदाचार्य, डुमराँव आदि बाहर के विद्वानों ने लाभ उठाया है। भारतीय ज्ञानपीठ बनारस एवं स्थानीय जैन कालेज ने तो भवन के संग्रह से सर्वाधिक लाभ उठाया है।

संग्रह : पूर्ववत् इस वर्ष भी मुद्रित संस्कृत, प्राकृत, हिन्दी, मराठी, गुजराती, कन्नड़ एवं बंगला आदि विभिन्न भारतीय भाषाओं के चुने हुए १६६ और अंग्रेजी के १७ इस प्रकार कुल १८२ ग्रंथ संग्रहीत हुए हैं। अन्यान्य भाषाओं की पत्र-पत्रिकाओं की फाइलों की संख्या भी लगभग इतनी ही है।

भवन को इस वर्ष ग्रन्थ प्रदान करने वालों में स्त्री समाज आरा; श्रीमान् पं० नागराजजी शास्त्री हुम्मुच; श्रीमान् प्रो० जगन्नाथराय शर्मा एम० ए० पटना-कालेज पटना; श्रीमान् डॉ० देवराजजी एम० ए०, डी० फिल् जैन कालेज आरा; श्रीमान् बा० बच्चूलालजी आरा; श्रीमान् पं० रजनीकान्तजी शास्त्री, बी० ए०, बी० टी० बक्सर एवं आर्किओलाजिकल मैसूरु आदि के नाम विशेष उल्लेख योग्य हैं।

इस वर्ष शास्त्र प्रतिलिपि का कार्य एक प्रकार से स्थगित-सा रहा। इसके दो कारण हैं; पहला कारण तो कागज का अभाव और दूसरा संस्कृतज्ञ लेखकों की अप्राप्ति। असंस्कृतज्ञ लेखकों से शास्त्रों की प्रतिलिपि कराने से विशेष लाभ नहीं होता है। बल्कि ग्रन्थों में अशुद्धियों की मात्रा और बढ़ जाती है। फिर भी पं० के० भुजबलीजी शास्त्री की अध्यक्षता में मूड़बिद्री से कर्मप्रकृति. आराधनासार और चतुर्विंशति तीर्थङ्कराधना ये तीन ग्रंथ लिखवा कर मंगवाये गये। श्री नागराजजी शास्त्री ने एक कन्नड़ भाषा में पूजा और स्तोत्रों का संग्रह स्वलिखित भवन को प्रदान किया।

प्रकाशन : भवन के इस विभाग में 'जैन-सिद्धान्त-भास्कर तथा जैन एन्टीक्वेरी का प्रकाशन पूर्ववत् चालू रहा। प्रसन्नता की बात है कि 'भास्कर' उत्तरोत्तर लोक प्रिय होता जा रहा है और बड़े-बड़े जैनेतर विद्वान् भी इसे बड़े आदर की दृष्टि से देखते हैं। श्रीमान् पं० रजनीकान्त शास्त्री बी० ए०, बी० टी० के शब्दों में भास्कर भवन की ही सम्पत्ति नहीं बल्कि समस्त विहार प्रान्त की एक ऐतिहासिक निधि है। भवन की गतिशीलता का एकमात्र ज्वलन्त प्रमाण इस संस्था का मुख पत्र है। इस प्रकार आपने 'भास्कर' की भूरि-भूरि प्रशंसा की। इस वर्ष कागज नियन्त्रण की असुविधा के कारण अन्य प्रकाशन का कार्य नहीं हो सका।

परिवर्तन : इस वर्ष भवन के प्रकाशन से लगभग ६०-६५ ग्रंथ परिवर्तन में लिये गये। श्रीमान् पं० सुखलालजी के सुझाव से मुनि पुण्यविजय की द्वारा सम्पादित

समस्त बहुमूल्य ग्रंथ भवन को 'भास्कर' की फाइलों के परिवर्तन में मिले। निम्नलिखित बहुमूल्य पत्र-पत्रिकाएँ भी 'भास्कर' के परिवर्तन में भवन को प्राप्त होती रहीं :—

(1) The Indian Culture, (2) Annals of the Bhandarkar Oriental Research Institute, (3) The Journal of the university of Bombay (4) The Karnatak Historical Review, (5) The Adyar Library Bulletin, (6) The Journal of Annamalai University. (7) The Poona Orientalist, (8) The Journal of the United Provinces Historical Society, (9) The Quarterly of Mythic Society, (10) The Punjab Oriental research, a Quarterly Journal, (11) The Journal of the royal Asiatic Society of Bengal, (12) The Journal of the royal Asiatic Society of Bombay, (13) The Fergusson College Magazine, (14) The Journal of the Bihar and Orissa Research Society, (15) The Journal of the Benares Hindu University, (16) The Andhra University College Magazine and Chronicle, (17) The Journal of the Sri Venkatesvara Oriental Instute, (18) The Journal of the Sind Historical Society, (19) The Journal of Tanjore Sarasvati Mahal Library, (20) The Bombay Theosophical Bulletin. (21) The Jain Gazette, (22) The Indian Literary Review, (23) The Journal of the Ganganath Jha Research Institute Allahabad.

हिन्दी : (२४) नागरी प्रचारिणी पत्रिका, (२५) विश्वभारती—शान्तिनिकेतन (२६) विश्वभारती—लखनऊ, (२७) भारतीय विद्या, (२८) साहित्य सन्देश, (२९) अनेकांत, (३०) सम्मेलन-पत्रिका, (३१) किशोर, (३२) वैद्य, (३३) धर्मदूत, (३४) जैन महिलादर्श, (३५) दिगम्बर जैन, (३६) जैन बोधक, (३७) खण्डेलवाल जैन हितेच्छु—जयपुर, (३८) खण्डेलवाल जैन हितेच्छु—इन्दौर, (३९) वीर, (४०) भारतीय समाचार; (४१) आजकल, (४२) जैन मित्र, (४३) जैन सन्देश, (४४) जैन गजट।

गुजराती : (४५) जैन सत्यप्रकाश।

संस्कृत : (४६) मैसूरु महाराज संस्कृत पाठशाला पत्रिका, (४७) सूर्योदय, (४८) संस्कृतम्।

कन्नड़ : (४९) जय कर्णाटक (५०) शरण साहित्य, (५१) विवेकाभ्युदय।

तेलगु : (५२) आन्ध्र-साहित्य-परिषत्पत्रिका।

इनके अतिरिक्त भवन में The Indian Historical quarterly, विशालभारत, सरस्वती, हिन्दी अनुशीलन पत्रिका, साप्ताहिक संसार, दैनिक संसार, Patna times आर्यावर्त पूरे मूल्य देकर तथा जीवन साहित्य अर्ध मूल्य देकर मगाये गये हैं। दैनिक राष्ट्रवाणी और नवशक्ति श्रीमान् बा० रघुनन्दनप्रसादजी मिश्रटोला आरा की ओर से तथा Searchlight देवाश्रम आरा से और दीदी एवं साप्ताहिक योगी संचालिका जैन-बालाविश्राम आरा से भवन को मिलते रहे हैं। एतदर्थ उपर्युक्त महानुभावों का भवन आभारी है।

समालोचनार्थ प्राप्त ग्रंथ : इस वर्ष जैन-सिद्धान्त-भास्कर में समालोचनार्थ विभिन्न भाषाओं के निम्नलिखित ग्रंथ उपलब्ध हुए हैं—

(१) स्वर्गीय हेमचंद्र, (२) वैदिक ऋषिवाद, (३) अनित्यभावना, (४) श्रीरामचरितम्, (५) सत्साधुस्मरण मंगलपाठ, (६) दिगम्बर जैन सिद्धान्त दर्पण, (७) भगवान् महावीर का अचेलक धर्म, (८) वैष्णवधर्म, और आर्यसमाज, (९) अहिंसाधर्म और धार्मिक निर्दयता, (१०) नवीन मूल रामायण, (११) जैन बोधकाचा इतिहास, (१२) वाचक उमास्वाति का सभाष्य तत्त्वार्थसूत्र और उनका सम्प्रदाय, (१३) चौबीस तीर्थंकरों की ज्ञातव्य बातों का नक्शा, (१४) मक्शी पार्श्वनाथ, (१५) कुण्डलपुर महावीर पूजन, (१६) कुण्डलपुर महावीर परिचय, (१७) आचार्य प्रभाचन्द्र का तत्त्वार्थसूत्र आदि ।

पत्र व्यवहार : भवन तथा भास्कर से सम्बन्ध रखने वाले सैकड़ों पत्रों के अतिरिक्त इतिहास, साहित्य, ज्योतिष, धार्मिक आदि गम्भीर विषयों से सम्बन्ध रखने वाले सैकड़ों पत्रों का समुचित उत्तर भवन से दिया गया है; जिन से बाहर के पत्र प्रेषक मान्य विद्वानों को पर्याप्त सन्तोष हुआ है ।

साहित्यिक तथा धार्मिक सभाएँ :—इस वर्ष भवन में आरा साहित्य-मण्डल, जिला-साहित्य सम्मेलन के साधारण अधिवेशनों के अतिरिक्त साहित्य-मण्डल का वार्षिक अधिवेशन, कवि सम्मेलन आदि विशेष साहित्यिक सभाओं के साथ महावीर जयन्ती आदि धार्मिक सभाएँ भी अधिक समारोह के साथ मनाई गई हैं। महीने में एकाध साहित्यिक सभा प्राय: भवन में होती ही रहती है । इस प्रकार भवन अपने इस वर्ष में साहित्यिक संस्थाओं के प्रकाशनादि कार्य में निरन्तर सहयोग प्रदान करता रहा ।

मंत्री :
जैन-सिद्धान्त-भवन, आरा ।

THE JAINA ANTIQUARY

VOL. XI. JULY, 1945 No. I

Edited by

Prof. Hiralal Jain, M. A., LL.B., D. Phil.
Prof. A. N. Upadhye, M. A., D. Litt.
Babu Kamata Prasad Jain, M. R. A. S., D. L.
Pt. K. Bhujabali Shastri, Vidyabhushana.
Pt. Nemi Chandra Jain Shastri, Sahityaratna.

Published at
THE CENTRAL JAINA ORIENTAL LIBRARY,
[JAINA SIDDHANTA BHAVANA]
ARRAH. BIHAR, INDIA.

Annual Subscription

Inland Rs. 3 Foreign 4s. 8d Single Copy Rs. -1/8

CONTENTS:

" श्रीमत्परमगम्भीरस्याद्वादामोघलाञ्छनम् ।
जीयात् त्रैलोक्यनाथस्य शासनं जिनशासनम् ॥ "
[अकलंकदेव]

Vol. XI No. I — ARRAH (INDIA) — July, 1945.

IDENTIFICATION OF TAVANIDHI

By

S Śrikantha Sāstri, M. A.

Dr A. N. Upādhye has suggested[1] that Tavandi, near Nipāni in the Belgaum District is the famous Jaina holy place mentioned by Nayasena in his Dharmāmṛta (1112 A.D). It is admitted that the image of Pārśvanātha in the lower *pitha* once belonged to a different place, somewhere near Hukeri and was installed at Tavandi in 1880 A.D. This image belonged to a *basadi* constructed by Rūvāri Jinnōja on the orders of Lacceya Dēvi, the grandmother of Sēnarasa who was a disciple of Viranandi Siddhānta Cakravarti Dēva of the Mūla Saṁgha, Dēsiya gaṇa and Pustaka gaccha. Dr. A. N. Upādhye is of the opinion that this Vīranandin[2] is the same as the author of *Ācāra Sāra* (1154 A. D.). This inscription therefore does not help us to determine the identity of Tavandi. The other image of Pārśva on the upper *pitha* probably belonged to some basadi of the Dravida Samgha. We do not know any other inscription of the place mentioning it as a centre of Dravida Samgha, nor does any inscription of that place mention its old name.

1. *Jaina Antiquary* X. p. 51.
2. Another Viranandin of Mūla Samgha, Dēsigaṇa, Pattage vali is mentioned in the inscription at Nandi Behur. (*S.I.I.* IX, pt. I. no. 115). His disciple Aṣṭōpavāsi was in charge of the basadi constructed in 1054 A.D. (Saturday, December, 24.)

On the other hand Tavanidhi[3] can be identified with the village Tavanandi in the Kuppagaḍḍe hobḷi, Sorab Taluk, Shimoga District of Mysore. In the *Mysore Archaeological Report* for 1942, (p.179-188), several inscriptions of this place are published and it is clear that it was a famous Jaina centre. Tavanidhi and its neighbour Haḷe-Soraba (Old Sorab) were both under the same governors down to the days of Vijayanagara. The records are :

(1) *M.A.R* 1942, No. 50 *Anisidhikal* of the time of Brahma, a subordinate of Harihara II of Vijayanagara. Brahma was ruling equally both Soraba and Tavanidhi which are compared to Amarāvati and Aḷakāvatī The person who died seems to have been a woman as depicted in the second panel of this stone.

(2) *E.C.* VIII. Sorab 196; *M.A R.* 1942, No. 53 (Revised). This inscription is at Tavanandi itself and begins with the praise of Jina Śāsana and the titles of Harihara II. Its date is 26th, Deeember, 1379 A D. It records the death of Bomma Gauṇḍa by *sannyasana-vidhi* Bomma had the titles *Aluvamahāprabhu, prajemecce gaṇḍa hadineṇṭu Kampaṇakke Śirōmaṇi*, Mahāprabhugaḷāditya. He had been the prime supporter of Bukka Rāya and a great patron of Jainism like Nimla Nṛpāla (Sāmanta Nimbarasa) previously. His guru was, Pāriśva sēna yati, his parents Śantināth and Pāḷakabbe (Cīyakka l. 21) Tavanidhi (l 21) was his *purvasthala*. His wife was Bommlā.

E.C. VIII. *Sorab* 199, This Bommalā also died by *sannyasana* in S. 1293 (1371 A. D.) evidently eight years earlier than her husband.

M.A.R. 1942, No. 54. At the same place (Tavanandi) there is a *Māstikal* recording the death of Jaina lady Mahālakṣmi by entering the fire on the death of her husband Hariyanandana (?)

M.A.R. 1942, No. 55. The pedestal of a Jaina image, now removed to Mysore from the old fort at Tavanandi has an inscription saying that it belonged (*pratibaddha*) to Mūla Saṁgha, Sūrastha Gaṇa, Citrakūṭānvaya (C. 13th century).

M.A.R. 1942, No. 56. Another māstikal at Tavanandi merely says "Monday" (probably the day on which some lady became *sati*).

M.A.R 1942 no. 57. At Tavanandi a *vīragal* of the time of *Mahāmāṇḍalēśvara, Arasankagaḷagaṇḍa gattari, Aḍiyarāditya*, devotee

3. In Kannaḍa literature *tavanidhi* seems to have implied a great hidden treasure also.

of *Billēśvara* Vīra Bīrarasa who was rulling Banavāsi Nāḍu, one Kāḷa Nāyaka died.

M.A.R 1942 no. 58. A lamp-pillar set up near Tavanandi by one Nirvāṇappa in the 17th century.

Nayasēna mentions after Mailāpur (Madras), Cōḷa, Lalitapure, the places in Karṇāṭaka-Bandaṇike, Śariyur, Hanugal, Parivali, Puligere, Kopaṇa, Muḷugunda, Paṭṭigere, Eḷavatti and then afte mentioning Māḷava, Gaula, Āśrava, again mentions two places in Karṇāṭaka—Tēre (Tēr in Nizam's Dominions) and Tavanidhi. Tavanidhi may have been near Tēr but it is not certain : On the other hand the existence of earlier antiquities at Tavanandi like the pedestal of the Jaina images, basadis, old fort etc. and the actual mention of the place as Tavanidhi indicate that it is probably the Jaina holy place mentioned by Nayasēna, Sībvijayas *Tīsthmālā* quoted by Prof. Upādhye is not precise also.

Further another place also named Tavanidhi is found in the Haḷe kōte Hobḷi, Hoḷe Narasipur Taluk of the Hassan district. The inscriptions at this place are :

E.C. XV *Hn* 102 p 139, a Vīragal recording the death of one Sōmajiya in the reign of Soma...in Kīlaka, Māgha Ba... His san Bayirajīya set up the stone.

E.C. XV. *Hn*. 103. p. 139 Another Viragal dated Ś 1140. Rākṣasa, Māghasira, Suda II, saying that Māca Gaṇḍa's son Bairasetti attacked cattle thieves and died.

E.C. XV. *Hn*. 104 p. 140. Another Vīragal clearly mentioning the place Tavanidhi, dated Kṭlka Āśvayuja Bahuḷa 14, Vaḍḍavāra. A man died aescuing the caws of Tavanidhi in the reign of Yādava Nārāyaṇa Prabhu...Haysaṇa Somēśvara Dēva.

E.C. XV. *Hn*. 112. Inscription at Mallēśvara temple in Māvanūr near Tavanidhi. It ascords the exploits of a Śaiva Parvatayya and the grant by, Hoysaḷa Narasimha in Ś 1204, Viṣu, Māgha. Ba 14, Ādityavāra, Sivarāti, of Tavanidhi in Sīgenāḍu (l. 41) to the gods Dēvēśvara (set up in the name of Parama māhēśvara Māvanūr Hiriya Odeya Dēvarasayya) and Appāśvara (set up in the name of the younger brother Cikka Odeya Apparasayya) The place was named Tavanidhiya Śivapura by Dēvavve, the wife of Apparasa.

It may be inferred that this Tavanidhi was a Śaiva centre where as Tavanidhi near Sorab was sacred to the Jainas. It was a common practice in ancient times to name several places after some famous place. Taking all this facts into consideration it is probable that Tavanandi near Sorab is Tavanidhi mentioned by Nayasēna.

A CRITICAL EXAMINATION OF ŚVETAMBARA AND DIGAMBARA CHRONOLOGICAL TRADITIONS

By

Prof.—H C. Seth, M.A. Ph. D. (London)

(Coantinued from Vol. X, page 48)

Then comes Vikramāditya. Vikramāditya according to the Jain traditions was the son of Gardabhila[1]. Vikramāditya and his dynasty can therefore be treated as the Gardabhilas. Merutuṅga's Vicārṣreṇī gives 135 years to Vikramāditya and his dynasty or 152 years to the whole Gardabhila dynasty including the inter-regnum of 4 years for the Śakas. After the Gardabhila dynasty comes the Śaka king. This happened 605 years after Mahāvīra Nirvāṇa. Tittha-golīpainnya ofter Nahvāna's 40 years assigns 100 years to the Gardabhas, by which apparently Gardabhilas are meant. No mention is made here separately of Gardabhila, the Śakas or Vikramāditya. According to this tradition one hundred years assigned to the Gardabhas, perhaps, cover the thirteen years of Gardabhila, four of the Śakas, and after it the reign of Vikramāditya and his dynasty. This tradition also places after the Gardabhilas, the Śaka king, 605 years after Mahāvira Nirvāṇa.

The Digambara Jain traditions, on the other hand, after the sixty years of Vasumitra and Agnimitra assign one hundred years to the Gardabhilas, whom Tiloyapannati calls as Gardhavas and Harivaṁśa Purāṇ as Rāsabhas. 'Rāsabha' seems only a translation of 'Gardhava' both meaning 'ass'. It is a common practice in Indian traditions to etymologically explain personal and tribal names. We may recall the story given in the Kālakācārya Kathā of the king Gardabhila being called by this name as he mastered the magic known as 'Gadabhi', 'she ass'[2]. Elsewhere we have suggested that Cardabhila may be identical with Kharavela of the Hāthīgumphā inscription fame. We have tried to show there that like Gardabhila Khāravela also belonged to the first century B.C. Khāravela's conquests of Western and Central India are attested by his inscription. Gardabhila may be a translated from of the name Khāravela, "Khar" also like 'Gardabha' meaning ass. The same process of translation can

---

1 Merutuṅga's Vicārṣreṇī.

2 Brown : The Story of Kālaka.

be traced in Jinasena calling Gardabhilas and his dynasty as 'Rāsabha kings. Our surmise is that the dynasty founded by Khāravela is the same as the Gardabhilas of the Jain and the Paurāṅic tradītions. If this surmise is correct then the 13 years of reign and conquest of Khāravela mentioned in the Hāthīgumphā inscription will correspond to the reign of 13 years assigned to Gardabhila in the Jain traditions in which case the victorious career of Khāravela or Gardabhīla came to an end after his defeat by the Śakas. It has also been surmised that Vakradeva of Khāravela's dynasty be the famous Vikramāditya, who drove the Śakas out or Ujjain[1].

After the Gardhavas or Rāsabhas (Gardabhilas) these Digambara Jain traditions place Nahavāṅa whom they call as Narvahāṇa, and these traditions also like the Śvetāmbara ones assign him 4o years. After Nahavāna comes Bhathaṭṭhanas, then the Guptas and after the Guptas came Kalki. These traditions count 1000 years between the death of Mahāvīra and that of Kalki. It is interesting to note that these Digambara chronological traditions unlike the Śvetāmbara ones do not refer to Vikramāditya. They are preoccupied chiefly in establishing a chronology to show a difference of 1000 years between Mahāvīra Nirvāṅa and Kalki. The Śvetāmbara chronological traditions on the other hand are chiefly concerned with the Śaka King who is placed 605 years after Mahāvīra Nirvāṇa. They are not concerned with Kalki and do not carry the chronological list beyond the Śaka King. But the most important difference between the Digambara and the Śvetāmbara Jain chronological traditions is that in the former Nahavāṇa is placed after and in the latter before the Gardabhilas :

Nahavāṇa is undoubtedly, as is generally believed by modern historians, the same as Nahapāṇa, the Mahashatras of Kshanarāta family, who is mentioned in several inscriptions and a large number of whose coins is also discovered. The Nāsik inscription of the queen Gotamī Balaśrī, mother of Gautmīputra Śātakarṇī informs us that her son Gautmīputra Sātakarṇī rooted out the Khakharāta (Kshaharāta) family and restored the glory of the Sātavāhanas[2]. As pointed out by Jayaswal[3] according to the Jain traditions preserved

---

1 Nagpur University Journal. No. 8.

2 Lūder's Brahmi Inscription No. 1123.

3 JBORS. Vol. 16 (1830) P. 248 ff.

in Āvaśyaka-sūtra-niryukti it was Nahavāṇa or Nanapāṇa who was defeated and killed by the Śātavāhana king Gautmīputra Śātakarṇī. This is also borne out by the fact that Gautmīputra Śātakarṇī restruct the coins of Nahapāṇa The modern historical researches put Nahapāṇa in the period after the commencement of the Vikrama era. Most of the scholars assign him to the end of the first and the beginning of the second century A D.[1] It seems that the Digambara chronological traditions are more correct in putting Nahavāṇa or Nahapāṇa after the Gardabhilas, which will make him a post-Vikrama figure He is wrongly put by the Śvetāmbara traditions before Vikramāditya and the Gardabhilas. As we have tried to show above, the rest of the Śvetāmbara chronological traditions preserved in Tapāgachha Paṭṭavalī and Merutunga's Vicārśreṇī from Pālaka down to the first Śaka occupation of Ujjain for four years and their being driven out of Mālwā at the beginning of the Vikrama era, i.e. in 58 B C., appear to be correct and reliable. If we take out 40 years of Nahavāṇa from 470 years the interval given in then tradition between Mahāvira Nirvāṇa and the commencement of the Vikrama era, the difference between these two important events will be 430 years. This will give (430 + 58) 488 B C. as the date of Mahāvīra Nirvāṇa This will place Mahāvīra's death about a year before that of Buddha, who died, as we have suggested elsewhere in 487 B. C.[2] These two dates will reconcile most of the Buddhist as well as the Jain traditions about these two great religious teachers.

If we follow the Jain traditions of Titthagolipainnya in assigning 160 years to the Mauryas, which, as discussed above, also seems to be the total of the individual reign-periods of the Maurya Kings given in certain Purānas, the placing of Nahāvaṇa in the post-Vikrama period gives us, according to the Śvetāmbara chronology 267 years (160 Mauryas + 90 Sungas + 13 Gardabhila + 4 Śakas) between the beginning of the reign of Candragupta Maurya and the commencement of the Vikrama era, i e. 58 B C. The commencement of the Candragupta's reign will thus fall in (267 + 58 325 B C, which, as

1 Vincent, Smith, Rapson, R. G. Bhandarkar and Raychaudhri give C. 125 A D. as the date for the defeat of Nahapāṇa by the Andhra King Gautamīputra Sātakarṇī.

2 "Buddha Nirvāṇa and some other dates in Ancient Indian Chronology." Indian Culture Vol. V. No. 3. P. 305 ff; and also "Chronology of the Asokan Inscriptions" Journal of Indian History Vol. XVII.

we have elsewhere[1] argued, on other grounds also appears to be the most likely date for the beginning of the reign of this great monarch.

To continue the analysis of these chronological traditions further, the thirteen years assigned to Gardabhila fall between 75 and 62 B.C. Afer this comes 4 years of the Śaka occupation and then the reconquest of Ujjain by Vikramādity which happened in 58 B.C. This also may be a correct historical tradition. To Vikramāditva and his dvnasty Merutuṅga assigns 135 years. Kālakācāraya Kathā also tells us that Vikramāditya's dynasty was uprooted by another Śaka king who established an era of his own when 135 years of the Vikrama era had elapsed[2]. If we accept these as correct historical traditions we get (135—58) 77 A D. as the end of the reign of the dynasty of Vikramāditya or the Gardabhila dynasty.

As regards Nahavāṇa or Nahapāṇa, a critical examination of the Digambara and the Śvetāmbara traditions given above and also the light thrown on him by modern researches make it clear that he came after the Gardabhilas. This will place the commencement of Nahavāṇa's reign in 78 A. D. Nahavāṇa in the Digambara Jain chronological traditions stands in the same place which is given to the Śaka King in the Śvetāmbara traditions. This Śaka king in both these traditions is placed in the post-Vikrama period about 605 vears after Mahāvīra Nirvāṇa. It then appears that Nahavāṇa or Nahapaṇa is the Śaka King of both these traditions, who, as discussed above, in the Śvetambara traditions is but by mistake also before Gardabhila. Nahapaṇa, according to the inscriptions, belonged to Kshaharāta family which was of the Śaka extraction. We known from the inscriptions that the Śaka princes, Liaka, Patika, Ghatāka and Bhūmaka were other members of the same Kshaharāta family. Ushavadata, son-in-law of Nahapāṇa is distinctly mentioned as a Śāka in these insc riptions

The conclusion we have drawn from a critical study of the various Jain traditions that Nahapāṇa was the Śaka King whose rule commenced from 78 A.D. makes us suggest that the era of 78 A.D. originates from the Śaka King Nahapāṇa. All the Jain traditions

1 "Beginning of Candragupta Maurya's reign." Proceedings of the III. ndian History congress (1939); also republished Journal of Indian History Vol- XIX. Part I.

2 Brown. The Story of Kalaka. P. 60.

aasign 40 years of reign to Nahavāṇa or Nahapāṇa, whose reign therefore lasted upto 605 years (430 between Mahāvīra Nirvāṇa and Vikrama + 135 of Vikrama's dynasty + 40 of Nahavāṇa) after Mahāvīra Nirvāṇa. It thus seems that the Jain counting of 605 years between Mahāvīra Nirvāṇa and the Śaka King, perhaps, refers to the period between the death of Mahāvīra and that of Nahavāṇa. Starting with the commencement of the reign of Nahavāṇa or Nahapaṇa in 78 A.D. the end of his forty years reign well fall in 118 A. D. which will then be the date of the defeat of Nahavāṇa or Nahapāṇā by Gautamīputra Śātakarṇī[1].

The Śvetāmbara chronological traditions given above stop with the Śaka King, who, as shown above, is identical with Nahavāṇa. But the Digambara traditions cārry the chronology after Nahavāṇa and assign 242 years to Bhathaṭṭhaṇas (Śālāuāhanas?) After Bhathaṭṭhaṇas these traditions assign 231 years to the Guptas, and after the Guptas 42years to Kalki, and thus count 1000 years between Mahāvīra and Kalki. The difficulty with the Digambara chronological list is that it neither refers to Vikramāditya nor to the Śaka King, whose eras provide the important land-marks in the Indian chronological reckonings and help us in their conversion into now commonly used Christian era. Kalki too is an unknown entity. The Digambara chronological list places a difference of 485 years between the death of Mahāvīra and that of Nahavāṇa and 515 years between the death of the latter and Kalki. This cannot be treated as correct since the Digambara chronological list has made a serious mistake in assigning 40 years to the Mauryas against a probable reign-period for this dynasty of 160 years. If we add these 120 years to 485 years already given in this list between Mahāvīra Nirvāṇa and Nahavāṇa we get the total of 605 years, which, as discussed above, is the

1 If the dating in the inscriptions of Nahāpana are from the beginning of his reign which is placed according to the calculations given above in 78 A.D. then these inscriptions will suggest a reign of about 46 years to Nahapāṇa If we take 46 years as the reign-period of Nahapāṇa his defeat at the hands of Gautamiputra Śātakarṇī will fall in (78 + 46) 124 B.C. or it may be that these inscriptions may be dated in an era commencing with Bhūmak, the predecessor of Nahapāṇa, and perhaps the founder of Kshaharāta rule in Western and Central India. And the popularly used Śaka era commenced with the beginning of the reign of Nahapāṇa under whom alone the Kshaharātas rose to great supremacy in Central India. In this case the persistent Jain tradition of 40 years of reign of Nahavāna or Nahapāṇa may be correct.

correct difference from Mahāvīra Nirvāṇa to the end of Nahavāṇa's reign. We may recall that the Digambara works like the Śvetāmbara ones also distinctly record the tradition that the Śaka King came 605 years and five months after Mahāvīra Nirvāṇa, and as suggested in the Digambara work Trilokasara of Nemicandra, the difference between the Śaka King and Kalki is that of 394 years 7 months[1]. There seems to be little doubt that the two traditions refer to one and the same Śaka King, and he, as discussed above, appears to be no other than Nahavāṇa or Nahapāṇa[2]. Thus according to the chronology as we have reconstructed from the Jain sources Nahapāṇa's reign commenced in 78 A.D. and ended in 118 A.D. and about 394 years after this, i.e. in 512 A.D ended the reign of Kalki. This may perhaps refer to the end of the reign of the Hun King Toramāṇa, who also displaced the Guptas in central India, and who as suggested by Jaysawal also died about 512 A.D.[3] Toramāṇa like his son Mihirakula may have been a great oppressor and the Jain records may have preserved the tradition of his cruel rule in the account they give of Kalki.

If it be true that Kalki of the Jain traditions stands for Toramāṇa, it may not be difficult to account for the period of about 394 years assigned by the Jain traditions between the end of Nahavāṇa's reign and that of Kalki. After Nahavāṇa the Digambara Jain traditions assign 242 years to Bhataṭṭhaṇas. One is tempted to identify them with Śātavāhanas who, as we know, overthrew Nahavāṇa or Nahapāṇa.* But the supremacy of the Śātavāhanas did not last long in Central India as almost on their heels we have the rise in this area of the Śakas of the family of Chashṭana. 242 may be taken to cover the reign in this region both of the Sātvāhanas and after that of the line of Chashṭana and Rudradāman. This seems likely as both these dynasties were contemporary. It is interesting to note that Albaruni puts the beginning of the Gupta era in 242nd year of the Śaka era. It is now generally assumed that the Gupta era began

1 पणछस्सयवस्सं पणमास जुदं गमिय वीर णिव्वुइदो ।
सगराजो तो कक्की चदुणवतियमहियसगमासं ॥८५०॥

Nemicandra, Trilokasāra, Manikcandra Digambara Jain Mala.

2 It is interesting to note that all the Jain traditions speak of a Śaka King who is placed 605 years after Mahāvīra Nirvāṇa and not of any Śaka dynasty. We know that the Kshaharāta family came into prominence in Central and Western India with Nahapāṇa and it also ended with him.

3 An Imperial History of India. P. 61.

with the rise of the Guptas and after their extermination as suggested by Alberuni. If, as argued above, the Śaka era commences with the reign of Nahavāṇa or Nahapāṇa in 78 A.D. the rise of the Guptas will take place 242 years after it, i.e. in 320 A.D. This gives us an interval of (242—40) 202 years between the end of reign of Nahapāṇa and the beginning of the Guptas. It seems in recording 242 years as the interval between Nahavāṇa and the Guptas the Digambara traditions have counted from the beginning of the reign of Nahavāṇa or Nahapāṇa and not from its end. The mistake may have occurred because Nahavāṇa or Nahapāṇa and the dynasty here called as Bhathaṭṭhaṇas were perhaps contemporaneous and the total for this dynasty would therefore cover also the reign of Nahavāṇa

According to the modern historical studies the Guptas whose rise commenced about 320 A D, towards the close of the fifth century were displaced in Central India by the Hun King Toramāṇa If Toramāṇa's death is placed about 512 A D, it will give us a period of (512—320) 192 years from the rise of the Guptas to the end of Toramāṇa's reign. The total period from the end of Nahavāṇa or Nahapāṇa's reign to the end of Toramāṇa's reign will then be (202+192) 394, which is the same as the difference between the reign of the former and that of Kalki, as suggested by the Jain traditions. It thus seems that the traditions of a difference of 605 years and 5 months assigned in the Digambara Jain traditions between Mahāvīra Nirvāṇa and the Śaka King as well as of 394 years and 7 months between the latter and Kalki or of a difference of 1000 years between Mahāvīra Nirvāṇa and the end of the reign of Kalki or Toramāṇa are historically correct. Kalki may be a tribal name, umineseent of the Kailkilas of the Purāṇas[1].

As regards 231 years of the Guptas given in the Digambara traditions, these may refer to their dynastic total, from their rise to the rise of the Maukharis, who snatched the supremacy of North India from the Guptas about 554 A.D, when according to the Harāhā inscription the great Maukhari King Iśānavarman was on the throne[2]. 554 A.D. falls 234 years (554—320) after the rise of the Guptas. Assuming that Iśānavarman came to the throne a few years earlier, 231 years assigned to the Guptas in the Digambara traditions would also appear to be correct.

1 It may be noted that Abulghazi gives Kalaches and Kanklis as names of the two of the five primitive Turkish tribes. (Historians History Vol. XXIV P. 259.)

2 C. F. Raychaudhari "Political History of Ancient India. P. 531

Pre-historic Jaina Paintings.

By
Jyoti Prasad Jain M A. LL B., Lucknow.
(*Continued from Vol. XI, Page 56.*)

As a matter of fact the all pervading conception of three into one, in the various branches of Jaina religious system, viz cosmology, dogma, metaphysics philosophy, ethics, logic and so on, is so overwhelming that it requires to be dealt with seperately. And the Trident alone is the best and most illustrative symbol which can timely represent the idea of any three elements or aspects, all distinct and independent of one another yet essentially requiring a blending into one, in order to serve their purpose.

Thus it is quite evident that the Trident as a sacred religious symbol essentially and originally belonged to Jainism, and in the centuries before the Christion era, was exclussively their (of the Jains) own object of worship.

The modern historians unanimously date the prevalence of Jainism from the 9th century B.C., and believe the last two Tirthankaras, lord Parswa & lord Mahavira as historical personages; but they are not quite certain whether all the earlier twenty two Tirthankaras, or some of them, were historical personages, or mere mythical figures. Some of them at least, like Rishabha, the first and Arishtnemi, the 22nd are believed by many scholars to be historical personages, on the enternal evidence found in the vedic and Hindu Pouranic literature, substantiated by archeaological discoveries. While many antiquarians, on archeaological, epigraphical, eternological, philosophical and such other grounds, are inclined to date back, the prevalence of Jainism in India from before the advent of Vedic Aryans.

In fact the earliest religious monuments, stupas, idols, symbolic representations (including the Trident), cave dwellings of ascetics, epigraphical and even numismatical records, found all over the country undoubtedly belong to the Jainas alone, amongst all existing religious systems.

Now the painting in question was found on the walls of a cave used by hermits. As against the vedic religion, and even early Budhism, ascetism is peculiarity with Jainism. It is a time honoured

practice among Jaina recluses to live away, far from habitation, in crude hilly caves, or such other lonely places, and devote their time to meditation and austerities. So no question arises for these Singanpur caves to have been used by Hindu Sadhus, Budhistic monks or even vedic Rishis, at that early date. The poany antiquity of Jainism, the practice of its ascetics doing austerities in far off hilly caves and the Trident as an enclussively Jaina religious emblem at that time, are facts well established, in the light of the above discussion

We have, therefore, strong reasons to believe that the ancient Singanpur caves in question, with their prehistoric paintings, clearly belonged to Jainism and Jainism alone.

The other painting, found in those very caves, and referred to above, supports this conclusion even more emphatically.

The eight pieces of the ladder between the two legs represent the eight Karmic forces, described in Jainism, as agencies that keep the soul attatched to this world and make it revolve in the endless cycle of transmigrations.

On the outerside of the left leg are fourteen triangular spots which suggest the fourteen principal stages in the process of spiritual evolution of a mundane soul towards perfection. These fourteen Gunsthanas, as they are called, are based on the trial of soul qualities, viz. Right faith, Right knowledge, and Right conduct. The three points of the triangles incessently point to them. The soul which does not manifest these qualities, although they are all the time latent in its essence, is in the first stage. But as it endeavours to attain these qualities by and by, in higher and higher degrees, by means of purging itself of the evil Karmic forces, it goes on climbing these stages. When it attains the twelfth stage, it becomes free from the four 'destructive Karmas.' The twelfth sport, therefore, connected and corresponding, in the painting, with the fourth uppermost point of the right leg is significant of this fact. The soul now atonce passes into the 13th stage, and becomes an Arhant—an all knowing, all perceiving, infinirtely happy and all powerful living human being. In the 13th and the 14th stage the soul destroys the remaining four Karmas, the Neutral Karmas. After the 14th stage it attains Sidhahood, and rises upwards, to stay all free in perfect imperishable blish, in the Sidhaloka which is situated in the uppermost regions of the universe. This is its fifth and final

migratory point from which it never returns The fifth point on the left leg where the eighth line of the ladder touches it, near the 14th sport, and pointing upwards illustrates this idea.

The upper portion of the figure, formed by the two hands, above the head, in crescent like form, signifies the crescent shaped abode of the Sidhas—that the Sidhasila. The featureless head of the figure is suggestive of the featureless, bodiless nature of the liberated souls. The three triangular blocks forming the left hand, emphasize again the importance of the three virtues, the three gems of Jaina philosophy viz. Rightfaith, Right knowledge and Right conduct, which have been instrumental in leading the soul from the depths of degeneration to the state of atmost perfection and highest regeneration. Further more, in the Jaina costmology, the shape of the universe has been described to be similar in form to that of a human being, standing with both legs apart. The region between the legs is occupied by the seven hells, just above this Narakloka are mid regions on Madhyaloka, and from just above the Madhyloka, begin the heavens i.e. abodes of angels. In the upper most portion, just about the crown is the crescent shaped abode of the liberated souls.

The painting in question, is clearly, like the previous one, a definitely Jaina religious painting. It very significantly represents the fundamental Jaina conceptions.

Thus the prehistoric Singanpur caves with their thousands of years old mystic paintings are strong additional evidences of the poany antiquity of Jainism.

THE APOSTLES OF BLOODLESS ALTAR.

By

Principal. A. Chakravarti, M.A., I.E.S. (Retd.)

In the book "Buddha and Buddhism" by Arthur Lillie in the World's Epoch-makers series, there is a chapter on the "Apostles of Bloodless Altar", in which he collects a number of interesting facts to show how the doctrine of Ahimsa was spread beyond India towards Western Asia. Lillie starts with the assumption that Buddhism was responsible for introducing the following doctrines as part of its religious cult.

1. Enforced vegetarianism for the whole nation.
2. Enforced national abstinence from wine.
3. Abolition of slavery.
4. The introduction of the principle of forgiveness of injuries in opposition to the national *lex talionis*
5. Uncompromising antagonism to all national religious rites that were opposed to the gnosis of spiritual development of the individual.
6. Beggary, continence, and asceticism for the religious teachers.

These are the six originalities of the Buddhist movement as viewed from the outside.

With this assumption he proceeds to show that Christianity was very much influenced by Buddhism and its doctrine of Ahimsa In order to establish his thesis, he points out some important historical incidents which are worth noticing.

"There are two Zoroasters, one lived 6000 years B.C. and the other 500 years B.C. The former proclaimed that it was necessary to propitiate God by sacrificing hundreds of horses, thousands of cows, and ten thousands of small cattle at his altar. But the second Zoroaster proclaimed a bloodless altar. He sought to tear the net-work of the first Zoroaster to shreds. What is the meaning of this? asks Mr. Lillie, and answers, simply that the Buddhist wanderers had by this time invaded Persia, and had fastened their doctrines upon the chief local prophet. A study of the religion of the second Zoroaster, the religion of Mithras, will help us to understand some

of the secrets of Buddhist propagandism. About 450 years B. C. Buddhist missionaries were found in Western Persia. After describing the habits of the Mithras, Lillies comes to the conclusion that it is plain that the worshippers of Mithras had the simple rites of Buddhists and Christians, baptism and the bloodless altar.

Similarly are the characteristics of religious practices with the Pythagorians. Pythagoras left no written statement of his doctrines. He interested himself in science on the one hand and religion on the other hand. Hence he was responsible for founding a scientific school as well as a religious organisation. We are not interested here in his scientific school. His researches in geometry, his theory of numbers and the application of the latter to the interpretation of cosmic events are all facts known to the students of history of science and mathematics. We should rather turn our attention to the religious aspect of Pythagoras. Though there is no record left by him or his religious disciples, still we are fortunate enough in getting enough information from the 4th century comic poets, whose favourite pastime was to ridicule Pythagoras and their religious practices. "We still have a considerable number of fragments in which they are made fun of for their squalid and penurious ways. It is perfectly plain that they did as a matter of fact abstain not only from meat but from fish, and that they wore a peculiar costume and went barefooted. They looked forward for a privileged position in the next world, and regarded their present life as a sojourn in a strange land For the rest they are said to have been lousy and dirty which is the impression that ascetics are apt to make on men of the world. They eat vegetables and wash them down with water."

This contemptuous reference to the Pythagoras is in a part with the contemptuous references made by the singers of Thevara hymns in Tamil, about the Jainas in South India, who were ridiculed as plant-eating Samanas. Further we learn that these Pythagoras believed in the reality of the soul as distinct from the Body. They also believed in the kinship of men and animals. They also believed in the doctrine of transmigration which is the fundamental doctrine of the Indian systems of thought.

Lillies quotes from Philo to prove that Essenism, the mystical school of Israel, was a mixture of Judaism with the old Oriental theosophy. In this letter Philo speaks of a sect of Oriental ascetics found in Alexandria. According to these ascetics, the soul of man

is divine, and his highest wisdom is to become as much as possible a stranger to the body with its embarrassing appetites. Contemplation of the divine essence is the noblest exercise of man; it is the only means of attaining to the highest truth and virtue and therein to behold God is the consummation of our happiness here." The most important part of Lillie's extracts from Philo's letter is the following :

"In India, too, there is the sect of Gymnosophists, who in addition to speculative philosophy, diligently cultivate the ethical also, and have made their life an absolute ensample of virtue."

"Palestine, and Syria are not without their harvest of virtuous excellence. There are among them some who derive their name; Essenes from a Greek term which means holiness have shown themselves preeminent by devotion to the service of God, not in the sacrifice of living animals, but rather in the determination to make their own minds fit for a holy offering" Lillie adds, "plainly here the Essenes are pronounced of the same faith as the Gymnosophists of India, who abstain from the bloody sacrifice, that is, the Buddhists."

Further, he quotes from Burnouf who asserts "that the Indian origin of Christianity is no longer contested. For a long time folks had been struck with the resemblances, or rather the identical elements contained in Christianity and Buddhism. Writers of the firmest faith and most sincere piety have admitted them. The problem remained unsolved until recently when the pathway that Buddhism followed was traced step by step from India to Jerusalem"

These extracts quoted by Lillie show that Christianity was very much influenced by the doctrine of Ahimsa which was propounded in India. In Lillie, it is rather unfortunate that he is not able to differentiate between Buddhism and the philosophy of the Gymnosophists. The term "Cymnosophist" means "naked philosopher." The term is used by the Greek writers to denote nirgranthas, the Jaina ascetics of India. When Gautama Sakhya Muni began his teachings there were these nirgranthas who were the followers of Mahavira, an early contemporary of Buddha. The same doctrine of Ahimsa was proclaimed by Lord Parswa, who preached this doctrine 250 years before Mahavira, i e., about 850 B.C. Parswa, who is recognised to be a historical person by the Oriental scholars did not originate the doctrine of Ahimsa as nirgrantha faith. *Tradition* takes us back to Lord Rishabha who is said to have preached the

doctrine of Ahimsa several centuries before the advent of the Vedic Aryans in the Indus Valley. This Rishabha cult had been prevalent throughout India about the time of Aryan invasion, and the people of the land who were followers of this Rishabha cult resisted the Aryan invasion, not merely because of political reasons, but because of cultural reasons. The vedic aryans had a religion which was violently in conflict with the prevalent Rishabha cult. The Vedic Aryans had as their central religious doctrine, Yaga, which involved animal sacrifice. They also were in the habit of eating flesh and drinking intoxicating Soma. Since Rishabha cult, based upon Ahimsa, did not recognise any of these practices,—religious and social—the followers of Rishabha cult naturally opposed the invading Aryans vehemently. The people of the land who thus resisted the Aryan invaders, had a very high order of culture and civilisation and they lived in big fortified cities or Puras. The description given of the people of the land by the Vedic Aryans, though not very complimentary, gives us interesting news about the original inhabitants of the land. They were opposed to Yagna, they were opposed to the Indra Cult. They spoke a different language and they worshipped a nude figure of God, and so on. This Rishabha cult, originated long before the advent of Vedic Aryans, is associated with the people of the Gangetic Valley, and especially the Ikshvakus in which clan Lord Rishabha was born. The Pioneers of the Bloodless Altar must be traced to these Ikshvakus, whose famous hero was Lord Rishabha, who was the first to preach to the world the doctrine of Ahimsa. Gautama Sakhya Muni, before he founded his own faith, what he calls the middle-path, had evidently been a member of this nirgrantha order.

In Majjma-Nikaya, Gautama Buddha relates his early experiences to his friend and disciple, Sariputta.

"Thus far, Sariputta, did I go in my penance. I went without cloths, I licked my food from my hands. I was no complier with invitations of "come in, your reverence! Stay, your reverence!" I took no food that was brought or meant specially for me. I accepted no invitations to a meal. I took no alms from pot or dish. I took no food from within a threshold, or through windowbars, or within the pounding-place, nor from two people eating together, nor from a pregnant woman, nor from a woman sackling a child, nor from one in intercourse, nor from food collected here and there; nor food

where a dog stood by, nor from places where flies were smarming, nor fish, nor flesh, nor drink fermented, nor drink distilled, nor yet sour gruel did I drink."

This passage where Gautama narrates his early experiences clearly shows that he was a member of the nirgrantha order for some time in the beginning of his career.

We have to emphasise one important difference between Jainism and Buddhism. Both preached the doctrine of Ahimsa, both claimed to be the apostiles of the bloodless altar as opposed to the vedic religion of the Aryans which involved shedding of blood in the name of religion and God. In spite of this fundamental identity, there is thus a difference between the two.

Nirgrantha insisted on abstaining from flesh and intoxicating drink as a necessary corollary of the doctrine of Ahimsa, whereas Buddhism never cared to enjoin that abstinence. Throughout the history of Buddhism, Buddhist Bikshus were meat-eaters, and they maintained that even the founder, Buddha, was not a strict vegetarian. This fundamental difference between the two schools of thought is not noticed by the oriental scholars, and especially by Arthur Lillie, who maintains that Buddha was responsible for enforced vegetarianism and enforced abstinence from wine. This view of Lillie is not corroborated by the history of Buddhism and the practices of the Buddhists monks. His identification of the Gymnosophists with the buddhists is also due to ignorance of the historical facts. The Gymnosophists or the nirgranthas not only preached the doctrine of Ahimsa, but also insisted on giving up flesh and wine. If the Pythogoras, the latter Zoroasters, and the Essenes, who are hailed as the apostles of bloodless altar, were also preaching strict vegetarianism, abstaining from eating flesh and drinking wine, they must have had the inspiration from the Gymnosophists of India, the nirgranthas who were entirely different from the Buddhist Bikshus. These apostles of bloodless altar are said to have flourished in about 500 B.C., and Pythagoras, though said to be an Ayonian thinker, had his religious activities in Greece and Italy. It is rather difficult to assume that it was Buddhism that carried the doctrine of Ahimsa through Persia to Ayonia, Alexandria, Greece, and Italy. We know clearly that the school of nirgrantha had been in existence in 850 B.C Abstinence from flesh and drink which was emphasised by these apostles of bloodless altar could not be

reasonably traced to Buddhism because the followers of Buddha were not insisting on vegetarianism This difference in the doctrine, and the existence of these religious orders as early as 500 B.C. must naturally be traced to an earlier religious order which practised strict vegetarianism and which was in existence a couple of centuries prior to the date of Pythagoras, and Zoroasters, to allow sufficient period for these ideals to reach the Western shores of Asia, Alexandria, Greece and Italy. There it will be more accurate to suggest that these apostles of bloodless altar had their inspiration from the order of the Gymnosophists which had been in existence from the 8th Century B.C. Hence his thesis that Christianity was influenced by the Indian Ideal of Ahimsa propounded by the Gymnosophists remain true, though his confusion between the Gymnosophists and the Buddhists is rather deplorable. A closer study of Jaina literature and further appreciation of the antiquity of the Rishabha cult and its influence in ancient India would naturally give students of history a truer picture as to the early Apostles of the "Apostles of the bloodless Altar."

WOMEN IN SEPARATION (PROṢITA BHARTṚKĀ) IN THE APABHRṂŚA STROPHES OF HEMCHANDRA.

By

Sibendranath Ghosal

Prof Bogra College, Bogra, (Bengal).

The Apabhraṃśa strophes of Hemchandra present us a rich store of love-lyrics. In it we find not only a pen-picture of the different types of women, but also a vivid delineation of the most subtle phases of their love with its countless tangles of complexities. These are, so varied in nature and the women are individually so distinct from one another that each of them forms herself a type and an effort to classify them according to the norms[1] of the Sāhitya-darpaṇa will certainly prove to be totally futile. As it is not possible to deal with all of them in such a small space, that we have got at our disposal, in the present article we should try to describe only the women in separation (proṣita-bhartṛkā) and study the workings of their hearts, undergoing changes under the sway of the most fervent passion of love.

In the very beginning, it must be mentioned that the descriptions of the women in separation, which we find in the Apabhraṃśa strophes, can never stand a comparison with those that we find in the Sanskrit-literature, specially in the works of Kalidas. They lack the grandeur, vigour and grace of the Sanskrit poetry. The women too, whom these Apabhraṃśa verses introduce pale into insignificance when they are put in contrast with such figures of sanskrit literature. They are not the same women who, weighed down with a sense of utter desolation, pine for the lovers and languish at the alter of love, being totally oblivious of their own selves and the world around. They cannot stand on the same rank with the wife of the yakṣa in "Meghaduta" or the wretched queen of "Maria stuart" and kindle a sense of tragic sympathy in us, on the contrary, by their frivolities and their sportive freaks, they stifle the tragic effect that springs forth due to their separation from their lovers. In most of these verses, which depict such women the tragic value is thus, marred and a novelty of fancy and imagination, the exuberance of which we

---

1 Reference to Sāhitya-darpaṇa, Chap. III, verses. 68, 69, 70, 71, 72, 73, 86'

find in all these strophes, occupies its place, captivating the heart of the readers. Despite such a grave defect, the verses are so beautiful, so vivid and so impressive that one can never deny that each of them gives rise to a sense of awe and delight in us. Of course, it sould also be simultaneously admitted that at times like oases in the desert, we come across such verses, which rise far above such a fault, and present us women of true love and passion, who approach far close to the wife of the Yakṣa and the wretched queen. In such verses, suggestiveness has been one of the most prominent features, and imaginative readers have been the best appreciators of such poems.

We find the description of a woman estranged from her lover in the verse :—

एक्कहिं अक्खिहिं सावणु-अन्नहिं भद्दवउ
माहउ महिअल-सत्थरि गण्डत्थलें सरउ ।
अङ्गिहिं गिम्ह सुहच्छी-तिलवणि मग्गसिरु
तहें मुद्धहें मुह-पङ्कइ आवासिउ सिसिरु । VIII. 357. 2.

"The month of श्रावण has settled in one eye of the fair lady, while the month of भाद्रपद in another, on the couch the spring (as the bed was made of tender leaves) on her cheeks the autumn; on her limbs the summer; and in the field of sesamum of सुखासिका (sitting at ease) मार्गशीर्ष; the winter (शिशिर) on her lotus like face". For a clear conception of the verse, the skt. commentary is much helpful. It is interesting as it explicitly shows how the poets of sanskrit and derived languages, let loose the reins of imagination and fancy while they compose verses. It runs thus : अनयोरर्थः । तस्याः मुग्धाया एकस्मिन्नक्षिणि श्रावणः । अन्यस्मिन् अक्षिणि भाद्रपदः । को भावः । यथा एतौ द्वौ मासौ स्राविणौ तथाक्षिद्वयमप्यश्रुजलस्रावित्वान्मासद्वयतुल्यम् । महीतलस्रस्तरे माधवः वसन्तः । पल्लवमयत्वात् । गण्डस्थले शरत् । तस्याः काशकुसुमादिमा पाण्डुत्वात् । अङ्गेषु ग्रीष्मः तापबाहुल्यात् । सुखासिकातिलवने मार्गशीर्षं । यथा मार्गशीर्षे तिलवनाना-मुच्छेदः स्यात्तथा सुखावस्थानस्योच्छेदः । मुखपङ्कजे शिशिरः आवासितः । यथा शिशिरे पङ्कजानां म्लानत्वं तथा मुखपङ्कजस्यापि । स्त्रीणां वियोगावस्थायाम् एतानि चिह्नानि स्युः ।"
It must be said here that the verse scarcely creates an atmosphere of sympathy for the sorrowful lady, who is conceived to be pining for the lover, on the contrary it fills the minds of the readers with an admiration for the ingeneous and subtle expressions of the poet, which are highly appreciated by the oriental critics.

The following verse is similiar in nature with the preceeding one,

and here too, we find the description of a lady whose physical beauty and charming nature has been too much emphasized.

तुच्छ मज्झहे तुच्छ जम्पिरहे ।
तुच्छच्छ रोमावलिहे तुच्छराय तुच्छयर-हासहे ।
पियवयणु अलहन्ति अहे तुच्छकायवम्मह-निवासहे ।
अन्नु जु तुच्छउ तहें धणहे तं अक्खणह न जाइ ।
कटरि थणन्तरि मुद्धडहे जें मणु विच्चि न माइ ॥ VIII. 350. 1.

"It is impossible to mention what is small (तुच्छ) or atomic of that fair lady who has slender waist, who talks little, who has a small and pretty line of hair (on her belly) who shows but little affection and very faint smile, who has got her form slender, as she did not hear any news of her lover, and wonder, the space between her breasts is so small that (even) mind or spirit (that is atomic) is not contained (has no room) in the way (i.e the space between her breasts)". Though irrelevant we intend to mention the fact that there has been divergence of opinion among scholars regarding the interpretation of the second half of the last line. Pischel translated the last line "O über den Zwischenraum Zwischen den Brusten der reizenden, da der Geist Ihn auf seinem wege nicht ermisst (d h. der Zwischenraum ist so klein, dasz man es gar nicht vorstellen kann[2]. Alsdorf translated it on the other hand. "O über den Zwischenraum Zwischen den Brusten der Reizenden, da (selbst) der Gedanke nicht dazwischen Platz findet[3]." As both the scholars advance arguments in support of their respective interpretations, it is well neigh impossible to accept one and reject the other.

The following verse is much poetic and suggestive in nature. It speaks less and the reader is set to think more, in order to get a complete picture of the lovelorn lady, about whose fervour of passion we have scarcely any doubt, and who undoubtedly stirs our sympathy.

चुडुल्लउ चुण्णीहोइ सइ मुद्धि कवोलि निहित्तउ ।
सासानल-जाल-झलक्किअउ बाह-सलिल-संसित्तउ ॥ VIII 395. 2.

---

2. "Oh, the intervening space between the breasts of the charming lady,, which the mind cannot measure in its way (i.e. the intervening space is so small that it is quite inconcievable) Vide. Piscel's "Materialen zur Kenntniz des Apabhraṃśa or Alsdorf's Apabhraṃśa Studien". p. 77.

3 "Oh. the intervening space between the breasts of the charming lady, where even thought cannot find room." Apabhraṃśa studien. p. 78.

"Oh fair one, your bangles placed on your cheeks would be reduced to powder when heated by the flames of your hot breaths sprinkled over with the water of your tears." We should take notice of the following observation of the annotator of the Bom. edition, which will certainly help us to understand the significance of the strophe. "The glass bangles heated and then dipped in water become brittle; the lady is, therefore, asked not to rest her cheek on her palm." Bom. edition

Like wise. the following verse, too, depicts very briefly, a woman who yields to the pangs of separation and the vicissitudes of life. She cannot pass through the ordeal, as she lacks strength and courage, which are indispensible for a journey through the perilous course. The verse leaves sufficient room for Imagination and is highly suggestive in character. A traveller is asking another about his beloved :—

पहिआ दिट्ठो गोरडी दिट्ठी मग्गु निअन्त ।
अंसू सासेहिं कञ्चुआ तिन्तुव्वाणा करन्त ॥ VIII 431. 1.

"Oh traveller did you see my beloved, the fair maid ?" (The other replies); yes I saw her looking towards your path and making her कञ्चुक bodice, wet by tears and dry by hot sighs." It is certainly a glowing picture of a lady, who should undoubtedly be called मुग्धा by the Sāhitya-darpaṇa.

Now, let us probe deep into the hearts of these women and study their thoughts, ideas and sentiments. From their utterances, we can rightly assume that some of them are very much optimistic. The misery of estrangement from their lovers, the present sorrows, the trials and tribulations of life cannot eat away the vitals of their being, nor can they stir their inner souls. Of course, it will not be right, if we acuse them to be less sensitive; on the contrary, the fact is that they stand the wordly miseries with fortitude and courage and pass quite creditably through the fiery ordeals of life There are a few others, who are quite reverse to them by nature. They are soft, tender, passionate and rich in sensibilities. Like tendril creepers, they wind round their lovers, feel their very existence in the lives of those, whom they clasp round and quite unexpectedly droop down blighted even by a gentle wind that comes in the form of an untoward circumstance to strike at their very roots. Women of this type are abundant in Skt. literature, and the wife of the yakṣa,

who was so much consoled by her husband from a great distance will stand as one of the most glaring examples of this.

To the former certainly belongs the lady who says :—

> जइ केवँइ पावीसु पिउ अकिआ कुड्ड करीसु ।
> पाणिउ नवइ सरावि जिँव सव्वङ्गे पइसीसु । VIII. 396. 4.

"If some how I meet my lover I shall do something wonderful never done before; I shall enter into him with all my body as water pervades the new earthen jar."

Another woman who is very much matter of—fact denounces pining, which brings no good, on the contrary, presents inumerable miseries of frustration.

> संदेसेँ काइँ तुहारेण जं सङ्गहो न मिलिज्जइ ।
> सुइणन्तरम्मि पिएँ पाणिएण पिअ पिआस किं छिज्जइ । VIII. 434. 1.

"What is the use of your messages when you do not give me your company ? Can thirst be quenched by water drunk in a dream ?" A third woman, who maintains similiar ideas, is much devoted to her husband; but at times, from her own conduct and other activities, she herself becomes suspicious of her faith and devotion. So with a repentant disposition she breaks out :—

> जउ पवसन्तें सहुँ न गय न मुअ विओए तस्सु ।
> लज्जिज्जइ संदेसडा दिन्तेहिँ सुहयजनस्सु ॥ VIII 419 3.

"In as much I did not accompany him when he went on his journey, nor did I die in his absence, I am ashamed to send messages to my lover." All these women are assertive; they will make us feel their existence by streams of their coherent and incoherent talks. So the Sāhitya-darpaṇa will certainly call them प्रगल्भा.

In the verse following, we find the delineation of a lady who grows impatient and must search out her lover sojourning in some distant land.

> जाइज्जइ तहिँ देसडइ लब्भइ पिअहो पमाणु ।
> जइ आवइ तो आणिअइ अहवा तं जि निव्वाणु । VIII 419. 2.

"I shall go to that region where I shall get trace (प्रमाण) of my lover; if he comes I shall bring him, or I shall put an end (to my life) in that very place.

As a contrast to those, already depicted, the women of the following verse, will certainly strike a different note and maintain her individuatity by her unique conduct. She reproaches her own heart,

which experiences such Pangs of separation and yet does not burst forth.

हिअडा पइं एहु बोल्लिअओ महु अग्गइ सयवार ।
फुट्टिसु पिएं पवसन्ति हउं भण्डय ढक्करि-सार ॥ VIII. 422. 11.

"Oh heart, rogue, you are of wonderfully strong structure, you said hundred times before me: I shall burst forth when or if the lover goes away on a journy."

Still more passionate and intense is the exclamation of a lady who fills the whole atmosphere with her laments, her pitiful cries of utter desolation. She thinks her life futile, without her lover, and piteously invokes her heart to burst forth so that no other misery can plague her further.

हिअडा फुट्टि तडत्ति करि कालक्खेवें काइं ।
देक्खउं हयविहि कहिं ठवइ पइं विणु दुक्ख-सयाइं ॥ VIII 357. 3.

"Oh heart, burst forth with noise ! Why delay ? I shall see at what place (other than thyself) would the ill luck keep these hundreds of miseries (that thou art experiencing at present)." It must be admitted that we are touched by the utterances of this woman, who is separated from her lover, by some adverse course of fate and we can hardly feel inclined to doubt the genuineness of her sorrow and the warmth of passion; and inspite of us, we must say, she exacts our sympathy.

Thers are a few verses, which describe the re-union of the lovers and the lady—loves. They are noted by an extreme brevity and compactness, and contain a suggestiveness which leaves sufficient room for imagination. They reflect the most intense delight of those, who meet after a long time and gaze at each other, with their voice choked by a gust of sentiments and feelings. On the surface of the verses, there stands evidently a veil of thin humour, but within rings a note of deep pathos, which certainly enhances their beauty and reveals the most perfect skill and ingenuity of the poet. One of such verses runs :—

वायसु उड्डावन्तिअए पिउ दिट्ठउ सहसत्ति ।
अद्धा वलया महिहि गय अद्धा फुट्ट तडत्ति ॥ VIII. 352. 1.

"As the lover was all of a sudden sighted by a lady who was driving away the crowing crows, half of her bracelets dropped down on the earth and the (rest) half cracked with a noise." For a clear understanding of the verse, the following comments of the annotator

of the Bom. edition, should be carefully observed." There is a common belief that the crowing of a crow indicates the coming of a guest. The lady on hearing this sound of the crow did not see her lover returning and was probably disappointed and wanted to frighten the crow While doing so, she saw her lover suddenly. The result is that from her emaciated hand dropped down some bangles before the husband was sighted, but after he was seen the lady became fat with joy aud so the rest of the bangles cracked. Pkt. gram. Bom. edition p. 679. We can never deny that here we find a play of fancy, which is unique and extremely charming.

In the verse following, we find the delineation of a woman who shows self-possession even in the moments of high suspense; and her delights which she ardently tries to suppress break out in a most humorous exclamation :—

पिउ आइउ सुअ वत्तडी झुणि कन्नडइ पइट्ठ ।
तहो विरहहों नासन्तअहों धूलडिआ वि न दिट्ठ ॥ VIII 432. 1.

"The lover has returned; (so) I heard the news; his voice has fallen on my ears; I donot now see even the dust (ashes) of the separation that is disappearing, dying."

In conclusion we must say that we have quoted only a few among many that occur in the Pkt. grammar of Hemchandra. Many such beautiful poems, which are like so many sparkling stars in the firmament of Indian literature, have been lost in course of centuries and many poets, who contained in them immense possibilities, have been thus allowed to be buried into oblivion. The neglect of the cultured people, who had been at the helm of the society in the different ages has been undoubtedly responsible for this irreparable loss. A spirit of zealous and most enthusiastic research can only throw newer lights on the poems, and unravel the history of those versifiers, who would certainly occupy a most distinct place among the lyric poets of the different ages and climes.

N B —I have borrowed the English translation of the afore-quoted verses from the Bom. edition [publication no. LX (appendix). Bomay Sanskrit and Prakrit series.]

RULES.

1. The 'Jaina Antiquary' is an Anglo quarterly, which is issued annually in four parts, *i.e*, in June, September, December and March.

2. The inland subscription is Rs. 4 (including 'Jain Siddhanta Bhaskara') and foreign subscription is 6 shillings (including postage) per annum, payable in advance. Specimen copy will be sent on receipt of Rs. 1-4-0

3. Only the literary and other descent advertisements will be accepted for publication. The rates of charges may be ascertained on application to

THE MANAGER,
The "Jaina Antiquary"
Jaina Siddhanta Bhavana, Arrah (India).

to whom all remittances should be made.

4. Any change of address should also be intimated to him promptly.

5. In case of non-receipt of the journal within a fortnight from the approximate date of publication, the office should be informed at-once.

6. The journal deals with topics relating to Jaina history, geography, art, archæology, iconography, epigraphy, numismatics, religion, literature, philosophy, ethnology, folklore, etc., from the earliest times to the modern period.

7. Contributors are requested to send articles, notes, etc , typewritten, and addressed to,

K. P. JAIN, Esq. M. R. A. S.,
EDITOR, "JAINA ANTIQUARY"
Aliganj, Dist. Etah (India).

8. The Editors reserve to themselves the right of accepting or rejecting the whole or portions of the articles, notes, etc.

9. The rejected contributions are not returned to senders if postage is not paid.

10. Two copies of every publication meant for review should be sent to the office of the journal at Arrah (India).

11. The following are the editors of the journal, who work honorarily simply with a view to foster and promote the cause of Jainology :—

PROF. HIRALAL JAIN, M.A., L.L.B.
PROF. A. N. UPADHYE, M.A , D.Litt.
B. KAMATA PRASAD JAIN, M.R.A.S.
PT. K. BHUJABALI SHASTRI, VIDYABHUSANA.
PT. NEMI CHANDRA SHASTRI, SAHITYARATNA.

जैन-सिद्धान्त-भवन आरा की प्रकाशित पुस्तकें

(१)	मुनिसुव्रतकाव्य (चरित्र) संस्कृत और भाषा-टीका-सहित	...	२।)
			(मू० कम कर दिया गया है)
(२)	ज्ञानप्रदीपिका तथा सामुद्रिक-शास्त्र भाषा-टीका-सहित	...	१)
(३)	प्रतिमा-लेख-संग्रह	...	॥)
(४)	जैन-सिद्धान्त-भास्कर, १म भाग की १म, २य तथा ३य किरणें	...	२।)
(५)	,, २य भाग	...	४)
(६)	,, ३य ,,	...	४)
(७)	,, ४र्थ ,,	...	४)
(८)	,, ५म ,,	...	४)
(९)	,, ६म ,,	...	४)
(१०)	भवन के संगृहीत संस्कृत, प्राकृत, हिन्दी ग्रन्थों को पुरानी सूची	...	॥)
			(यह अर्ध मूल्य है)
(११)	भवन की संगृहित अंग्रेजी पुस्तकों की नयी सूची	...	॥।)

प्राप्ति-स्थान—

जैन-सिद्धान्त-भवन, आरा (बिहार)

PRINTED BY D. K. JAIN, SHREE SARASWATI PRINTING WORKS, LTD., ARRAH

की ओर से

जैन-सिद्धान्त-भास्कर

भाग १२ किरण २

THE JAINA ANTIQUARY

Vol. XI. No II

Edited by

Prof. Hiralal Jain, M. A., LL.B.
Prof. A. N. Upadhye, M. A., D Litt.
B. Kamata Prasad Jain, M. R. A S.
Pt. K. Bhujabali Shastri, Vidyabhushana.
Pt. Nemi Chandra Jain Shastri, Sahityaratna.

PUBLISHED AT
THE CENTRAL JAINA ORIENTAL LIBRARY
(JAINA SIDDHANTA BHAVANA)
ARRAH, BIHAR, INDIA.

Inland Rs. 3. Foreign 4s. 8d. Single Copy Rs. 1/8.

JANUARY, 1946.

जैन-सिद्धान्त-भास्कर

जैन-पुरातत्त्व-सम्बन्धी षाण्मासिक पत्र

भाग १२]   [किरण २

सम्पादक

प्रोफेसर हीरालाल जैन, एम. ए., एल-एल. बी., डी. फिल.

प्रोफेसर ए० एन० उपाध्ये, एम. ए., डी. लिट्.

बाबू कामता प्रसाद जैन, एम. आर. ए. एस., डी. एल.

पं० के० भुजबली शास्त्री, विद्याभूषण.

पं० नेमिचन्द्र जैन शास्त्री, साहित्यरत्न.

जैन-सिद्धान्त-भवन आरा-द्वारा प्रकाशित

भारत में ३)   विदेश में ३।।)   एक प्रति का १।।)

वि० सं० २००२

विषय सूची

श्रीजिनाय नमः

जैनपुरातत्त्व और इतिहास-विषयक षाण्मासिक पत्र

भाग १२ | जनवरी, १९४६ । माघ, वीर नि० सं० २४७२ | किरण २

केवली जिन कवलाहार नहीं लेते

[ले०—श्रीयुत पं० फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री]

नियमसार की गाथा ६ और ७ में बतलाया है कि "जो क्षुधा, तृष्णा, भय, रोष, राग, मोह, चिन्ता, जरा, रोग, मृत्यु, स्वेद, खेद, मद, रति, विस्मय, निद्रा, जन्म और उद्वेग इन सब दोषों से रहित है तथा केवलज्ञान आदि परम वैभव से युक्त है वह परमात्मा[1] है।"

आचार्य समन्तभद्र ने भी रत्नकरण्डश्रावकाचार में उच्छिन्नदोष के विश्लेषण द्वारा परमात्मा का लक्षण करते हुए इसी बात को दुहराया है।

कुछ विद्वानों का कहना है कि ९ वीं शताब्दी के पूर्व अन्य ग्रन्थों में रत्नकरण्डश्रावकाचार के उल्लेख नहीं पाये जाते। इसलिये यह ग्रन्थ समन्तभद्र स्वामी का न होकर किसी अन्य समन्तभद्र का है।

एक यह भी दलील दी जाती है कि जब समन्तभद्र स्वामी ने 'आप्तेनोच्छिन्न' इत्यादि श्लोक द्वारा आप्त का स्वरूप कह दिया और वहां यह भी बतला दिया कि इन बातों को छोड़ कर अन्य प्रकार से आप्तपना नहीं प्राप्त होता तो फिर इस दूसरे लक्षण की क्या आवश्यकता थी, इससे तो 'वदतो व्याघात' दोष आता है।

एक यह भी दलील दी जाती है कि समन्तभद्र स्वामी ने अन्यत्र आप्त के विषय में पर्याप्त विचार किया है वहाँ उसे इन क्षुधादि दोषों से रहित क्यों नहीं बतलाया ? इससे भी ज्ञात होता है कि आप्त क्षुधादि दोषों से रहित होता है यह मान्यता साम्प्रदायिक है और पीछे से गढ़ी गई है।

---

(१) देखो कुन्दकुन्द कृत नियमसार।

(२) देखो रत्नकरण्डश्रावकाचार का ६ वां श्लोक।

ये तीन दलीलें हैं जिनपर प्रसंगवश संक्षेप में विचार कर लेना आवश्यक है।

प्रथम दलील का उत्तर—

(१) सन्मति के कर्ता सिद्धसेनके द्वात्रिंशतिका में रत्नकरण्ड का "आप्तोपज्ञ—" यह श्लोक पाया जाता है, वहाँ इसकी आवश्यकता नहीं होते हुए भी दिया है, इससे ज्ञात होता है कि सिद्धसेन के सामने रत्नकरण्ड था। ये आचार्य सातवीं शताब्दी के विद्वान हैं।

(२) सर्वार्थसिद्धि के कर्त्ता पूज्यपाद के सामने समन्तभद्र स्वामी के जो ग्रन्थ रहे उनमें रत्नकरण्डश्रावकाचार भी है। यहां दो चार ऐसे प्रमाण दिये जाते हैं जिससे इस विषय की पुष्टि हो—

(३) पूज्यपाद ने जो नय का सामान्य[१] लक्षण किया है उस लक्षण को करते समय उनके सामने आप्तमीमांसा[२] रही है।

(४) तत्त्वार्थ सूत्र अध्याय ९ सूत्र १ की सर्वार्थसिद्धि टीका में जो 'तीर्थाभिषेकदीक्षा-शीर्षोपहारदेवताराधनादयः' यह पंक्ति लिखी गई है सो यह पंक्ति लिखते समय स्वामी समन्तभद्रकृत युक्त्यनुशासन का निम्न श्लोक सामने अवश्य रहा है—

'शीर्षोपहारादिभिरात्मदुःखैर्देवान् किलाराध्य सुखाभिगृद्धाः।'

इन व ऐसे ही अन्य प्रमाणों से स्पष्ट है कि स्वामी समन्तभद्र के ग्रन्थ आ० पूज्यपाद के सामने रहे तब भी उन्होंने उन ग्रन्थों में से कोई श्लोक उद्धृत नहीं किया। ठीक यही अवस्था रत्नकरण्डश्रावकाचार की रही है। यह ग्रन्थ पूज्यपाद स्वामी के समक्ष अवश्य था जिसके कुछ प्रमाण निम्न हैं—

पूज्यपाद ने तत्त्वार्थसूत्र अध्याय सात सूत्र १ की व्याख्या लिखते हुए निम्न वाक्य लिखा है—

'व्रतमभिसन्धिकृतो नियमः।'

यह वाक्य रत्नकरण्डश्रावकाचार के निम्न श्लोक के आधार से लिखा गया है—

'अभिसन्धिकृता विरतिर्विषयाद्योग्याद्व्रतं भवति।'

पूज्यपाद ने तत्त्वार्थसूत्र अध्याय ७ सूत्र २२ की व्याख्या में जो अनर्थदण्डों का स्वरूप लिखा है सो वह स्वरूप लिखते समय उनके सामने रत्नकरण्डश्रावकाचार के अध्याय ३ के ३० से लेकर ३४ तक के श्लोक रहे हैं।

इन प्रमाणों के रहते हुए यह कहना निःसार है कि '९ वीं शताब्दि के पहले के ग्रन्थों में रत्नकरण्डश्रावकाचार के उल्लेख नहीं पाये जाते, अतः इसके कर्त्ता समन्तभद्र स्वामी नहीं हैं।'

(१) देखो सर्वार्थसिद्धि १, ३३।

(२) देखो १०६ श्लोक।

हमने जो प्रमाण दिये हैं उनसे स्पष्ट है कि इसके कर्त्ता समन्तभद्र स्वामी ही हैं। इतना ही नहीं किन्तु यह ग्रन्थ पूज्यपाद और उनके बाद हुए सिद्धसेन के सामने रहा है।

द्वितीय दलील का उत्तर—

आप्त का पहला लक्षण कहते समय उसमें 'उच्छिन्नदोष' यह भी विशेषण है अतः अगले श्लोक द्वारा वे दोष गिना दिये गये हैं और उनसे जो रहित है वह आप्त है यह बतला दिया है इस प्रकार यह दूसरा लक्षण पहले लक्षण का पूरक ही है। इस दूसरे श्लोक द्वारा कुछ आप्त का अन्य प्रकार से लक्षण नहीं किया गया है।

तीसरी दलील का उत्तर—

स्वामी समन्तभद्र ने आप्त के स्वरूप का विचार करने के लिये 'आप्तमीमांसा' लिखी है। आप्त का मुख्य अर्थ है अरहन्त देव। इसलिये अरहन्तदेव की स्तुति में अरहन्त के शरीर और आत्मा दोनों की स्तुति आ जाती है। रत्नकरण्डश्रावकाचार में इन दोनों बातों को ध्यान में रखकर दोष गिनाये गये हैं और उन दोषों से रहित आप्त को बतलाया है। परन्तु आप्तमीमांसा में शरीर की स्तुति को अरहंत की स्तुति न मान कर शरीरातिशयों द्वारा, यह कह कर कि ये शरीरातिशय[1] तो रागी देवों में भी देखे जाते हैं, आप्तता को अस्वीकार कर दिया है पर इसमें यह बात तो फलित हो ही जाती है कि समन्तभद्र स्वामी का यह मत रहा है कि आप्त के शरीर में विशिष्ट अतिशय होते हैं। 'भीतरी और बाहिरी ये शरीरादिक के अतिशय दिव्य हैं और सत्य हैं' उनके इस कथन से क्या इसकी पुष्टि नहीं हो जाती अर्थात् अवश्य हो जाती है। समन्तभद्र क्षुधादि दोषों से रहित आप्त को अवश्य मानते हैं यही इसका भाव है।

इस कथन से स्पष्ट हो जाता है कि अन्यत्र जहाँ भी समन्तभद्र स्वामी ने आप्त की मीमांसा की है वहां आप्त को क्षुधादि दोषों से रहित सर्व प्रथम स्वीकार कर लिया है और उसके बाद ही उन्होंने आप्त के आत्मिक गुणों का विश्लेषण किया है। आप्तमीमांसा के १ से लेकर ६ श्लोक देखने पर यह स्पष्ट होजाता है कि उन श्लोकों के व रत्नकरण्डश्रावकाचार में वर्णित आप्त के स्वरूप के प्रतिपादक श्लोकों के रचयिता एक ही व्यक्ति हैं। रत्नकरण्डश्रावकाचार आचार ग्रन्थ होने से उसमें वर्णनात्मक दृष्टि रही और आप्तमीमांसा दर्शन ग्रन्थ होने से उसमें विश्लेषणात्मक दृष्टि रही।

अब इस तीसरी दलील के अन्तर्गत दो बातों का और विचार करना है। पहली यह कि यह मान्यता साम्प्रदायिक है और दूसरी यह कि यह मान्यता पीछे से गढ़ी गई है। सो जब

(१) देखो आप्तमीमांसा श्लोक २।

आचार्य कुन्दकुन्द और समन्तभद्र जैसे प्राचीन आचार्यों ने आप्त को क्षुधादि दोषों से रहित माना है तब यह तो कहा नहीं जा सकता कि यह मान्यता पीछे से गढ़ी गई है।

अब रही साम्प्रदायिक दृष्टि की बात सो हम इसका आगे ही विचार करने वाले हैं कि क्या इसके पीछे कोई आध्यात्मिक पृष्ठ भूमि है या सम्प्रदाय विशेष ने ही इसे खड़ा कर दिया है।

इस प्रकार तीनों दलीलों का संक्षेप मे उत्तर हुआ। अब प्रतिज्ञानुसार केवली क्षुधादि दोषों से रहित होते हैं इसकी आध्यात्मिक पृष्ठभूमि क्या है इसका विचार करते हैं। स्त्री-मुक्ति निषेध, सवस्त्रदीक्षा निषेध ये मान्यताएँ कदाचित् दूसरों द्वारा साम्प्रदायिक कही भी जा सकती हैं क्योंकि इनमें दिगम्बरत्व का पोषण होता है परन्तु केवली कवलाहार नहीं करते इसे साम्प्रदायिक कहना बेमतलब की बात है।

जीवकाण्ड में बतलाया है कि पृथ्वी[1], जल, अग्नि, वायु, केवली, आहारक, देव और नारकी इनके शरीर में निगोदिया जीव नहीं रहते। इनका शरीर निगोदियों से अप्रतिष्ठित है।

केवली जिन का शरीर निगोद जीवों से रहित है इसकी पुष्टि षट्खण्डागम के मूल सूत्रों से भी होती है। वहां बतलाया है कि बारहवें गुणस्थान में सब निगोद जीवों का अभाव हो जाता है। अभाव होने का क्रम यह है कि 'क्षीणमोह गुणस्थान के पहले समय में भी निगोदिया जीव मरते है दूसरे समय में भी मरते हैं, तीसरे समय में भी। इस प्रकार क्षीणमोह के अन्तिम समय तक निरन्तर मरते रहते हैं। पहले समय में मरने वाले अनन्त जीव है, दूसरे समय में भी मरने वाले अनन्त जीव हैं। क्षीणमोह के अन्तिम समय तक यही क्रम जानना चाहिये'। यथा—

'अत्थि खीणकसायपढमसमए मदजीवा। विदियसमए मदजीवा वि अत्थि। तदियसमए मरंतजीवा वि अत्थि एवं णेयव्वं जाव खीणकसायचरिमसमओ त्ति। खीणकसायपढमसमए मदजीवा केत्तिया? अणंता। विदियसमए मदजीवा केत्तिया? अणंता। एवं णेयव्वं जाव खीणकसायचरिमसमओ त्ति।'

यहां निगोद जीवों का प्रकरण होने से केवल उनका ही निषेध किया है। फलितार्थ यह है कि केवली जिन का शरीर त्रस और स्थावर सब प्रकार के जीवों से रहित है। इसका यह अभिप्राय है कि केवली जिन के शरीर में केवल वे ही तत्त्व रहते हैं जिनमें जीव पैदा नहीं होते। वे सब तत्त्व नष्ट हो जाते हैं जिनमें त्रस और स्थावर जीव पैदा होते रहते हैं। आहार पानी का लेना और उनसे मल, मूत्र, कफ, पित्त आदि का बनना ये ऐसे तत्त्व हैं जिनमें

(१) देखो जीवकाण्ड गाथा २००।

निरन्तर त्रस और स्थावर जीव पैदा होते रहते हैं। इसलिये केवली जिनके शरीर में निगोदिया जीव नहीं होते इस मान्यता द्वारा पर्यायान्तर से केवली के भूख, प्यास और मल-मूत्र आदि दोषों का ही निषेध किया है। हम संसारी जीवों के शरीर में त्रस और निगोदिया जीव भरे पड़े हैं। वे निरन्तर शरीर का शोषण कर रहे हैं, जिससे शरीर में उष्णता पैदा होकर आहार पानी आदि की आवश्यकता पड़ती है। पर केवली के शरीर में इस प्रकार की उष्णता का कारण नहीं रहा। उनके शरीर का शोषण अब अन्य त्रस व निगोदिया जीवों के कारण नहीं होता, अतः शरीर में आन्तर उष्णता पैदा होकर उनके शरीर का अपचय नहीं होता। और इसलिये प्रति समय उनके शरीर के जितने परमाणु निर्जीर्ण होते हैं उतना नवीन परमाणुओं का ग्रहण हो जाने से कवलाहार के बिना भी उनके शरीर की स्थिति बनी रहती है। जिस प्रकार कर्म वर्गणाओं के आने और जाने से कार्मण शरीर की स्थिति होती है उसी प्रकार अब उनके नोकर्म वर्गणाओं के आने और जाने से शरीर की स्थिति होती है। इस प्रकार आध्यात्मिक पृष्ठ भूमि से विचार करने पर भी यही ज्ञात होता है कि केवली जिन क्षुधादि दोषों से रहित हैं इसलिये वे कवलाहार नहीं लेते।

यहां एक शंका की जाती है कि जब केवली के क्षुधादि दोष नहीं होते तो तत्त्वार्थसूत्र में उनके ग्यारह परीषह क्यों बतलाई गई हैं?

बात यह है कि केवली के वेदनीय का उदय माना जाता है, इसलिये कारण में कार्य का उपचार करके केवली के ग्यारह परीषह बतलाई हैं।

अब प्रश्न यह होता है कि क्या अन्यत्र भी तत्त्वार्थसूत्रकार ने उपचार से कथन किया है?

तत्त्वार्थसूत्रकार ने एकाग्रचिन्ता निरोध को ध्यान कहा है। ध्यान का यह लक्षण शुक्ल ध्यान के पहले दो भेदों में घटता है अन्तिम दो भेदों में नहीं, क्योंकि तेरहवें और चौदहवें गुणस्थान में चिन्ता ही नहीं रहती फिर निरोध किसका। तब भी ध्यान का कार्य कर्मक्षय देख कर तत्त्वार्थसूत्रकार ने जिस प्रकार तेरहवें, चौदहवें गुणस्थान में ध्यान का उपचार से कथन किया है उसी प्रकार केवली के ग्यारह परीषहों का कथन भी उपचार से जानना चाहिये।

एक बात और है वह यह कि जो भाई सर्वथा यह समझते हैं कि असाता के उदय से भूख प्यास लगती है उनका ऐसा समझना गलत है। भूख व प्यास अपने कारणों से उत्पन्न होती है। हाँ भूख व प्यास असाता के उदयादि में नोकर्म हो सकते हैं। हम संसारी जीवों की शरीर स्थिति भिन्न प्रकार की है और केवली जिन के भिन्न प्रकार की, अतः यही निष्कर्ष निकलता है कि उन्हें हम संसारी जनों के समान कवलाहार की आवश्यकता नहीं पड़ती।

एटा के कतिपय मूर्ति-लेख

[लेखक—श्रीयुत बा० कामता प्रसाद जैन D.L.M.R.A.S.]

संयुक्तप्रांत में एटा एक छोटा-सा शहर है; जो ग्रांड-ट्रंक-रोड पर बसा हुआ है। कहते हैं आज से लगभग ५५० वर्ष पहले पृथ्वीराज के वंशज चौहान राजपूत संग्रामसिंह ने एटा बसाया था। पहले यहाँ औरङ्गाबाद नाम का गाँव बसा हुआ था। यह मुस्लिम काल की बात है। संग्रामसिंह ने जब एटा की नींव डाली तो जमीन में भाला गाड़ने पर उसे एक ईंट मिली। इसी कारण उसने उसका नाम 'ईंटा' रखा, जो एटा हो गया! एक अन्य जनश्रुति से प्रकट है कि संग्रामसिंह ने इस स्थल पर एक लोमड़ी को कुत्ते का मुकाबिला बहादुरी से करते देख कर उसे 'एठां' (यह स्थान) आश्चर्य से कहा और इसी नाम से उसे आबाद कर दिया। इन जनश्रुतियों से आभास मिलता है कि संग्रामसिंह ने जिस स्थान को आबाद किया वह कोई प्राचीन उजड़ा हुआ स्थान था कि जहाँ भूगर्भ से ईंटें मिलती थीं। एटा खास में जो पुरानी मूर्तियाँ मिली हैं, उनमें भी यही प्रकट होता है कि संग्रामसिंह से पहले एटा किसी प्राचीन रूप में विद्यमान था। हमारा अनुमान है कि एटा का प्राचीन नाम 'इष्टिका' था। पहले यातायात के मार्गरूप बड़ी-बड़ी नदियाँ थीं। जमुना के द्वारा खूब व्यापार चलता था। आज जमुना किनारे इटावा बसा हुआ है, जिसका प्राचीन नाम 'इष्टिकापथ' है। संभव है कि एक समय इष्टिका (एटा) का नाविक स्टेशन इटावा रहा हो; इसी कारण वह इष्टिकापथ (Estika-Road) कहलाया। लोगों में आज भी एटा-इटावा समास का बहुधा प्रयोग हुआ मिलता है। इस दिशा में अन्वेषण की जरूरत है।

जो हो, एटा में ब्राह्मण-सम्प्रदाय प्रबल रहा। जब करीब दो-तीन सौ वर्षों पहले जैनियों ने अपना मंदिर बनाना चाहा तो ब्राह्मणों ने अड़गा डाला; परन्तु जिनेन्द्र भक्त श्रावकों ने धनबल और नीति कौशल से काम लेकर एक भव्य जिनमंदिर निर्माण करने में सफलता पाई। यही मंदिर आज 'बड़ा पंचायती मंदिर' कहलाता है। गत महावीर जयन्ती पर हम एटा ठहर गये थे। उस समय हमने इस मन्दिर का सूक्ष्म निरीक्षण किया। दर्याफ्त करने पर ज्ञात हुआ कि मंदिर की कुछ प्राचीन मूर्तियाँ शायद तहखाने में रक्षा के लिये कभी रक्खी गई थीं और अभी वहीं हैं। जो मूर्तियाँ बाहर वेदियों पर विराजमान हैं उनमें विशेष प्राचीन कोई नहीं है। प्रायः सबही मुख्य २ मूर्तियों के लेखों को हमने उद्धृत कर लिया था। इस कार्य में भाई जयन्तीप्रसादजी ने हमारी सहायता की; इसके लिये हम उनके आभारी हैं। पाठकों के परिज्ञानार्थ उन मूर्तिलेखों को हम यहाँ उपस्थित करते हैं :—

१. **पार्श्वनाथ (धातु)**—"सं० १३३५ वैशाख सुदी ११ साहु जैसिंह जी ।"

२. **पार्श्वनाथ (धातु)**—"सं० १३८८ वैशाख सुदी ५ श्री मूलसंघे⋯"

३. **नेमिनाथ (धातु)**—"सं० १४७७ वर्षे माघसुदी १० सोमे प्राग्वाट जातिये सा० दयाल भार्या⋯ नेमिनाथ बिम्बका प्रतिष्ठम् गच्छे वीरप्रभु-सूरिभिः ।"

४. **आदिनाथ चौबीसी पट (धातु)**—"सं० १५०२ वैशाख सुदी ३ मूलसंघ भ० जिनचन्द्रजी खंडेलवालान्वय बाकुलियावाल⋯"

५. **शान्तिनाथ (धातु)**—"सं० १५२५ वर्षे माघबदी ५ श्रीमाल जातीये फलहधिया गोत्रे सा० फामन भार्या जीवा पुत्र शाह देवा केन छात्र आंवा सहितेन पुण्यश्रेयअर्थम् श्री शान्तिनाथ बिम्बका प्रतिष्ठितम् श्री धर्मघोष गच्छे श्री साधु रत्नसूरिभिः ।"

६. **पार्श्वनाथ (पाषाण)**—"सं० १५४८ माघसुदी ५ जीवराज पापड़ीवाल नित्यं प्रणमति ।"

७. **पार्श्वनाथ (पाषाण)**—"सं० १५४८ वैशाख सुदी ९ मूलसंघे भ० श्रीजिनचंद्र देवान्वय जीवराज पापड़ीवाल प्रणमति सय्या (?) श्रीराजा जी शिवसंघ राज्ये ।"

८. **आदिनाथ**—"सं० १८८१ माघ शुक्ल ६ शुक्रवासरे काष्ठासंघे भ० श्रीजिनकीर्ति तदाम्नाये अग्रोतकान्वये श्री साधु हीरालाल बिम्बकम् प्रतिष्ठा करापितं ।"

९. **महावीर (कृष्ण पाषाण)**—'सं० १८८१ मिती मगसिर सुदी ५ शुक्रवार काष्ठा-संघे माथुरगच्छे पुष्करगणे लोहाचार्यान्वये भ० श्रीनयकीर्त्ति तत्पट्टे भ० ललितकीर्त्ति तदाम्नाये अग्रोतकान्वये गोयलगोत्रे प्रयागनगरे वास्तव्य साधु श्री माणिकचंद्र पुत्र हीरालालेन कौसाम्बीपुरी बिम्ब प्रतिष्ठापितं ।"

१०. **चन्द्रप्रभ (पाषाण)**—"वैशाख सु० ३ भट्टारक...।,'

११. **शान्तिनाथ (धातु)**—"सं० १९३५ माघसुदी ३ भ० राजेन्द्रकीर्त्ति तदाम्नाये मिहरचंद प्रतिष्ठितम् इन्द्रप्रस्थ—दिल्ली ।"

१२. **शान्तिनाथ (पाषाण)**—"सं० १९५५ माघसुदी ९ सुंदरलाल मध्ये प्रतिष्ठित हाथरस ।"

१३. **पार्श्वनाथ**—"सं० १९५५ माघसुदी ९ प्रतिष्ठितं हाथरस ।"

१४. **शान्तिनाथ**—"सं० १९५७ माघशुक्ल १५ खुरजानगरे प्रतिष्ठितम् ।'

१५. **नेमिनाथ**—"सं० १९६४ माघसुदी १३ श्री कुंदकुंद उपदेशात्प्रतिष्ठितम् सेढ़मल अभैराम गोपीनाथ।"

१६. **महावीर**—"वीर नि० सं० २४६९ विक्रम सं० २००० वैशाखमासे शुक्लपक्षे १५ बुधवासरे दिल्लीनगरे।"

१७. **सिद्ध परमेष्ठी धातु**—"सं० १९७८ वैशाखशुक्ल १५ एटानगरे प्रतिष्ठितं।"

केवल इस सिद्ध प्रतिमा में ही एटा नगर का उल्लेख है, जिससे स्पष्ट है कि एटा में सं० १९७८ में जिन बिम्ब प्रतिष्ठोत्सव हुआ था। अवशेष प्रतिमाएँ बाहर से लाकर वहाँ विराजमान की गईं प्रतीत होती हैं। नं० ९ के मूर्तिलेख से स्पष्ट है कि सं० १८८१ में कौशाम्बी में जिनबिम्ब प्रतिष्ठा हुई थी, जिसमें प्रयाग निवासी श्रीहीरालाल जी ने उक्त मूर्त्ति प्रतिष्ठित कराई थी। नं० ११ की मूर्ति दिल्ली में श्रीमेहरचंद जी के मेले की सं० १९३५ की प्रतिष्ठित कराई हुई है। हाथरस में सं० १९५५ में बिम्ब प्रतिष्ठा हुई—उस समय की प्रतिष्ठित मूर्तियाँ कई हैं। नं० १४ के मूर्तिलेख से स्पष्ट है कि सं० १९५७ में खुर्जा में जैन मेला हुआ था। इन मेलों में वैष्णवों ने कितना घोर विरोध किया था, यह एक ऐतिहासिक वार्त्ता है। श्रीमहावीर जी की मूर्ति अभी गतवर्ष दिल्ली से प्रतिष्ठा कराकर लाई गई है। हाल में ही चांदी की मूर्तियां भी प्रतिष्ठित कराकर विराजमान की गई हैं। इन मूर्तिलेखों में निम्न आचार्यों और भट्टारकों का उल्लेख उनकी आम्नाय सहित हुआ है :—

१. **मूलसंघ** (सं० १३८८)

२. **वीरप्रभसूरिगच्छ** (सं० १४७७)—दिगम्बर संघों में इस नाम का कोई गच्छ है या था, यह अन्वेषण की चीज है।

३. **मूलसंघी** भ० जिनचन्द्र जी (सं० १५०२)

४. **श्रीधर्मघोषगच्छे** साधु रत्नसूरि—दिगम्बर संघों में इस गच्छ का भी पता लगाना चाहिये।

५. **काष्ठासंघे** भ० जिनकीर्त्ति (सं० १८८१)

६. **काष्ठसंघे** माथुरगच्छे पुष्करगणे लोहाचार्यान्वयी भ० नयकीर्त्ति के शिष्य भ० ललितकीर्त्ति (सं० १८८१)

७. **भ० राजेन्द्रकीर्त्ति** (सं १९३५)

प्रागवाट, खंडेलवाल (बाकुलियावालगोत्र), श्रीमाल (फलहथिया गोत्र) और अग्रोत (अग्रवाल) नामक उपजातियों के उल्लेख भी इन लेखों में हैं। किन्तु आश्चर्य है कि इनमें कहीं भी पद्मावतीपुरवाल उपजाति का उल्लेख नहीं है, जब कि एटा उस जाति का केन्द्र है। मोड़ासा नगर के श्रीजीवराज जी पापड़ीवाल की प्रतिष्ठा कराई हुई प्रतिमायें यहाँ भी हैं।

आठवीं शताब्दी में भारत के प्रधान राज्य*

[ले०—श्रीयुत प्रफुल्लकुमार मोदी, एम० ए०, एल० एल० बी०]

महासम्राट् हर्ष के पश्चात् की दो तीन शताब्दियों का उत्तर भारत का इतिहास बहुत कुछ अन्धकार में है। और जो भी कुछ प्रकाश साहित्य व शिलालेखों द्वारा प्राप्त हो सकता है वह बहुत वाञ्छनीय है। एक ऐसे ही प्रकाश की महत्त्वपूर्ण किरण हमें जैन लेखक जिनसेन द्वारा प्राप्त होती है। जिनसेन अपने हरिवंश पुराण में कहते हैं कि उन्होंने वह रचना वर्धमानपुर में श० सं० ७०५ में समाप्त की। वे अपने समकालीन राजाओं तथा उनके राज्यों की सीमाओं का भी उल्लेख करते हैं। उनके प्रस्तुतोपयोगी पद्य निम्नानुसार हैं :—

शाकेष्वब्दशतेषु सप्तसु दिशं पञ्चोत्तरेषूत्तरां,
पातीन्द्रायुधनाम्नि कृष्णनृपजे श्रीवल्लभे दक्षिणाम्।
पूर्वां श्रीमदवन्तिभूभृति नृपे वत्सादिराजेऽपरां
सौराणामधिमंडलं जययुते वीरे वराहेऽवति ॥५२॥
कल्याणैः परिवर्धमानविपुलश्रीवर्धमाने पुरे।
श्रीपार्श्वालयनन्नराजवसतौ पर्याप्तशेषः पुरा।
पश्चाद्दोस्तटिकाप्रजाप्रजनितप्राज्यार्चनावर्चने
शान्तेः शान्तगृहे जिनस्य रचितो वंशो हरीणामयम् ॥५३॥
(सर्ग ६६)

इन लेखों का महत्त्व बहुत काल पहले से स्वीकार किया जा चुका है और वी. स्मिथ, आर. जी. भंडारकर, सी. वी. वैद्य, एच. सी. ओझा और अल्तेकर जैसे इतिहासकारों ने इनका उपयोग अपने अपने ग्रन्थों में किया है। परन्तु इनमें से किसी ने भी कवि द्वारा निर्दिष्ट राज्यों की सीमाओं का विवेचन नहीं किया और न उस नगर की खोज करने का कोई प्रयत्न किया जहां कि कवि ने रचना की थी और जो उल्लिखित राज्यों की सीमा पर स्थित होकर उन्हें अलग अलग करता था। उक्त इतिहासकारों की ऐसी कुछ धारणा दिखाई देती है कि जिनसेन ने बिना किसी निश्चित सीमा की जानकारी के उत्तर भारत की चारों दिशाओं के राज्यों का उल्लेख मात्र किया है। इस धारणा से कभी कभी बड़ी भ्रान्ति उत्पन्न हुई है। उदाहरणार्थ सी. वी. वैद्य पूर्व में राज्य करने वाले 'अवन्तिभूभृति' के सम्बन्ध में लिखते हैं कि "ऐसा मालूम होता है कि अवन्तिभूभृति शब्द का अनुवाद अवन्ति का राजा ठीक नहीं है क्योंकि अवन्ति या मालवा पूर्व में नहीं हो सकता। उसका

* यह लेख मेरे पिता डा० हीरालाल जी जैन के "The chief political divisions of India during tha eighth century" शीर्षक लेख का उनकी अनुमति से मेरे द्वारा किया हुआ अनुवाद है। —लेखक,

शुद्ध अनुवाद है राजा अवन्ति अर्थात् अवन्ति नाम के राजा।" (Mediaeval Hindu India Vol II, p, 101, 102;Poona 1924) परन्तु उन्होंने इस पूरे पर्व के अधिकारी राजा अवन्ति की किसी से समता नहीं बैठाई क्योंकि स्पष्टतया इतिहासानुसार ऐसा कोई राजा हुआ ही नहीं।

डा. ए. एन. उपाध्ये ने अभी अभी हरिषेण कृत बृहत् कथाकोष के संस्करण की प्रस्तावना में उस प्रधान स्थान को निश्चित करने का प्रयत्न किया है जिसका कि जिनसेन ने भारत के राजनैतिक विभाग के बारे में लिखते हुए उल्लेख किया है। (भारतीय विद्या भवन, बम्बई, १९४३)। पं० नाथूराम जी प्रेमी ने भी अपनी रचना "जैन साहित्य और इतिहास" के 'आचार्य जिनसेन और उनका हरिवंश' शीर्षक में ऐसाही प्रयत्न किया है। (बम्बई १९४२) ये दोनों विद्वान् इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि वह वर्धमानपुर जहां कि जिनसेन ने अपना हरिवंश पुराण लिखा था, काठियावाड़ में स्थित बढ़वान ही है क्योंकि— "जिनसेन ने अपना हरिवंश वर्धमानपुर में उस समय लिखा जब कि इन्द्रायुध उत्तर में, कृष्णनृप का पुत्र श्रीवल्लभ दक्षिण में, अवन्ति का राजा वत्सराज पूर्व में और पश्चिम में सौरमण्डल पर वीर जयवराह राज्य कर रहे थे। इसके १४८ वर्ष बाद हरिषेण एक विनायकपाल का सम्बन्ध वर्धमानपुर से बतलाते हैं। इस स्थान की स्थिति बंगाल या दक्षिण में मानने से उन उल्लेखों की यथार्थतः सिद्धि नहीं होती। परन्तु उसकी समता बढ़वान से बैठा लेने पर सब बातें समाधानतापूर्वक समझाई जा सकती हैं। कन्नौज के इन्द्रराज, जिनका कि राज्य, पर्याप्त अंश में पश्चिम दिशा में फैला हुआ मालूम होता है, की समता इन्द्रायुध से बैठाई जा सकती है; श्रीवल्लभ की द्वितीय गोविन्द से जो कि दक्षिण में राष्ट्रकूट राज्य के राजा कृष्ण प्रथम के पुत्र थे; अवन्ति के राजा वत्सराज की उसी नाम के गुर्जर प्रतिहार शासक से और वीर जयवराह, जिनके बारे में अन्यत्र से कुछ भी पता नहीं चलता, सौरमण्डल या सुराष्ट्र पर राज्य करते थे। ये दिशाएँ और शासक एकमात्र बढ़वान को ही लागू होती हैं।" (बृ० क० की प्रस्तावना पृ० १२१)

पं० नाथूरामजी प्रेमी ने इन चार राजाओं एवं उनके राज्यों पर और भी पूर्णतः अपने विचार प्रकट किये हैं और उनका मत भी यही है। इन्द्रायुध और वत्सराज के स्थानों तथा उनके राज्यों के बारे में प्रेमीजी का कथन निम्नानुसार है:—

"श्वेताम्बराचार्य उद्योतनसूरि ने अपनी 'कुवलयमाला' नामक प्राकृत कथा जावालिपुर या जालोर (मारवाड़) में जब श० सं० ७०० के समाप्त होने में एक दिन बाकी था तब समाप्त की थी, और उस समय वत्सराज्य का राज्य था। अर्थात् हरिवंश की रचना के समय (श० ७०५ में) तो (उत्तर) में मारवाड़ इन्द्रायुध के अधिकार में था और (पूर्व में) मालवा वत्सराज के अधिकार में। परन्तु इसके पांच वर्ष पहले (श० ७०० में) कुवलयमाला की

रचना के समय मारवाड़ का अधिकारी भी वत्सराज था। इससे अनुमान होता है कि पहले मारवाड़ और मालवा दोनों ही इन्द्रायुध के अधिकार में थे—पहले. श० ७०० से पहले मारवाड और फिर श० ७०५ से पहले मालवा। इसके बाद ७०७ में ध्रुवराज ने मालवराज की सहायता के लिये चढ़ाई करके वत्सराज को मारवाड़ की अर्थात् जालोर की ओर खदेड़ दिया होगा और मालवे का पुराना राजा यह इन्द्रायुध ही होगा जिसकी सहायता ध्रुव ने की थी। यह निश्चित है कि कन्नौज का साम्राज्य, जो बहुत विस्तृत था और जिसमें मारवाड़ और मालवा भी शामिल थे, इसी वत्सराज के पुत्र नागभट्ट ने इसी इन्द्रायुध के पुत्र चक्रायुध से छीना था और इस प्रवृत्ति का प्रारंभ वत्सराज के समय से ही हो गया था। पहले ध्रुवराज ने इसमें बाधा डाली, परन्तु पीछे, उक्त साम्राज्य प्रतिहारों के ही हाथ में चला गया। इन सब बातों से हरिवंश की रचना के समय उत्तर में इन्द्रायुध और पूर्व में वत्सराज का राज्य होना ठीक मालूम होता है। (जैन साहित्य और इतिहास पृ० ४२६-२७)

इन दोनों विद्वानों के कथनों पर सूक्ष्म विचार की आवश्यकता है। विचार करने योग्य पहला विषय यह है कि क्या इन्द्रायुध का राज्य श० ७०५ में इस अंश तक पश्चिम की ओर फैला हुआ था कि वह बड़वान के उत्तर तक पहुंचा कहा जा सकता है। नक्शे की ओर देखने से पता चलता है कि बड़वान सौराष्ट्र या काठियावाड़ में ही स्थित है। उसके उत्तर में मारवाड़ का प्रदेश है और इस प्रदेश पर कभी इन्द्रायुध का राज्य सिद्ध करने के लिये कहीं कोई प्रमाण यत् किंचित् मात्रा में भी उपलब्ध नहीं है। उसके विपरीत प्रेमी जी उद्योतनसूरिकृत कुवलयमाला के उस उल्लेख की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करते हैं जिससे सिद्ध होता है कि श० ७०० में मारवाड़ पर वत्सराज राज्य करता था। वर्धमानपुर की समता बड़वान से बैठाने में जो कठिनाई उपस्थित होती है उसे पार करने के लिये प्रेमी जी का अनुमान है कि जिनसेन के समय में इस राज्य में परिवर्तन हुए होंगे। इस तर्क में कुछ ऐसी भ्रान्ति है जिसके कारण जो सिद्ध किया जा रहा था उसके विपरीत सिद्ध होता है और यह सिद्ध करने के लिये कि इन्द्रायुध बड़वान के उत्तर का शासक था, कोई तर्क नहीं रह जाता। तत्कालीन इतिहास से हमें यह पता चलता है कि उस समय कन्नौज के राज्य पर उत्तर-पश्चिम से काश्मीर के शासक का, और पूर्व से बंगाल या गौड़ के शासक का दबाव पड़ रहा था। इसलिये कन्नौज के राजा को अपने ही प्रदेशों की रक्षा करना कठिन हो रहा था और वह इस योग्य नहीं था कि कोई नये देश विजय करे। उसके विपरीत वत्सराज के प्रपितामह नागभट्ट या नागावलोक के द्वारा भिनमाल में स्थापित किया हुआ मारवाड़ का राज्य कन्नौज और आसपास के राज्यों को क्षति पहुंचाता हुआ उत्तरोत्तर वृद्धि कर रहा था। अंकलेश्वर तालुके के हंसोट ग्राम से उपलब्ध वि० सं० ८१३, श० ६७८ के ताम्रपट्ट लेख से यह स्पष्ट प्रमाणित है कि नागावलोक का साम्राज्य दक्षिण

में भडोच तक तो कम से कम फैला ही था (Ep. Ind. XII p. 202-3)। नागभट्ट को अपनी शक्ति का परिचय बलच म्लेच्छों को देना पड़ा और उनकी शक्ति का उसने नाश किया (ग्वालियर प्रशस्ति, (Arch. Survey of India 1903-4 p. 280)। इस प्रकार श० ६७८ में वत्सराज के प्रपितामह का अखण्ड राज्य भिनमाल से भडोच तक फैला हुआ था और वत्सराज के समय तक साम्राज्य की हालत बिगड़ने के कोई प्रमाण नहीं हैं। यह सिद्ध करने को कि इन्द्रायुध का राज्य श० ७०५ में पर्याप्त अंश में पश्चिम में फैला हुआ था और वह बड़वान के उत्तर के प्रदेश का साम्राट् था, कोई भी प्रमाण उपलब्ध नहीं है। उसके विपरीत बड़वान के उत्तर और पूर्व दोनों दिशाओं में ही वत्सराज का राज्य पाया जाता है।

विचारने योग्य दूसरा प्रश्न यह है कि क्या जिनसेन के कथनों का यह अर्थ लगाया जा सकता है कि श० ७०५ में वर्धमानपुर के पूर्व में अवन्ति का राजा वत्सराज था और पश्चिम में सौराष्ट्र वीर जयवराह के अधिकार में था। इसमें दुहरी कठिनाई है—एक तो वाक्य में शब्द रचना की, और दूसरी यथार्थ घटनाओं की। जिनसेन के श्लोक की प्रस्तुत विषय से सम्बन्ध रखने वाली पंक्तियां इस प्रकार हैं:—

पूर्वां श्रीमदवन्तिभूभृतिनृपे वत्सादिराजेऽपरां।
सौराणामधिमंडलं जययुते वीरे वराहेऽवति ॥

अब यदि 'वत्सराज' अवन्ति भूभृति का विशेष्य है तो 'नृपे' शब्द का सम्बन्ध किससे जोड़ा जाय? यदि वह भी वत्सराज की ही विशेषता बताता है तो यह श्लोक पुनरोक्ति के दोष से दूषित सिद्ध होता है, जिससे बचने का उपाय यही है कि अवन्तिभृभृत एक व्यक्ति और वत्सराज अन्य ही दूसरा व्यक्ति माना जाय। ऐतिहासिक घटनाएँ भी यही बतलाती हैं। यद्यपि डॉडवेल (Cambridge Shorter history of India p. 131) और अल्तेकर (Rāshtrakutas and their times, p 55. Foot Note 21) का मत है कि वत्सराज अवन्ति का शासक था, किन्तु उसके विरुद्ध स्पष्ट प्रमाण है। हमें उद्योतनसूरि कृत कुवलयमाला से ज्ञान हो चुका है कि श० ७०० में मारवाड़ में वत्सराज का राज्य था। श० ७३४ (Ind. Ant. XII, p. 160) के कर्कराज के बड़ौदा से प्राप्त ताम्रपट्ट लेख इस घटना का साक्षी है कि गुर्जराधीश ने मालवराज पर भीषण आक्रमण किया और कर्कराज की ही सहायता से मालवराज नाश से बच सका। तृतीय गोविन्दराज के राधनपुर और डिंडोरी से प्राप्त लेख स्पष्ट कर देते हैं कि यह गुर्जराधीश वत्सराज ही था। इन ताम्रपटों में इस बात का भी उल्लेख है कि राष्ट्रकूट नरेश ध्रुवराज ने वत्सराज को मारवाड़ में खदेड़ दिया और जो कुछ सामग्री वह बंग देश से लूट लाया था वह भी छीन ली। *तत्कालीन शिलालेख यह सिद्ध करने के लिये पूर्ण प्रमाण हैं कि मालवे का राजा ही अवन्तिभूभृत कहा जा सकता है; वह वत्सराज से अन्य व्यक्ति है और उसके प्रदेशों पर वत्सराज ने आक्रमण किया था। परन्तु राष्ट्रकूट नरेश मालव राज की सहायता को आ*

उपस्थित हुआ और वत्सराज को पीछे हट कर मारवाड़ में लौट आना पड़ा। वत्सराज मालवा को अपने राज्य में नहीं मिला सका यह बात इस प्रमाण से भी सिद्ध होती है कि वत्सराज के पुत्र नागभट्ट द्वितीय को मालवा के किले चक्रायुध से साम्राज्यपद छीन लेनेपर जीतना पड़े (Gualior Ins. Arch. Survey of India 1903-4, p. 281. Verses 8-11)। इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि अवन्ति का राजा वत्सराज से सर्वथा भिन्न है और उसका राज्य सौरमण्डल या सौराष्ट्र की सीमा तक नहीं फैला था। भण्डारकर, ओझा और वैद्य सभी ने दोनों को भिन्न माना है और वत्सराज को पश्चिम में राज्य करता हुआ स्वीकार किया है।

जिनसेन द्वारा उल्लिखित पश्चिम राज्य के विषय में अपरां (दिशं) शब्द का अनुवाद डा० उपाध्ये और पं० प्रेमीजी के अनुसार सौराणामधिमंडलं के साथ लेना पड़ता है जो कि न तो व्याकरण की दृष्टि से बहुत ठीक जँचता और न घटनानुसार सत्य सिद्ध है। हड्डाल से प्राप्त श० ८३६ के ताम्रपट्ट वर्धमान से धरणीवराह द्वारा लिखाये गये हैं जिससे अनुमान किया जा सकता है कि वर्धमान (बड़वान) उनकी राजधानी थी। हम निस्सन्देह रूप से इस बात का अनुमान कर सकते हैं कि जिनसेन द्वारा उल्लिखित वीर जयवराह धरणीवराह का तीन या चार पीढ़ी पूर्व का पूर्वज है और बड़वान में सम्भवतः उसकी भी राजधानी थी। इस प्रकार यह बड़वान सौरमण्डल नामक राज्य की सीमा के अन्तर्गत था। उस स्थिति में क्या बड़वान में लिखते हुए जिनसेन सदृश लेखक यह कहेगा कि सौरमण्डल उसके पश्चिम में स्थित था और अवन्तिभूभृत उसके पूर्व में शासन करता था?

उपर्युक्त विवेचन से श० ७०५ के राजनैतिक विभागों पर निम्न प्रकार प्रकाश पड़ता है :—

उत्तर में कन्नौज से लेकर मालवा की सीमा तक इन्द्रायुध शासन करता था। मालवा के दक्षिण में राष्ट्रकूट नरेशों का राज्य फैला हुआ था। मालवा अवन्ति के राजा के शासन में था और उससे लगकर ही संपूर्ण मारवाड़ और गुजरात में वत्सराज का राज्य था। काठियावाड़ में वीर जयवराह नामक एक अन्य राजा का शासन था।

जैसा कि ऊपर निर्दिष्ट किया गया है, काठियावाड़ में स्थित बड़वान इन राजनैतिक विभागों का केन्द्र सिद्ध नहीं होता। इसलिये जिनसेन द्वारा उल्लिखित वर्धमानपुर की पुनः खोज करने की आवश्यकता है जिससे कि इतिहास सिद्ध घटनाओं का सामञ्जस्य ठीक बैठ सके।

स्पष्टतः ऐसा स्थान जो कि उक्त स्थिति की संपूर्ण आवश्यकताओं की पूर्ति करेगा मध्य भारत में अवन्ति के पश्चिम और गुजरात के पूर्व में स्थित होना चाहिए। ऐसे स्थान की खोज करते हुए उज्जैन से पश्चिम की ओर ४० मील की दूरी पर धार स्टेट में स्थित बदनावर पर हमारी दृष्टि जाती है। वहाँ जिनसेन द्वारा दी गई राजनैतिक सीमाएँ अच्छी

तरह घटित होती हैं। चक्रायुध का कन्नौज का राज्य ठीक उसके उत्तर में पड़ता है और राष्ट्रकूट राज्य, जैसा कि विदित ही है कि वह धार की सीमा को छूता था, बिलकुल उसके दक्षिण में होगा। अवन्ति का शासक उसके पूर्व में है और वत्सराज का राज्य जो, कि पश्चिम में सौरमण्डल या सौराष्ट्र में लगा हुआ था, उसके पश्चिम में। प्राचीन वर्धमानपुर को अर्वाचीन बदनावर के नाम से पहचानने में भी कोई कठिनाई नहीं है। जैसा कि पेशावर (पुरुषपुर), नरवार (नलपुर), और चन्दवार (चन्द्रपुर) के नामों में पाया जाता है, यह विदित ही है कि 'वार' प्राचीन 'पुर' का नया रूप है। वर्धमान का बदना में भ्रष्ट होना भी समझ में आता है। ब सहज ही व का स्थान ले लेता है, व्यंजन धं सरल तालव्य ड य दन्त द को स्थान दे देता है और म एक दूसरे नासिक अक्षर न के सन्निकर्ष से विलीन हो जाता है, किन्तु न के लिये अपना दीर्घदण्ड छोड़ जाता है। इस प्रकार वर्धमानपुर से हमें अर्वाचीन बदनावर या बडनावर नाम प्राप्त होता है।

इस तत्त्व पर पहुंचकर मैंने बिना किसी प्रकार भी अपनी खोज का संकेत दिये ही बदनावर के बारे में जाँच पड़ताल कराई। उसके प्रत्युत्तर में बदनावर के नंदलाल लोढा ने कृपा पूर्वक निम्नानुसार लिख भेजा है :—

"बदनावर का प्राचीन नाम वर्द्धनापुर था जिसकी साक्षी कुछ मूर्त्तियों के लेख में मिलती है। इसी का अपभ्रंश बुधनावर हुआ जो कि अभी भी कितनेक पत्रों में पता चलता है और अब बदनावर के वर्त्तमान नाम में लागू है। यहां पर प्राचीन किला (गढ़) है जो अभी टूटी फूटी हालत में खड़ा है। गांव के किनारे बलवर्त्ती नदी बहती है। उत्तर की तरफ नदी के पार खेड़ा नामक ग्राम है जहां पर प्राचीन मूर्तियां मिलती हैं। यहां पर प्राचीन जैन प्रतिमा, चरण चौकी परिकर आदि भग्नावस्था में कितनी ही जगह मैंने संग्रह किये हैं और कितनी ही अन्य स्थानों पर रखी हुई हैं। प्राप्त किये हुए लेखों में से आवश्यकीय लेख उतार कर भेज रहा हूँ। उसमें वर्द्धमानपुर का भी नाम आया है। यह नाम क्यों आया यह मेरे ख्याल से बाहर है।"

लेख नं० १

"संवत् ११२२ मघसुदी ६.........हस्त दिनेश्च अद्येह वर्द्धनपुरे श्री सीमापुर वास्तव्य प्रनसल्लन देश्र ......सेवा प्रणमति नित्य।"

यह लेख श्याम पाषाण की एक पुरुष स्त्री की मूर्ति की पाटली पर है। यह गांव के पश्चिम बाजू नागेश्वर नामक स्थान पर रखी हुई है।

लेख २

सं० १३२६ ज्येष्ठ सुदि ५ बुधे श्री कुमारसेन चन्द्रकीर्ति वर्द्धमानपुरान्वये साधु बोहित्थ सुत माल्हा भार्या पाणू सुत पील्हा भार्या पाहुणी प्रणमति नित्यं।

उक्त लेख श्याम पाषाण की चरण चौकी पर लिखा हुआ है और जैन मंदिर के पास संगृहीत है।

लेख ३

सं० १२२९ वैशाख बदि ७ शुक्रे अद्येह बर्द्धनापुरे श्री शांतिनाथ चैत्ये सा० भल्लन सा० गोशल ठ० ब्रह्मदेव ठ० कणदेवादि कुटुंबसहितेन निजगोत्रदेव्याः श्री अक्षुप्तायाः (अंबिकायाः ?) प्रतिकृतिः। कारिता श्री कुलचन्द्रोपाध्यायैः प्रतिष्ठिता।

यह लेख श्याम पाषाण की एक देवी की मूर्ति की पाटली पर है और देवी के सिर पर अरहंत की मूर्ति है। यह गांव के पूर्व बैजनाथ मंदिर में रक्खी हुई है।

लेख ४

सं० १२३४ वर्षे माघ सुदी ५ बुधे श्रीमान माथुरसंघे पंडिताचार्य-धर्मकीर्ति-शिष्य ललितकीर्तिः। बर्द्धमानपुरान्वये सा० प्रामदेव भार्या प्राहिणी सुता राणू सा० दिगम सा० याका सा० जाहड सा राणू भार्या मणिकसुत महणा कीनू केलू बालू सा० महणा भार्या रूपिणी सुत नेमि धांधा वीजा यमदेव षमा रामदेव सिरीचन्द प्रणमति नित्यं।

यह लेख श्याम पाषाण की एक देवी की मूर्ति की पाटली पर है। यह मूर्ति बदनावर से पूर्व में अमला नामक ग्राम में गई हुई जैन मंदिर में स्थापित है। अमला पांच मील दूरी पर है।"

इन शिलालेखों में मुझे वर्धनपुर या वर्धनापुर बदनावर का ही गढ़ाऊ संस्कृत रूपान्तर प्रतीत होता है। कुछ शताब्दियों में बदनावर पहले वर्धमानपुर से विकृत हुआ होगा, जब कि यथार्थ और प्राचीन नाम आम्नाय के नाम में सुरक्षित रह गया। यह आम्नाय जो कि पुन्नाट गण की शाखा है और जिसकी कि जिनसेन के समय से वहाँ नींव डाली गई थी, वहाँ तभी से चला आया प्रतीत होता है।

इस साम्य में एक ही कठिनाई रह जाती है। और वह यह कि जिनसेन ने अपनी प्रशस्ति के ४४ वें श्लोक में निकट ही शिव के लिये स्थित ऊर्जयन्तालय की देवी सिंह-वाहिनी का उल्लेख किया है। वह श्लोक निम्नानुसार है :—

ग्रहीतचक्राऽप्रतिचक्रदेवता तथोर्जयन्तालयसिंहवाहिनी।
शिवाय यस्मिन्निह सन्निधीयते क्व तत्र विघ्नाः प्रभवन्ति शासने॥

स्पष्टतः यहाँ गिरनार या ऊर्जयन्त की प्रसिद्ध देवी अम्बिका की मूर्ति का उल्लेख है और साधारणतः यह बदनावर के निकट नहीं कही जा सकती। परन्तु श्लोक और उसकी काव्य-कल्पना की ओर विशेष ध्यान देने से यह कठिनाई भी हल हो जाती है। यद्यपि बदनावर ऊर्जयन्त के बहुत निकट नहीं है, फिर भी वह उज्जैन के पास ही है और उज्जैन में

शिवजी का प्रसिद्ध महाकाल मन्दिर युगों से खड़ा है। सम्भवतः ऊर्जयन्तस्थ अम्बिका की मूर्त्ति की प्रतिकृति की स्थापना बर्धमानपुर में की गई होगी और इस घटना को ही कल्पना कवि इस प्रकार करते हैं कि मानों उस प्रदेश में अम्बिका शिव से मिलने को आई हों। इस प्रकार शिव शब्द में श्लेष है जिसका अर्थ शिव अर्थात् शंकर व क्षेम है। यह कल्पना श्लोक में विशेष सौंदर्य और कवित्व ला देती है। सम्भवतः सिंहवाहिनी देवी को एक जैन मुनि शिवार्थ उपस्थित हुई इसी प्रकार सोच सकता है। इस सम्बन्ध में ऊपर दिया हुआ लेख नं० ३ ध्यान देने योग्य है। वह यह प्रकट करता है कि देवी अम्बिका की मूर्ति स्थापित करने का चलन वहां १२ वीं शताब्दि तक था।

प्रसंगवश जिनसेन ने सौराष्ट्र के नाम की उत्पत्ति की ओर एक नया संकेत किया है। इसके पहले तक सौराष्ट्र की उत्पत्ति 'सु + राष्ट्र' से मानी जाती थी और वह सौराज्य के अर्थ में लिया जाता था। (J. A. S. B., 1873 p. 105; N. L. Dey's Geographical Dictionary) जिनसेन का उसको 'सौराणामधिमंडलं' के नाम से उल्लेख करना यह दर्शित करता है कि उस देश के पुराने रहवासी सम्भवतः इस कारण से कि वे सूर्य की पूजा करते थे, अपने को सौर कहते थे और उन्होंने वही नाम उस देश को भी दिया।

यही बदनावर या प्राचीन बर्धमानपुर वह नगर भी होना चाहिये जहां कि शक ८५३ में जिनसेन के १४८ वर्ष पश्चात हरिषेण ने अपने कथाकोष की रचना की। यह अच्छी तरह ज्ञात है कि उस समय तक मध्य भारत और मालवा के राज्य को मिलाकर पूरा उत्तर भारत गुर्जर प्रतिहार भूपालों के आधिपत्य में आ गया था। उन नरेशों में से विनायकपाल सन् ९३१ या श० ८५३ में राज्य कर रहा था और ठीक उसी वर्ष में कथाकोष की रचना हुई थी। यद्यपि इन सम्राटों का आधिपत्य सौराष्ट्र तक फैला हुआ था फिर भी, जैसा कि प्रमाणित है, वराह राजाओं का राज्य उस प्रान्त में बना ही रहा जैसा कि हड्डाला से प्राप्त श० ८३६ के धारणीवराह के ताम्रपट्टों से स्पष्ट है। यदि हरिषेण ने वराह राजाओं की राजधानी बढवान में अपनी रचना की होती तो वे कम से कम अपने सम्राट् के साथ ही साथ प्रान्तीय राजा का उल्लेख करना भी न भूले होते। इससे भी यह स्पष्ट होता है कि बढवान वह स्थान नहीं है जहाँ कि कथाकोष की रचना हुई।

यदि जिनसेन के वर्धमानपुर की समता बदनावर से ठीक सिद्ध होती है तो यह जिनसेन द्वारा उल्लिखित दूसरे स्थान की समता बैठाने में भी सहायक होना चाहिए। यह स्थान दोस्तटिका है जहाँ कि जिनसेन ने अपना हरिवंशपुराण पूरा किया और जिसकी खोज करने का प्रयत्न न पं० प्रेमी जी ने और न डा० उपाध्ये ने किया है। बदनावर के पश्चिम में कोई बारह मील की दूरी पर दोतरिया नाम का एक गांव है। यही स्थान मुझे उस दोस्तटिका का अर्वाचीन रूप प्रतीत होता है, जहाँ कि जिनसेन ने अपने वर्धमानपुर छोड़ने के समय तक अपूर्ण हरिवंश की रचना पूरी की थी।

इस नये नाम की पुराने नाम से तुलना करने पर मुझे यह प्रतीत होता है कि पहला नाम दोस्तरिका रहा होगा। यह नाम पहले उसके पूर्व की ओर बहती हुई नदी बागेड़ी को दिया गया होगा जो कि इतनी गहरी होगी कि 'भुजाओं से पार की जाय'। उसके संबन्ध से गांव भी उसी नाम से पुकारा जाने लगा होगा। या फिर उस ग्राम का यथार्थ नाम द्वितटिका रहा होगा, पीछे वह दोतटिका में विकृत हुआ और फिर उसका भ्रान्त संस्कृत रूपान्तर दोस्तटिका हुआ। इस नाम की सार्थकता यह हो सकती है कि गांव के दोनों तरफ नदी किनारा है, क्योंकि यह गांव माही और बागेड़ी दो नदियों के मध्य बसा है। माही गांव से एक मील की दूरी पर बहती है और इसी में बागेड़ी नदी गाँव से कुछ दूर जाकर मिली है। दोतरिया के विषय में लिखते हुए नंदलाल जी लोढा ने मुझे निम्ना-नुसार लिख भेजा है :—

"दोतरिया बदनावर से पश्चिम दिशा में १० मील की दूरी पर है। गांव के पास बागेड़ी नदी बहती है और एक मील की दूरी पर माही नदी बहती है। बागेड़ी कुछ दूर जाकर बोरदा के पास माही में मिली है। दोतरिया के पास माही नदी जो है उसके पश्चिम तरफ गुजरात वा पूर्व की तरफ मालवा की सीमा की शुरूआत मानते हैं।"

इस भांति दोतरिया अभी भी मालवा और गुजरात की सीमा पर है।

झमगुलाल चरित्र

[ले०—श्रीयुत अगरचन्द नाहटा]

कन्नड़, तामिल, अपभ्रंश, और हिन्दी इन चार भाषाओं का साहित्य दिगम्बर सम्प्रदाय द्वारा रचित बहुत ही महत्वपूर्ण एवं भारतीय साहित्य में अपना एक विशेष स्थान रखने योग्य है। तामिल साहित्य के सम्बन्ध में प्रो० चक्रवर्ती की पुस्तक अंग्रेजी में प्रकाशित हुई थी और उसके कुछ हिस्से का हिन्दी भाषान्तर अनेकान्त में प्रकाशित हुआ था। कन्नड़ जैन साहित्य के सम्बन्ध में कुछ लेख अनेकान्त एवं जैन सिद्धान्त भास्कर आदि में प्रकाशित हुए थे पर उनका परिवर्द्धन कर के एक स्वतन्त्र पुस्तक निकालना अत्यन्त आवश्यक है। अपभ्रंश साहित्य के सम्बन्ध में भी कई लेख अवश्य प्रकाशित हुए हैं पर अपभ्रंश साहित्य का इतिहास जो कि भारतीय भाषाओं के अध्ययन के लिए बहुत ही महत्वपूर्ण और उपयोगी है, बहुत शीघ्र ही प्रकाश में आना चाहिये। हिन्दी भाषा में दिगम्बर साहित्य बहुत विस्तृत है छोटी बड़ी सहस्राधिक रचनाएँ दि० विद्वानों द्वारा रचित हिन्दी भाषा में पाई जाती हैं। पर बहुत वर्ष पूर्व प्रेमीजी ने हिन्दी जैन साहित्य का इतिहास ग्रन्थ प्रकाशित किया था उसके पश्चात् कोई सुन्दर रचना अभी तक प्रकाश में नहीं आई। कई पत्रिकाओं से ज्ञात हुआ कि इस विषय में एक दो विद्वान काम कर रहे हैं पर मेरे नम्र मतानुसार उनका वह प्रयास जैसा ठोस चाहिए नजर नहीं आता। दिगम्बर भण्डारों की छानबीन जब तक साहित्य के इतिहास का लेखक स्वयं न कर ले तब तक केवल प्रसिद्ध थोड़े से ग्रन्थों का विवेचन कर देने मात्र से ही पूरा इतिहास नहीं कहा जा सकता। पं० परमानन्दजी ने कुछ भंडारों की खोज अवश्य की है पर अभी तक तो मुकम्मल सूची भी नहीं बन पाई है अतः दिगम्बर समाज का सब से पहला कर्त्तव्य है कि ८-१० विद्वानों को भारत के विभिन्न स्थानों के दिगम्बर भण्डारों के आवश्यक विवरण सह सूची तैयार करने के लिये नियुक्त करे और उनकी खोज के आधार से दिगम्बर जैन ग्रन्थ--सूची प्रकाशित की जाय। वीर-सेवा-मंदिर-सरसावा द्वारा इसका प्रयत्न चालू है पर वह इतनी मंद गति से चल रहा है कि वर्षों में भी जैसा चाहिये कार्य होना संभव नहीं प्रतीत होता; इस बृहद् कार्य में एक दो विद्वानों के लगने से ही काम नहीं चलेगा, अतः कार्य की गुरुता पर विचार कर पाँच-सात विद्वान् तो इसी एक कार्य के लिये वर्ष भर के लिये रोके जाँय, यह बहुत ही आवश्यक है उसके बाद अपभ्रंश एवं हिन्दी जैन साहित्य का इतिहास लिखा जाय तो ज्यादा सुन्दर होगा पर इसी बीच में भी यदि ये ग्रन्थ प्रकाशित किये जाँय तो उनके लेखकों को उचित है कि वे अभी तक जिन २ भंडारों की सूची बन चुकी है—दिल्ली, जयपुर आदि के भंडारों का स्वयं कुछ महीने रह कर अन्वेषण कर के (ग्रन्थों को स्वयं देख के फिर उसे) प्रकाशित करें अर्थात् जितने ग्रन्थों का अभी तक पता चला है उनके विषय में तो आवश्यक जानकारी छूटने न पावे और भूल भ्रान्ति न रहे यह ध्यान में रखा जाय। किसी भी ग्रन्थ को

स्वयं जाँच पड़ताल किये बिना दूसरों के देखा देखी लिख देने में भूल और भ्रान्ति होने की पूरी संभावना रहती है जिसका एक ताजा उदाहरण इस लेख में दिया जा रहा है। अनेकान्त वर्ष ४ अं० ८ में ब्रह्मगुलाल चरित्र का रचना काल सं० १६०६ बतलाया है पर विशेष विचार करने पर इसका समय सं० १९०९ ही उचित जान पड़ता है। इस ग्रन्थ का संक्षिप्त परिचय इस लेख में दिया जा रहा है।

ग्रन्थ-परिचय

ब्रह्मगुलाल चरित्र एक ऐतिहासिक काव्य है इसमें पद्मावती पुरवाल जाति के ब्रह्मगुलाल नामक दि० मुनि का चरित्र २४ खंडों में दिया गया है। खंडों के अंत में जो निर्देश किया गया है उससे ग्रन्थ के विषय का भली भाँति परिचय हो जाता है अत: खण्डों के नाम निर्देशात्मक उल्लेख नीचे दिये जाते हैं—

१ इति ब्रह्मगुलालचरित्रे मध्यदेश पुर शोभा रूप प्रथम प्रभाव: ।

२ ,, कर्मभूमि उतिपति, वंशस्थापन विधि बरनन ।

३ ,, सोमवंश में बनिकवृत्ति ग्रहन, पद्मावतीपुरवार अस्य तिनमें पारेनि की होनि टापे में वास, ग्रग (दिगर !) हल्ल उतपति बरनने तृतीया सिध (संधि)।

४ हल्ल बाहिर गमन, ग्रह परिवार दाह, हल्ल आगमन राजसम्मान, राजद्वार निवास बरननो चतुर्थम संधे।

५ हल्लविवाह राजा उपाय विचारन बहुरिउपाय करन विध विवाह बरनन रूप पंचमसंधि।

६ दंपति कामभोग, पुत्रजन्म उत्सव, सरीर सोभा वर्नन छट्टी संधि।

७ ब्रह्मगुलाल बालक्रीडा, विद्यालाभ बरनन रूप (सप्तमसंधि)।

८ अनेक स्वांग धारन प्रवर्ति बहुरि बहुजना बरजन थकी ग्रह कारजि प्रति धरन अष्टम संधि।

९ ग्रह प्रवर्ति तथा विवाह विध वर्नन नवम संधि।

१० बसंत रति आगमन महिमा बहुरि ब्रह्मगुलाल स्वांग भरनन वरननरूप (दस)म संधि।

११ ब्रह्मगुलाल सिंघ, स्वांग करन, सभाप्रवेश, राज्यपुत्र मरन वरनन रूप।

१२ ब्रह्मगुलाल सोच मित्रबर्ग प्रश्नोत्तर संवाद द्वादशम संधि।

१३ राजा सोग, मंत्री वचनतें उपसम, बहुरि मंत्री राजा सो मुनि स्वांग पेरक वचन, राज प्रमान करन वरननरूप तेरम प्रभाव।

१४ राजा निकट बुलामन, मुनि भेष धारन आदेश, ब्रह्मगुलाल अंगीकार, पश्चात कुटुंबीजन मंत्र बरनन रूप चौदम संधि।

१५ अनुपेक्षा चिन्तवन तपग्रहनि निहच सोलमी (पंद्रहवीं) संधि ।

१६ जिनमंदिर गमन, जिन प्रति सब की नाख, मुनिव्रत प्रतिमा ग्रहन करन सोलमी संधि ।

१७ ब्रह्मगुलाल राजसभा प्रवेस, भूपति संबोधन वचन बरनन सतरमी० ।

१८ राजा प्रश्न, वरदान वचन, ब्रह्मगुलाल अनाशकार (अस्वीकार) परिग्रह निषेध बरनन रूप, बहु (रि) राजा प्रश्न उत्तर १८ संधि ।

१९ परि(ज)न घर चलन अरदास, कुमर घर चलन निषेध बरनन रूप १९ संधि ।

२० परियन घर गमन, कुमर नार सोक, दसा श्री जन समझावन, कुमर मनावन कुमर, संबोधन बरनन रूप संधि २० ।

२१ स्त्री पुरुष प्रश्नोत्तर बरनन रूप २१ संधि ।

२२ स्त्री जन घर आ (ग) मन, पुरजन माथुरा मल सो उलहना, मथुरामल कुमर पास गमन बरनन २२ संधि ।

२३ मथुरामल ब्रह्मगुलाल प्रश्नोत्तर संवाद बरनन रूप तेवीसमा प्र० ।

२४ मथुरामल ब्रह्मचरज व्रत ग्रहन प्रतिज्ञा वरनन, चौबीसमा प्रकरन । *

इसके पश्चात् अंतिम खण्ड एक और है पर उसका नाम नहीं पाया गया ।

छंद—ग्रन्थ में दोहा और चौपाइ प्रायः दो ही छंद व्यवहृत हैं। कई खंडों में तो आदि और अंत का पद्य दोहा छंद का है बीच के पद्य चौपइ छंद में है पर कइयों में दोहे अधिक भी हैं। कई सवैये व भरथरी चाल के पद्य भी हैं।

पद्य संख्या—साधारणतया सभी खंड २६-२६ पद्यों के हैं पर संधि नं० १८।२३। में १-१ पद्य अधिक हैं अर्थात समस्त पद्यों की संख्या ६५२ हैं। प्रथम सधि के मंगलाचरण में साधारण जिन, अन्य २४ संधियों में क्रमवार २४ जिन की स्तुति हैं ।

प्रति परिचय—प्रति ३२ पन्नों की है प्रति पृष्ठ पंक्ति १२ प्रति पंक्ति अक्षर ४७ हैं। पन्नों का साइज ११॥ × ६॥ है। ग्रन्थ का पाठ कहीं २ अशुद्ध है।

लेखकप्रशस्ति—मिति कातिक सुदी ८ वी० सं० २०५१ हस्ताक्षर मोतीराम जैन पालम निवासी ॥

ग्रन्थ का निर्माणकाल ।

प्रस्तुत प्रति के प्रथम पत्र के पीछे के पृष्ठ में कवि छत्रपति ने सं० १६०६ में रचा लिखा है मूल ग्रन्थ में भी निम्नोक्त पद्य है—

"संवतसर विक्रम तनौ सार, रसना रस ससि लिख अंक लार ।
बदि माघ दुआदसि नी सांझ, पूरना रिषि पुइवा खांड मांझ ।२५।

* प्रति अशुद्ध है उसका आभास पाने के लिये प्रकरणों के नाम जैसे लिखे हैं प्रकाशित किये जा रहे हैं

साधारणतया रस से ६ का अंक लिया जाता है पर ग्रन्थ की भाषा एवं ब्रह्मगुलाल के पिता दिरग, हल्ल का समय १६००-१७०० के मध्य में ग्रन्थकार स्वयँ बतला रहा है इस पर विचार करने पर सं० १६०६ संभव नहीं प्रतीत हुआ। रस से कहीं ९ का अंक भी लिया गया है अतः सं० १९०९ होना संभव प्रतीत हुआ पर इसके लिये अन्य प्रमाण की आवश्यकता थी अतः विशेष अन्वेषण करने पर कवि छत्रपति के अन्य ग्रन्थों का रचना काल 'हिन्दी जैन-साहित्य का इतिहास' एवं 'दिगम्बर जैन ग्रन्थकर्ता और उनके ग्रन्थ' में पं० नाथूराम जी प्रेमी ने सं० १९०७ से १९२२ बतलाया है अतः मेरा अनुमान सर्वथा संगत सिद्ध हुआ।

ग्रन्थकार व उनके अन्य ग्रन्थ।

प्रस्तुत ग्रन्थ के अंत में कवि ने 'नमत छत्र कवि काय करी' लिखा है अर्थात् छत्र कवि कर्त्ता हैं। दि० जैन भाषा ग्रन्थों की सूची सर्व प्रथम सन १९०१ में लाहौर के बाबू ज्ञानचंद्र जैन ने प्रकाशित की थी। उसके पृ० १८ में छत्रपति के सम्बन्ध में लिखा है—

पं० छत्रपति जी पद्मावती पोरवार कोके निवासी कृत (७१)
१८६ द्वादश अनुपेत्ता छंद बंध १४(?)०७ में
१८७ मनमोहन पंचाशिका छंद-बंध १९१६ में।
१८८ उद्यमप्रकाश छंदबध सं० १५२२ (?) में

अर्थात् कवि छत्रपति कोके के निवासी पद्मावती पुरवाल जाति के थे। इन्होंने उपरोक्त तीन ग्रन्थ बनाये हैं।

सन् १९११ में पं० नाथूराम जी प्रेमी ने दिगम्बर जैन ग्रन्थकर्त्ता और उनके ग्रन्थ में उपरोक्त वर्णन के अनंतर अंत में शित्ता प्रधान पद्य लिखा है।

सन् १९२७ में प्रेमी जी ने हिन्दी जैनसाहित्य का इतिहास प्रकाशित किया है इसके पृ० ८४ में लिखा है।

"छत्रपति (पद्मावतीपुरवार। द्वादशानुपेत्ता (१९०७) मनमोहक पंचाशिका (१९१६), उद्यमप्रकाश (१९२२), शिदियप्रधान। ये सब ग्रन्थ पद्य में है। ये अच्छे कवि मालूम होते है। इनकी मनमोहन पंचाशिका छपकर प्रकाशित हो रही है।"

पता नहीं कवि ने अपने अन्य ग्रन्थों में अपना कुछ विशेष परिचय दिया है या नहीं एवं उक्त मनमोहन पंचाशिका प्रकाशित हुई या नहीं ?

इस सम्बन्ध में विशेष जानकार सज्जनों से निवेदन है कि वे ब्रह्मगुलाल एवं कवि छत्रपति पर विशेष प्रकाश डालने की कृपा करें।

ब्रह्मगुलाल की जीवनी का संक्षिप्त सार।

पद्मावतीपुर में भगवान् आदिनाथ स्थापित सोमवंशीय क्षत्रियों के १४०० घर थे। वे कारणवश क्षत्रिय वृत्ति को छोड़ कर वनिक हो गये। उनमें से दिरग और हल्ल दो भाई

वहाँ से मध्यदेश में आकर टापे नगर में रहने लगे। अपने मूल निवास स्थान के नाम से वे पद्मावता पुरवाल कहलाये। एक दिन हल्ल बाहर गये थे पीछे से घर में आग लग जाने से सारा परिवार भस्मीभूत हो गया। पीछे से हल्ल ने वापिस आकर यह वृत्तान्त जान कर बड़ा दुःख किया। वहाँ के राजा ने बड़े प्रेम के साथ उसे अपने यहाँ रखा और बड़े प्रयत्न के साथ उसे एक सुन्दर कन्या से पाणिग्रहण करवा दिया, उसके साथ विषय सुखों को भोगते हुए ब्रह्मगुलाल का जन्म हुआ। ये बालपन में बड़े उद्दंड थे, पिता ने पंडित से इनको विद्याभ्यास करवाया पर कुसंगति में इनको विविध स्वांग धारण करने की बुरी लत लग गयी सब लोगों ने निषेध किया पर न माने अतः कई वर्षों तक अविवाहित रहे। अंत में एक योग्य कन्या से इनका विवाह हुआ और ये भोगों में आसक्त रहने लगे। एक दिन राजा ने इन्हें सिंह का स्वांग करने को कहा, तब वे सिंह का स्वांग बनाकर राजसभा में गये। वहाँ इन्हें हरिण की शिकार करने के लिये प्रोत्साहित किया गया, तब क्रोधित होकर राजकुमार के मस्तक पर थप्पा मारा जिससे वह मर गया। राजा को इससे बड़ी चिन्ता हुई पर अन्त में प्रधान के समझाने पर शान्त हुए। एक बार नृपति ने इन्हें परीक्षार्थ मुनिका स्वांग करने को कहा तब उन्होंने स्वजनों से नगर छोड़ने को कहा पर अन्त में सब की राय से मुनि का स्वांग करने का निश्चय हुआ पर इन्होंने कह दिया कि मुनि के स्वांग को मैं विडंबना नहीं करूँगा अर्थात् उसे छोड़ूंगा नहीं मुनि ही हो जाऊँगा। अन्त में ये मुनि का स्वांग धारण कर राजसभा में गये और राजा को धर्मोपदेश दिया, राजा ने प्रसन्न हो इच्छित मांगने को कहा पर ये तो निरीह मुनि रूप ही रहे एवं शहर से बाहर चले गये। स्वजनों ने पुनः स्वांग को छोड़ गृहस्थावस्था धारण करने को कहा पर ये अविचलित रहे इनके मित्र मथुरा मल को लोगों ने उलाहना दिया क्योंकि स्वांग धारण करने की सलाह में ये ही मुख्य थे तब ये भी ब्रह्मगुलाल को समझाने के लिये गये पर उन्हें अविचलित देख अन्त में प्रतिबोध पाकर उनसे ब्रह्मचर्य व्रत स्वीकार किया। इस प्रकार दोनों मित्र आत्म-साधना कर स्वर्गवासी हुए।

ब्रह्मगुलाल का समय।

ग्रन्थ में इनके पिता का संवत् १६०० — १७०० के बीच में होना बतलाया है यथा -

सोले सौ के ऊपरें, सत्रेसैं के माय।
पारिन ही में ऊपरे, दुगर हल्ल दो भाय॥

टापे नगर की अवस्थिति।

ग्रन्थ में ब्रह्मगुलाल के निवासस्थान टापे की उपस्थिति मध्य देश में सुरसरि के दक्षिण और कालिंदी के उत्तर में बतलाई है यथा—

भरथ मांहि शुभ आरज खेत, मध्य देश तामहि छवि देत।
सुरसर की दक्षिण दिश जोय, कालिंदी की उत्तर होय।६।
सूर देश के निकट निहार, टापौ नाम बसें पुर सार।

अनेकान्त वर्ष ४ अं० ८ के पृ० ४०२ से ७६ में देहली के सेठ के कुचे के जैनमंदिर के ग्रन्थों की सूची प्रकाशित हुई है उसमें "ब्रह्म गुलाल चरित्र—कवि छत्रपति पद्मावती पुरवाल, हिन्दी पद्य पत्र ३२ (रचना संवत् वी० १६०६" छपा है। मुझे ग्रन्थ के नाम से उसके ऐतिहासिक होने की संभावना प्रतीत हुई अतः दिल्ली जाने पर उक्त ग्रन्थ को देखा तो भाषा आदि को ध्यान में रखते हुए वह ग्रन्थ सं० १६०६ का नहीं है, ऐसा प्रतीत हुआ तथा उसके ऐतिहासिक होने की संभावना ठीक ही निकली अतः विशेष अध्ययन कर ब्रह्मगुलाल के सम्बन्ध में ऐतिहासिक जानकारी प्रकट करने की इच्छा हुई और श्रीयुत् पन्नालाल जी जैन अग्रवाल द्वारा प्रति मंगवाके इस लेख में इस ग्रन्थ के सम्बन्ध में विशेष प्रकाश डाला जा रहा है अतः श्रीपन्नालाल जी का मैं आभारी हूं।

ऐतिहासिक साहित्य निर्म्माण में दि० विद्वानों की अपेक्षा श्वेताम्बर विद्वानों ने अधिक लक्ष्य रखा है अतः श्वेताम्बर समाज में विस्तृत पट्टावलियें, ऐतिहासिक संस्कृत काव्य, प्रबंध, भाषामें रास, चौपइ, भास, धवलगीत, इसी प्रकार तीर्थों के इतिहास के सम्बन्ध में भी तीर्थमालायें, चैत्यपरिपाटी, संघ यात्रा वर्णन, स्तवनादि विविध ऐतिहासिक सामग्री बहुत ही विशाल परिमाण में पाई जाती है तब दिगम्बर समाज में इस प्रकार के साहित्य का अभाव सा नजर आता है। हिन्दी भाषा में दि० विद्वानों द्वारा रचित काव्यों में अद्यावधि साहित्य-संसार में अर्द्धकथानक का ही पता था अतः ब्रह्मगुलाल चरित्र की उपलब्धि महत्त्व की बात है यद्यपि यह ग्रन्थ समसामयिक एवं विशेष घटनापूर्ण ग्रन्थ नहीं है फिर भी एक नई जानकारी प्राप्त होने के कारण महत्व का है काव्य की दृष्टि से भी ग्रन्थ सुन्दर है।

जैनाचार्य ऋषिपुत्र का समय और उनका ज्योतिष-ज्ञान

[ले०—श्रीयुत न्याय-ज्योतिष तीर्थ पं० नेमिचन्द्र शास्त्री, साहित्यरत्न]

जैनाचार्य ऋषिपुत्र ज्योतिष के प्रकाण्ड विद्वान् थे। इनके वंशादि का सम्यक् परिचय नहीं मिलता है, पर Catalogus Catalagorum में इनके सम्बन्ध में बताया गया है कि "This is Kraushtuki, The son of Garga." इससे स्पष्ट है कि यह जैनाचार्य गर्ग के पुत्र थे। जैनाचार्य गर्ग ज्योतिषशास्त्र के प्रकाण्ड विद्वान् थे। अभी हाल में जब मैं पटना खुदाबख्शखाँ पब्लिक लाइब्रेरी में गया था तो मुझे वहाँ इन्हीं गर्गाचार्य का एक ज्योतिष-ग्रन्थ "पाशकेवली" नाम का मिला है। यद्यपि यह ग्रन्थ अत्यन्त अशुद्ध है, पर इससे जैन ज्योतिष पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। उसके अन्त में लिखा है कि—

"जैन आसीज्जगद्वंद्यो गर्गनामा महामुनिः।
तेन स्वयं निर्णीतं यं सत्पाशात्रकेवली॥
एतज्ज्ञानं महाज्ञानं जैनर्षिभिरुदाहृतम्।
प्रकाश्य शुद्धशीलाय कुलीनाय महात्मना॥

शनैर्गुंहलिकां दत्त्वा पूजापूर्वकमघवाकुमारीं सव्यास्थासने स्थापयित्वा पाशको ढालाप्यते *पश्चाच्छुभाशुभं ब्रवीति—इति गर्गनामामहर्षिविरचितः पाशकेवली सम्पूर्णः॥"*

इन पंक्तियों से *स्पष्ट है कि गर्गाचार्य ज्योतिषशास्त्र के बड़े भारी विद्वान् थे,* इसलिये बहुत कुछ संभव है कि इन्हीं के वंश में आचार्य ऋषिपुत्र भी हुए हों। *लेकिन निश्चित प्रमाण के अभाव में उनके वंश का निर्णय करना ज़रा टेढ़ी खीर है।* जैनेतर ज्योतिष-ग्रन्थ, वाराही-संहिता और अद्भुतसागर में इनके जो वचन उद्धृत किये गये हैं, उनसे इनकी ज्योतिष सम्बन्धी विद्वत्ता और समय निर्णय पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। ज्योतिषशास्त्र के विभिन्न अङ्गों में से आचार्य ऋषिपुत्र ने निमित्तशास्त्र—शकुनशास्त्र और संहिताशास्त्र—ग्रहों की स्थिति द्वारा भूत, भविष्य और वर्तमानकालीन फल, भूशोधन, दिक्शोधन, शल्योद्धार, मेलापक, आयाद्यानयन, गृहोपकरण, गृहप्रवेश, उल्कापात, गन्धर्वनगर एवं ग्रहों के उदयास्त का फल आदि बातों के प्रतिपादक शास्त्र का प्रणयन किया है। Catalogus Catalagorum में इनकी एक संहिता का भी उल्लेख है। उसमें बताया है कि "ऋषिपुत्र संहिता—quoted in Madanaratna." अर्थात् मदनरत्न नामक ग्रंथ में ऋषिपुत्र संहिता का उल्लेख है, पर आज वह ग्रंथ उपलब्ध नहीं है। जैन-सिद्धान्त-भवन आरा में कई संस्कृत ग्रन्थों के सूचीपत्र

(Catalogues) हैं, उनमें किसी में भी ऋषिपुत्र संहिता का नाम नहीं है, इससे मालूम पड़ता है कि वह अमूल्य निधि नष्टप्राय: है।

भारतीय ज्योतिषशास्त्र के इतिहास पर दृष्टिपात करने से मालूम होगा कि शकुनशास्त्र और संहिताशास्त्र का प्रचार इस्वी सन् की ७वीं शताब्दी और ११ वीं शताब्दी के मध्य में विशेषरूप से हुआ है। इस काल में स्वतन्त्र ग्रन्थ तो लिखे ही गये पर उक्त विषय के कई संग्रह ग्रंथ तथा भाष्य भी लिखे गये; जिनमें आज केवल दो-चार ही उपलब्ध हैं। आचार्य ऋषिपुत्र के अन्यत्र उपलब्ध उद्धरणों से पता चलता है कि इनके भी उपर्युक्त विषयों के कई ग्रन्थ थे; लेकिन अभी तक इनका एक निमित्तशास्त्र ही उपलब्ध हुआ है, जिसका प्रकाशन एवं सम्पादन पं० वर्धमान शास्त्री शोलापुर ने किया है। वाराही-संहिता और अद्भुतसागर में प्राप्त इनके विपुल उद्धरणों से स्पष्ट है कि इन्होंने संस्कृत और प्राकृत दोनों ही भाषाओं में ग्रन्थ रचना की है।

जैनाचार्य ऋषिपुत्र के महत्त्वपूर्ण उद्धरण बृहत्संहिता की भट्टोत्पली टीका में हैं और भट्टोत्पल ने बृहज्जातक की टीका में अपने सम्बन्ध में बताया है कि "फाल्गुनस्य द्वितीयायामसितायां गुरोर्दिने। वस्वष्टाष्टमिते शाके कृतेयं विवृत्तिर्मया।" अर्थात् शक ८८८ में बृहज्जातक की टीका रची है, तथा बृहत्संहिता की टीका इससे भी पहले बनाई गई है। संहिता की टीका में इन्होंने आर्यभट, कणाद, काश्यप, कपिल, गर्ग, पाराशर, बलभद्र, ऋषिपुत्र, भद्रबाहु आदि कई जैनाजैन आचार्यों के वचन उद्धृत किये हैं, इस टीका से स्पष्ट मालूम पड़ता है कि भट्टोत्पल ने अपने पूर्ववर्त्ती प्राय सभी संहिताकारों की रचनाओं का अध्ययन कर उक्त टीका लिखी है। आचार्य ऋषिपुत्र के वचन राहुचार के प्रतिपादन में निम्न प्रकार उद्धृत किये गये हैं—

> यावतोऽंशान ग्रसित्वेन्दोरुदयत्यस्तमेति वा।
> तावतोऽंशान् पृथिव्यास्तु तम एव विनाशयेत्॥
> उदयेऽस्तमये वापि सूर्यस्य ग्रहणं भवेत्।
> तदा नृपभयं विद्यात् परचक्रस्य चागमम्॥
> चिरं गृह्णाति सोमार्कौ सर्वं वा ग्रसते यदा।
> हन्यात् स्फीतान् जनपदान् वरिष्ठांश्च जनाधिपान्॥
> भैक्ष्येण तत्र जीवन्ति नराश्चाम्बुफलेन वा।
> भयदुर्भिक्षरोगैश्च सम्पीड्यन्ते प्रजास्तथा॥

—सवि० बृ० पृ० १३४-१३५

उपर्युक्त पद्य आचार्य ऋषिपुत्र के नाम से अद्भुतसागर के 'राहोरद्भुतवार्त्त:' नामक अध्याय में "अथ चिरग्राससर्वग्रासयो: फलम् तत्र ऋषिपुत्र:" इस प्रकार लिख कर दो स्थानों में उद्धृत किये गए हैं। इन श्लोकों में "शस्यैर्न तत्र जीवन्ति नरा मूलफलोदकैः" इतना और अधिक पाठ मिलता है। इन्हीं पद्यों से मिलता-जुलता वर्णन इनके "प्राकृत निमित्त-शास्त्र" में है; पर वहाँ की गाथाएँ छाया नहीं हैं। अस्तु, उपर्युक्त कथन से इतना स्पष्ट है कि आचार्य ऋषिपुत्र भट्टोत्पल के पूर्व अर्थात् शक सं० ८८८ के पहले विद्यमान थे और शक सं० की ८ वीं तथा ६ वीं शताब्दी में इनकी रचनाएँ अत्यन्त लोकादृत थीं। सर्वत्र उनका प्रचार था। इसका एक सबल प्रमाण यह भी है कि शक सं० १०८२ में राजगद्दी पाने वाले मिथिलाधिपति महाराज लक्ष्मणसेन के पुत्र महाराज बल्लालसेन द्वारा शक सं० १०९० में संग्रहीत अद्भुतसागर में वराह, वृद्धगर्ग, देवल, यवनेश्वर, मयूरचित्र, राजपुत्र, ऋषिपुत्र, ब्रह्मगुप्त, बलभद्र, पुलिश, विष्णुचन्द्र, प्रभाकर[१] आदि अनेक आचार्यों के वचन संग्रहीत हैं। अत: यह निर्विवाद सिद्ध है कि आचार्य ऋषिपुत्र का समय शक सं० की ९ वीं शताब्दी के पहले है; पर विचारणीय बात यह है कि कितना पहले माना जाय।

आचार्य ऋषिपुत्र के समय निर्णय में भारतीय ज्योतिषशास्त्र के संहिता सम्बन्धी इतिहास से बहुत सहायता मिलती है, क्योंकि यह परम्परा शक सं० ४०० से विकसित रूप में है। वराहमिहिर ने, जिनका समय लगभग शक सं० ४२७ के माना जाता है, बृहज्जातक के २६ वें अध्याय के ५ वें पद्य में कहा है कि—"मुनिमतान्यवलोक्य सम्यग्घोरां वराहमिहिरो रुचिरां चकार।" इससे स्पष्ट है कि वराहमिहिर के पूर्व संहिता और होरा सम्बन्धी परम्परा वर्त्तमान थी। इसीलिये उन्होंने बृहज्जातक में मय, यवन, विष्णुगुप्त, देवस्वामी[२], सिद्धसेन[३], जीवशर्मा, सत्याचार्य आदि कई महर्षियों के वचनों का खण्डन किया है। संहिताशास्त्र की प्रौढ़ रचनाएँ यहीं से आरम्भ हुई हैं। वराहमिहिर के बाद कल्याणवर्मा ने शक सं० ५०० के आस-पास सारावली नामक होरा ग्रन्थ बनाया; जिसमें इन्होंने वराहमिहिर के समान अनेक आचार्यों के नामोल्लेख के साथ कनकाचार्य और देवकीर्त्तिराज का भी उल्लेख किया है। संहिता संबंधी अनेक बातें सारावली में पाई जाती हैं; इस काल में अनेक जैन और जैनेतर आचार्यों ने संहिता शास्त्र को प्रौढ़ रचनाएँ स्वतन्त्र रूप में की हैं। इन रचनाओं की परस्पर तुलना करने पर प्रतीत होगा कि इनमें एक का दूसरे पर बड़ा भारी प्रभाव है। उदाहरण के लिये गर्ग, वराहमिहिर और ऋषिपुत्र के एक-एक पद्य नीचे उद्धृत किये जाते हैं:—

१ यह प्रतिष्ठाकल्प के रचयिता प्रभाकर देव मालूम पड़ते हैं।

२ यह आचार्य जैन मालूम पड़ते हैं; मुझे सन्देह है कि यह प्रसिद्ध देवसेन स्वामी ही तो नहीं हैं?

३ यह आचार्य नमस्कार माहात्म्य के रचयिता मालूम पड़ते हैं।

शशशोणितवर्णाभो यदा भवति भास्करः
तदा भवन्ति संग्रामा, घोरा रुधिरकर्दमाः ॥

—गर्ग

शशिरुधिरनिभे भानौ नभःस्थले भवन्ति संग्रामाः ।

—वराहमिहिर

ससलोहिवण्णहोवरि संकुण इत्ति होइ णायव्वो ।
संगामं पुण घोरं खग्गं सूरो णिवेदेई ॥

—ऋषिपुत्र

इसी प्रकार चन्द्रमा से प्रतिपादित फल में भी बहुत स्थलों में समानता मिलती है। ऋषिपुत्र के निमित्तशास्त्र का चन्द्रप्रकरण संहिता के चन्द्राचार अध्याय से लगभग मिलता जुलता है। इस प्रकार के फल प्रतिपादन की प्रक्रिया शक सं० की ५-६ वीं शताब्दी में प्रचलित थी। वृद्धगर्ग के निम्न पद्य निमित्तशास्त्र की निम्न गाथाओं से एकदम मिलते हैं—

कृष्णे शरीरे सोमस्य शूद्राणां वधमादिशेत् ।
पीते शरीरे सोमस्य वैश्यानां वधमादिशेत ॥
रक्ते शरीरे सोमस्य राज्ञां च वधमादिशेत् ।

—वृद्धगर्ग.

विप्पाणं देइ भयं वाहिरण्णो तहा णिवेदेई ।
पीलो खत्तियणासं धूसरवण्णो य वयसाणं ॥३८॥
कि[illegible]णो सुद्द विणासो चित्तवण्णोय हवइ पयईऊ ।
दहिखीरसंखवण्णो सव्वम्हिय पाहिदो चंदो ॥३९॥

—ऋषिपुत्र

उपर्युक्त तुलनात्मक विवेचन का तात्पर्य यही है कि संहिताकाल की प्रायः सभी रचनाएँ मिलती जुलती हैं। इस काल के लेखकों ने नवीन बातें बहुत थोड़ी कही हैं। तथा फल प्रतिपादन की प्रणाली भी गणित पर आश्रित नहीं है, केवल ग्रहों के बाह्य निमित्तों को देखकर फल बताया गया है। इस काल में भौम, दिव्य, और अन्तरिक्ष, इन तीन प्रकार के निमित्तों का विशेष रूप से वर्णन किया है। यथा—

दिव्यान्तरिक्षं भौमं तु त्रिविधं परिकीर्त्तितम् ।

—अद्भुतसागर, पृ० ६

वराहीसंहिता में इन तीनों निमित्तों के सम्बन्ध में लिखा है कि "भौमं चिरस्थिरभवं तच्छान्तिमिराहतं शममुपैति । नाभसमुपैति मृदुतां क्षरति न दिव्यं वदन्त्येके ॥" इसी प्रकार आचार्य

ऋषिपुत्र ने "जे दिट्ठभुविरसएण जे दिट्ठा कुहमेणकत्ताणं। सदसंकुलेन दिट्ठा बऊसट्ठिय पेण णाणधिया ॥" इत्यादि वर्णन किया है। तात्पर्य यह है कि संहिताकाल की इस प्रकार की रचनाओं का समय ईस्वी सन् की ५ वीं और ६वीं शताब्दी है, क्योंकि इस काल का संहिता का विषय ज्योतिष-शास्त्र की मर्मज्ञता की दृष्टि से अविकसित रूप में है। हाँ, वराहमिहिर की रचनाएँ अवश्य परिमार्जित हैं। वराहमिहिर से पहले की रचनाएँ संक्षिप्त सूत्ररूप में लिखी गई थीं, पर ७ वीं शताब्दी से इन ग्रन्थों पर टीकाएँ लिखना आरम्भ हुआ है तथा इस विषय की विस्तृत रचनाएँ भी प्रारम्भ हुई हैं। अतः ऋषिपुत्र का समय संहिताकाल की शताब्दियों में है। इनकी रचना की संक्षिप्तता को देख कर अनुमान होना है कि इनका समय वराहमिहिर से पूर्व होना चाहिये।

आचार्य ऋषिपुत्र के नाम से अद्भुतसागर में जो निम्न श्लोक आये है, उससे इनके समय निर्णय पर और भी अधिक प्रकाश पड़ता है—

गर्गशिष्या यथा प्राहुस्तथा वक्ष्याम्यतः परम्।
भौममार्गवराह्वर्ककेतवो यायिनो ग्रहाः।
आक्रन्दसारिणामिन्दुर्ये शेषा नागरास्तु ते।
गुरुसौरबुधानेव नागरानाह देवलः॥
परान धूमेन सहितान् राहुमार्गवलोहितान्।

इन पद्यों में गर्गशिष्य और देवल इन दो व्यक्तियों के नामों का उल्लेख किया गया है। यहाँ गर्गशिष्य से आचार्य को कौन अभिप्रेत है ? यह नहीं कहा जा सकता, पर द्वितीय व्यक्ति देवल की रचनाओं को देखने से प्रतीत होता है कि यह वराहमिहिर से पूर्ववर्ती है। क्योंकि अद्भुतसागर के प्रारम्भ में ज्योतिष के निर्माता आचार्यों की नामावली कालक्रम के हिसाब से दी गई प्रतीत होती है। इसमें वृद्धगर्ग, गर्ग, पाराशर, वशिष्ठ, बृहस्पति, सूर्य, बादरायण, पीलुकार्य, नृपपुत्र, देवल, काश्यप, नारद, यवन, वराहमिहिर, वसन्तराज आदि आचार्यों के नाम दिये गये हैं। इससे ध्वनित होता है कि आचार्य ऋषिपुत्र देवल के पश्चात् और वराह-मिहिर के पूर्ववर्त्ती हैं। दोनों की रचना पद्धति से भी यह भेद प्रकट होता है। क्योंकि विषय प्रतिपादन की जितनी गम्भीरता वराहमिहिर में पाई जाती है, उतनी उनके पूर्ववर्त्ती आचार्यों में नहीं।

यदि Catalogus Catalagorum के अनुसार आचार्य ऋषिपुत्र के पिता जैनाचार्य गर्ग मान लिये जायँ तब तो उनका यह समय निर्विवाद सिद्ध हो जाता है; क्योंकि गर्गाचार्य वराहमिहिर से बहुत पूर्व हुए हैं।

आचार्य ऋषिपुत्र का ज्योतिष-ज्ञान

आचार्य ऋषिपुत्र फलित ज्योतिष के विद्वान् थे गणित सम्बन्धी इनकी एक भी रचना का पता अब तक नहीं लगा है तथा इनकी उपलब्ध रचनाओं से भी इनकी गणित विषयक विद्वत्ता का पता नहीं चलता है। इन्होंने त्रिस्कन्धात्मक ज्योतिष में से केवल संहिता विषय के ऊपर ही रचनाएँ की हैं। प्रारम्भिक रचनाएँ होने के कारण विषय की गम्भीरता नहीं है, पर तो भी सूत्ररूप में संहिता के सभी विषयों का प्रतिपादन किया है। शकुनशास्त्र के भी ये निर्माता हैं, इन्होंने अपने निमित्तशास्त्र में पृथ्वी पर दिखाई देने वाले आकाश में दृष्टिगोचर होने वाले और विभिन्न प्रकार के शब्द सुनाई पड़ने वाले, इन तीन प्रकार के निमित्तों द्वारा फलाफल का अच्छा निरूपण किया है। ऋषिपुत्र ने आकाश सम्बन्धी निमित्तों को बतलाते हुए लिखा है कि "सूरोदय अच्छमणे चंदमसरिक्खमग्गहचरियं। तं पच्छियं णिमित्तं सव्वं आएसिह कुणहं॥" अर्थात सूर्योदय के पहले और सूर्यास्त के पीछे चन्द्रमा, नक्षत्र और ताराओं के मार्ग को देख कर फल कहना चाहिये। वर्षोत्पात, देवोत्पात, राजोत्पात, उल्कोत्पात, गन्धर्वोत्पात इत्यादि अनेक उत्पातों के शुभाशुभत्व का बड़ा सुन्दर वर्णन किया है। आचार्य ऋषिपुत्र के निमित्तशास्त्र में सब से बड़ा महत्त्वपूर्ण विषय 'मेघयोग' का है। इस प्रकरण में नक्षत्रानुसार वर्षा के फल का अच्छा विवेचन किया है। आचार्य लिखते हैं:कि प्रथम वृष्टि कृतिका नक्षत्र में हो तो अनाज की हानि, रोहिणी में हो तो देश की हानि, मृगशिरा में हो तो सुभिक्ष, आर्द्रा में हो तो खण्डवृष्टि, पुनर्वसु में हो तो एक माह वृष्टि, पुष्य में हो तो श्रेष्ठ वर्षा, आश्लेषा में हो तो अन्न हानि, मघा और पूर्वाफाल्गुनी में हो तो सुभिक्ष, उत्तराफाल्गुनी और हस्त में हो तो सुभिक्ष और सर्वत्र प्रसन्नता, विशाखा और अनुराधा में हो तो अत्यधिक वर्षा, ज्येष्ठा में हो तो वर्षा की कमी, मूल में हो तो पर्याप्त वर्षा, पूर्वाषाढ़ा, उत्तराषाढ़ा और श्रवण में हो तो अच्छी वर्षा, धनिष्ठा, शतभिषा, पूर्वाभाद्रपद और उत्तराभाद्रपद मे हो तो अधिक वृष्टि और सुभिक्ष एवं रेवती, अश्विनी और भरणी में हो तो पर्याप्त वृष्टि के साथ अन्न भाव श्रेष्ठ रहता है और प्रजा सब तरह से सुख प्राप्त करती है। वाराही-संहिता की भट्टोत्पली टीका के उद्धरण में सप्तमस्थ गुरु, शुक्र के फल का प्रतिपादन ऋषिपुत्र का बड़ा महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि वहाँ गुरु, शुक्र की उभय दृष्टि से फल बतलाया गया है। इससे उनके असाधारण ज्योतिष ज्ञान का अनुमान सहज में ही किया जा सकता है। इन्हें सूर्यग्रहण और चन्द्रग्रहण का भी ज्ञान था, पर इन्होंने सिर्फ उनका फल ही बतलाया है। आज के गणित की सूक्ष्मताओं से यह अपरिचित थे संक्षेप में इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि ये संहिताशास्त्र के मूल भूत विषयों से सम्यक् परिचित थे।

तत्त्वार्थसूत्र की परम्परा

[भाग ११ किरण २ से आगे]

[ले०— न्यायाचार्य श्रीयुत पं० दरबारीलाल जैन, कोठिया]

४ निर्युक्तिकार भद्रबाहु ने दशवैकालिक निर्युक्ति में बाह्य तपों के निम्न ६ भेद गिनाये हैं—१ अनशन, २ ऊनोदर, ३ वृत्तिसंख्यान, ४ रसत्याग, ५ कायक्लेश और ६ संलीनता। जैसा कि उनकी इस गाथा मे प्रकट है :—

अणसणमूणोअरिया वित्तीसंखेवणं रसच्चाओ।
कायकिलेसो संलीणया य बज्झो तवो होइ॥

भद्रबाहु द्वारा वर्णित बाह्य तपों के ये छहों भेद श्वेताम्बर श्रुत के ही अनुसार हैं। व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र में इसी प्रकार ६ भेद बतलाये हैं। यथा—

अणसण ऊणोयरिया भिक्खायरिया य रसपरिच्चाओ।
कायकिलेसो पडिसंलीणया बज्झो तवो होई॥
--व्याख्या प्र० श० २५ उ० ७ सू० ८०२।

परन्तु तत्त्वार्थसूत्रकार निम्न प्रकार से ६ भेद गिनाते हैं :

"अनशनावमौदर्यवृत्तिपरिसंख्यानरसपरित्यागविविक्तशय्यासनकायक्लेशा बाह्यं तपः।"
--तत्त्वार्थसूत्र ९-१९।

इनमें निर्युक्ति और श्वे० श्रुतसम्मत 'संलीनता' तप नहीं है, किन्तु उसके स्थान में 'विविक्तशय्यासन' है। यद्यपि हरिभद्रसूरिने 'संलीनता' के इन्द्रियसंलीनता, कषायसंलीनता, योगसंलीनता और विविक्तचर्या ऐसे चार भेद बतलाए हैं, पर इन चार भेदों में भी विविक्त शय्यासन नहीं है। यह तो स्पष्ट करने की जरूरत नहीं है कि विविक्तचर्या द्वारा भी विविक्तशय्यासन का ग्रहण नहीं किया जा सकता है क्योंकि विविक्तचर्या दूसरी चीज़ है और विविक्तशय्यासन अलग चीज़ है। अतः स्पष्ट है कि तत्त्वार्थसूत्रकारने श्वे० श्रुत-सम्मत 'संलीनता' तप को अपने उल्लिखित बाह्य तपों में स्थान नहीं दिया है और इस तरह हम यहाँ भी उन्हें भद्रबाहु की तरह श्वे० श्रुतका अनुसर्ता नहीं पाते हैं।

५. निर्युक्तिकार ने उत्तराध्ययन निर्युक्ति में 'अरई अचेल इत्थी' कह कर 'अचेल परीषह' बतलाई है। उत्तराध्ययन सूत्रों (पृ० ८२) में भी 'अचेल परीषह' ही दी गई है। परन्तु तत्त्वार्थसूत्रकार ने 'अचेल' शब्द के स्थान में 'नाग्न्य' शब्द को रखकर अचेल

परीषह की स्थानापन्न 'नाग्न्य परीषह' कही है। यद्यपि अचेल और नाग्न्य में कोई भेद नहीं है, प्रारम्भ में नाग्न्य के अर्थ में ही अचेल शब्द को रखा था और भ० महावीर ने अचेलक धर्म का ही उपदेश दिया था[1], परन्तु 'अचेल' शब्द के स्थान में 'नाग्न्य' शब्दको रखना क्यों आवश्यक और इष्ट समझा गया ? और यह परिवर्तन कब और कैसे हुआ ? इस सम्बन्ध में एक बहुत बड़ा महत्वपूर्ण इतिहास छिपा हुआ है जो यहाँ खास ध्यान देने योग्य है और डेढ़ दो हजार वर्ष की स्थिति को जानने के लिये प्रेरित करता है।

भगवान् महावीर के उत्तरवर्ती जैनाचार्यों ने 'अचेल परीषह' में प्रयुक्त 'अचेल' शब्द को 'सर्वथा वस्त्ररहितता'—'एक भी वस्त्र का न होना' के अर्थ में व्यवहृत किया था। भ० महावीर ने स्वयं भी वस्त्र नहीं रखा था और वे नग्न ही विचरे थे, इस बात को श्वेताम्बर परम्परा भी स्वीकार करती है। इन्द्र द्वारा प्रदत्त देवदूष्य वस्त्र की जो कल्पना की जाती है वह भी उनके लिये अनैच्छिक और अल्पकालिक (लगभग एक वर्ष कुछ महीने) स्वीकृत की गई है। इससे इतना स्पष्ट है कि भगवान् महावीर की परम्परा अचेलक्य धर्म को ही प्रोत्साहन देती थी और उसीका आचरण करती थी। ज्यों ज्यों समय बीतता गया त्यों त्यों साधुवर्ग में कालदोष के प्रभाव से शिथिलतायें और कमजोरियाँ पैदा होती गईं। ये शिथिलतायें और कमजोरियाँ यहाँ तक बढ़ीं कि नग्न रहना बड़ा कठिन और लज्जाजनक प्रतीत होने लगा। जिन साधुओं ने पूर्ण निर्ग्रन्थता को पालन करने में अपने को असमर्थ पाया उन्होंने एक कौपीन का ग्रहण अनिवार्य और अपरिहार्य कर लिया। होते होते वह वस्त्र भी निर्ग्रन्थता में सम्मिलित हो गया और आगम तथा सूत्रों में प्रयुक्त 'अचेल' शब्द का अर्थ भी बदल दिया गया—'अनुदरा कन्या' की तरह 'अचेल' का अर्थ 'ईषद् चेल: 'अचेल:' अर्थात् 'अल्पचेल' कर लिया गया। परन्तु जो साधु भ० महावीर की शुद्ध निरपवादिक परम्परा के पक्षपाती बने रहे वे 'अचेलक' का अर्थ सदा चेलरहित ही करते आये। इसी परम्परा में कुछ ही समय बाद आचार्य उमास्वाति हुए उन्होंने देखा कि 'अचेल' शब्द तो भ्रष्ट और भ्रान्ति जनक हो गया है और उसकी दोनोंही तरफ खींचतान की जा रही है। अतः इस शब्द के स्थान में तदर्थक किसी दूसरे स्पष्ट शब्द का ही प्रयोग करना अब आवश्यक है, जिससे भ० महावीर की परम्परा पूर्णतः निरपवादरूप में ही सुरक्षित रहे और वर्तमान साधुवर्ग में कुछ सुधार हो। यह विचार कर उन्होंने 'अचेल' शब्द के स्थान में अत्यन्त स्पष्ट और निर्भ्रान्त 'नाग्न्य' शब्द का व्यवहार किया। हम देखते हैं कि आगम और सूत्रों में प्रयुक्त 'अचेल' के पर्यायवाची के रूप में 'नाग्न्य' शब्द सर्व प्रथम आ० उमास्वाति के तत्त्वार्थसूत्र में ही मिलता है जो न केवल भगवान महावीर की निरपवादिक परम्परा का पोषक है बल्कि दिगम्बरत्व का सर्वथा समर्थक है। परन्तु

[1] देखो, पं० कैलाशचन्द्र जी, सि० शा० रचित 'भगवान् महावीर का अचेलक्य धर्म' नामक ट्रैक्ट, जो जैनसंघ चौरासी मथुरा से प्रकट हुआ है।

हमें दुःख है कि कई शताब्दियों के बाद इस स्पष्ट 'नाग्न्य' शब्द की भी खींचतान की गई है और उसकी अचेल शब्द जैसी ही दशा की गई है। नवमी, दशमी शताब्दी के विद्वान् सिद्धसेन गणी[1] कहते हैं कि 'निरुपकरणता का नाम नाग्न्य परीषह नहीं है जैसा कि दिगम्बर और भौतादिमत वाले स्वीकार करते हैं। किन्तु आगमोदित नाग्न्य का ग्रहण इष्ट होना चाहिये। आगम में रजोहरण, मुखवस्त्रिका आदि तीन, चार, पाँच, नव, दस और बारह प्रकार की उपधि निर्दिष्ट है; आदि। हमें कहने दिया जाय कि जो अभी हाल में श्रीविजयलब्धि सूरीश्वर जी ने 'तत्त्वन्याय विभाकर' नामक स्वरचित ग्रन्थ प्रकट किया है उसमें अचेलस्थानीय 'नाग्न्य' परीषह न रखकर अवस्त्र परीषह दी है और उसका अर्थ 'सदोषवस्त्रादिपरिहारेणाल्पमूल्याल्पवस्त्रादिभिवर्त्तनमवस्त्रपरीषहः' किया है तथा टीका में (पृ० १७४) 'एवञ्च सर्वथावस्त्रत्वशून्यतायामवस्त्रपरीषहत्वं निराकृतम्' कह कर 'सर्वथा वस्त्र-रहितता' अर्थ का निषेध एवं खण्डन किया है। आज 'अचेल' या 'अवस्त्र' अथवा 'नाग्न्य' का अर्थ अल्पचेल, अल्पवस्त्र, या अल्पमूल्य के वस्त्र कोई भी निष्पक्ष समझदार व्यक्ति नहीं कर सकता। किन्तु साम्प्रदायिक मनोवृत्ति सबकुछ करा देती है। यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है। प्रकृत में हमें यह कहना है कि 'अचेल' शब्द जब भ्रष्ट हो गया और उसके अर्थ में भ्रान्ति होने लगी तो आ० उमास्वाति ने उसके स्थान में नग्नता---सर्वथा वस्त्र रहितता अर्थ को स्पष्टतः ग्रहण करने के लिये 'नाग्न्य' शब्द का प्रयोग किया। इससे यह विदित हो जाता है कि तत्त्वार्थसूत्रकी परम्परा क्या है? और उसकी रचना किस परम्परा के श्रुत के आधार पर हुई है? अर्थात् तत्त्वार्थसूत्रकार नाग्न्य समर्थक परम्परा के हैं और उनका तत्त्वार्थसूत्र 'नाग्न्य' प्रतिपादक श्रुत के आधार पर रचा गया है, सचेल नहीं।

६. निर्युक्तिकार ने लौकान्तिक देवों के ९ भेद बतलाये हैं जो श्वेताम्बर आगम के अनुकूल हैं। निर्युक्तिकार की वह ९ भेदों को बतलानेवाली गाथा निम्न प्रकार है:—

सारस्सयमाइच्चा वण्ही वरुणाय्यि गद्दतोयाय।
तुसिया अव्वाबाहा आग्गिच्चा चेव रिट्ठा य।

—आवश्यक निर्यु० गा० २१४।

परन्तु तत्त्वार्थसूत्रकार लौकान्तिक देवों के ८ ही भेद बतलाते हैं। यथा---

'सारस्वतादित्यवह्न्यरुणगर्दतोयतुषिताव्याबाधारिष्टाश्च।"---४-२५

1 'नाग्न्यपरीषहस्तु न निरुपकरणतैव दिगम्बरभौतादिवत्। किंतर्हि? प्रवचनोक्तविधानेन नाग्न्यम्। प्रवचने तु द्विप्रकारः कल्पः—जिनकल्पः स्थविरकल्पश्च।... . तत्र यः पाणिपात्र लब्धिसम्पन्नस्तस्योपधिरवश्यंतया रजोहरणं मुखवस्त्रिका च। कल्पग्रहणात् त्रिविधश्चतुर्विधः पंचविधो वा। प्रतिग्रहधारिणस्तु नवप्रकारोऽवश्यंतया, कल्पग्रहणात् दशविध एकादशविधो (द्वादशविधो) वा उपधिरागमाभिहितः एवंविधं नाग्न्यमिष्टम्''—सटीक तत्त्वार्थाधिगम सू० पृ० २२१।

यद्यपि श्वेताम्बरसूत्रपाठ में ९ भेद गिनाये गये मिलते हैं पर स्वयं श्री पं० सुखलालजी आदि श्वेताम्बर विद्वान् सूत्रगत 'मरुतो' पाठको 'पीछे से प्रक्षिप्त हुआ' बतलाते हैं। दूसरे, जिस भाष्य को वे स्वयं सूत्रकारका स्वोपज्ञ मानते हैं उसमें भी आठही भेद निर्दिष्ट हैं 'नव नहीं'। इससे प्रकट है कि सूत्रकार की मान्यता ८ भेदों की है जो श्वेताम्बर श्रुत के अनुकूल नहीं है। क्योंकि श्वे० श्रुत में ९ भेद माने गये हैं।[2]

ये कुछ उदाहरण स्वरूप निर्युक्तिकार, भद्रबाहु और उमास्वाति के मध्य में मतभेद सूचक बातें हैं जो एक दूसरे की भिन्न परम्परा की निदर्शक हैं। और स्पष्ट बतला रही हैं कि जहाँ भद्रबाहु सचेलश्रुत—श्वेताम्बर अनुसार चलते हुए मिलते हैं वहाँ आचार्य उमास्वाति उनसे भिन्न मत रखते हुए पाए जाते हैं। ऐसी हालत में यह कहना कि वे श्वेताम्बर परम्परा में हुए हैं और उनका तत्त्वार्थसूत्र सचेलश्रुत के आधार पर बना है, बहुत ही स्खलित और भ्रान्त है। यदि तत्त्वार्थसूत्र के निष्पक्ष विद्वान् गहरा अन्तः परीक्षण करें तो वे इसी निष्कर्षपर पहुँचेंगे कि वह दिगम्बर श्रुतके आधारपर रचा गया है और उसके रचयिता दिगम्बर परम्परा के थे।

---

१ "एते सारस्वतादयोऽष्टविधा देवा ब्रह्मलोकस्य पूर्वोत्तरादिषु दिक्षु प्रदक्षिणं भवन्ति यथासंख्यम्।" तत्त्वार्थभाष्य ४—२६।

२ देखो, ज्ञातृधर्मकथा, भगवती और स्थानांगादि।

प्रक्रियावतार, उणादिसूत्रवृत्ति, उपासकसंस्कार और अर्थव्यञ्जनपर्यायनिरूपण

जैनाचार्यों ने संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, कन्नड और हिन्दी आदि विभिन्न भारतीय भाषाओं में विभिन्न विषयों के असंख्य ग्रन्थों की रचना कर जैन-साहित्य के भाण्डार को धनी किया है; पर जैन समाज की असावधानता के कारण प्राचीन आचार्यों की उस थाति की रक्षा जैसी होना चाहिये थी, नहीं हो सकी है। अब तक अनेक ग्रन्थरत्न दीमक और कीड़ों के पेट में चले गये हैं। यदि कटु सत्य न हो तो यह भी कहा जा सकता है कि सहस्रों ग्रन्थरत्न ग्रन्थागारों के अधिकारियों की संकीर्णता के कारण नष्ट हो गये हैं, क्योंकि वे इस डर के मारे कि ये ग्रन्थ कहीं दूसरों को दिखलाई न पड़ जायँ इसलिये धूप और प्रकाश भी नहीं दिखलाते थे। इस बीसवीं शताब्दी के साहित्यिक उदारता के जमाने में भी कुछ लोग बाहर ग्रन्थ भेजना या तद्विषय के जानकार विद्वानों को देना अनुचित समझते हैं। इसीलिये जैनसाहित्य से जैनेतर विद्वान अभी भी प्रायः अपरिचित हैं। यों तो इस समय समाज के सौभाग्य से अनेक प्रकाशक संस्थाएँ जैन साहित्य को प्रकाश में लाने के लिये बद्धकटि हैं तथा कई संस्थाओं से अन्वेषण का भी कार्य हो रहा है; जिसमें अनेक ग्रन्थरत्न प्रकाश में आ रहे हैं। पर व्यवस्थित ढंग से संयोगात्मक कार्य न करने के कारण पूर्ण सफलता नहीं मिल रही है। अस्तु,

गवर्नमेन्ट के विभिन्न ग्रन्थागारों से एवं अन्य व्यक्तिगत पुस्तकालयों से जो सूचीपत्र प्रकाशित हुए हैं, उनमें अनेक महत्त्वपूर्ण अप्रकाशित जैन ग्रन्थों के नाम अंकित हैं। यदि हमारी प्रकाशक संस्थाएँ उन ग्रन्थों का अन्वेषण कर उनके विषय में पूर्ण जानकारी प्राप्त कर कार्य करें तो उनका कार्य बहुत हल्का हो सकता है। यहाँ "भास्कर" के पाठकों की जानकारी के लिये उपर्युक्त ग्रन्थों का संक्षिप्त परिचय दिया जायगा—

A Descriptive catlogue of the sanskrit Manuscripts in the government oriental manuscripts library madras Vol. III, में कई जैन ग्रन्थों का उल्लेख है, इस सूची में केवल कातन्त्र व्याकरण पर ही कई जैन वृत्तियों का निरूपण किया गया है। जैन व्याकरण के 'प्रक्रियावतार' और 'उणादिसूत्रवृत्ति' इन दो ग्रन्थों का भी परिचय दिया गया है।

प्रक्रियावतार के सूत्रों के संकलनकर्त्ता और वृत्तिकार आचार्य नेमिचन्द्र बताये गये हैं। इस ग्रन्थ में ६ प्रकरण हैं—(१) सन्धि, (२) नामनिर्णय, (३) समर्स, (४) प्रवृद्धि, (५) भिज-

विधि और (६) कृद्विधि। इस ग्रन्थ में २०६ ताड़पत्र हैं, और प्रत्येक पत्र में ११ पंक्तियाँ हैं, पत्रों की साइज १४½"×२½" है, अवस्था जीर्ण और ग्रन्थ पूर्ण है। सम्पादक महोदय ने इस ग्रन्थ के सम्बन्ध में लिखा है कि—

"A grammatical treatise of the jainendra-school. The sutras are herein arranged synthetically and explained in 6 chapters. The author is probably Nemichandra. The contents are: (1) Sandhi, (2) Nāmanirṇaya (3) Savertta, (4) Prādvidhi, (5) Mijvidhi, and (6) Kṛd-vidhi.

ग्रन्थ का प्रारम्भिक भाग—

सर्वज्ञाय नमस्तस्मै वीतक्लेशाय शान्तये।
येन मव्यात्मनश्चेतस्तमस्तोमश्चिकित्सितः॥

अथ प्रत्याहारक्रमोऽनुवर्ण्यते। अइउण्। ऋक्। एओङ्। ऐऔच्। हयवरलण्। ञमङणनम्। झभञ्। घढधष। जबगडदश्। खफछठथचटतव्। कपय्। शषस अं अः ≍ क ≍ पय। हल्॥इति प्रत्याहारसूत्राणि॥

उक्तं च—

"स्युस्त्रयोदशसूत्राणि तावन्तश्चानुबन्धकाः।
षट्चत्वारिंशतो वर्णाः प्रत्याहारस्य सङ्ग्रहे॥इति॥
सर्वो वर्णो ऽलित्युच्यते। तत्कथम्?

साल्मेतादिः॥१॥ इता सहोच्चार्यमाणो वर्णसमुदायो वादिभूतस्तन्मध्यपतितानां संज्ञो (ज्ञा) भवत्यात्मना सह।

ग्रन्थ का अन्तिम भाग—

पादाभ्यां ह्रियते इति पादहारकः। गलेन चुप्यते गलचोपकः, अत्र कर्मणिण्वुः। चरोड्डुक्त। ममसि ह्वोऽपि। मनोहरतीति मनोहरी। मनोहर्यस्तनयोरखिलस्य च॥

पुष्पिकावाक्य—

इति प्रक्रियावतारे कृद्विधिष्षष्ठस्समाप्तः।

× × × ×

किं वाणी चतुराननः किमथवा वाचस्पतिः किन्त्वसौ,
विद्यानां विभवस्सहस्रवदनस्साक्षादनन्तः किमु।
इत्थं संसदि साधवः समुदितास्संसे(शे)रते सादरं,
विद्वत्पुङ्गवनेमिचन्द्र भवति व्याख्यानमातन्वति॥

अरिकुठारावासविद्यानन्दोपाध्यायप्रपौत्रदेवरसभिषजा लिखितमिदं भवति ।

उपर्युक्त अवतरणों से पता चलता है कि यह वृत्ति पूज्यपाद विरचित जैनेन्द्र व्याकरण के सूत्रों पर ही लिखी गयी है, क्योंकि प्रत्याहार सूत्र जैनेन्द्र व्याकरण के ही हैं। इस सूची से यह भी स्पष्ट है कि इस वृत्ति में 'स्वस्याभाव्योऽपरोऽणुदित्' 'स्वस्थानक्रियं स्वम्' 'आकालोऽच्प्रदीपः' इत्यादि सूत्रों के ऊपर विशेष विवरण लिखे गये हैं तथा ग्रन्थान्तरों के उद्धरण भी विषय को स्पष्ट करने के लिये दिये गये प्रतीत होते हैं। व्याकरण सम्बन्धी शंका समाधान भी दिये गये हैं। शब्दों की व्युत्पत्ति कृदन्त प्रकरण में विशेषरूप से समझाई गई है। इस वृत्ति के रचयिता प्रस्तुत नेमिचन्द्राचार्य प्रसिद्ध सिद्धान्त-चक्रवर्त्ती हैं या अन्य ? इसका निर्णय गुरुपरम्परा देखे बिना नहीं किया जा सकता है. अतः मूल प्रति के अभाव में रचयिता के विषय में कुछ कहना भ्रान्ति युक्त होगा।

उणादिसूत्रवृत्ति

सूचीपत्र में इस नाम की दो प्रतियाँ भिन्न-भिन्न जैनाचार्यों की बनाई गई हैं। एक प्रति के रचयिता श्वेताम्बर आचार्य दुर्गसिंह हैं और दूसरी के कर्त्ता का पता नहीं है, पर अनुमान यही है कि इसके कर्त्ता दिगम्बर जैनाचार्य हैं। पहली प्रति में ४६ ताड़पत्र हैं, प्रति पत्र ९ पंक्तियाँ हैं और साइज १५×१½ इञ्च है, इसकी लिपि कन्नड़ और भाषा संस्कृत है। इसका प्रारम्भिक भाग निम्न है—

नमस्कृत्य गिरं भूरिशब्दसन्तानकारणम् ।
उणादयोऽभिधास्यन्ते बालव्युत्पत्तिहेतवे ॥

कृवापाजिमिस्वदिसाध्यशूदसनिजनिचरिभ्य उण् । एभ्यो धातुभ्य अण् प्रत्ययो भवति। उणादयो भूतेऽपि । भूते काले अपि शब्दाद्वर्तमाने भविष्यति च ।

अन्तिम भाग—

शब्दानामानन्त्याद्व्युत्पत्तिर्द (र्नैवद्)श्यते येषाम् ॥
तेषां विज्ञैः कार्या मान्यो(न्यै)र्धातोस्ततः प्रत्ययान्ताम् ॥

सन्धिवाक्य—

उणादि समाप्तः। श्रीशान्तिनाथाय नमः। श्रीमदकलङ्कमुनये नमः। श्रीचन्द्रप्रभमुनये नमः।

कालयुक्तिसमे मासे ज्येष्ठे तत्प्रतिपत्तिथौ ।
उणादिवृत्तिर्विमलेवमावयेन विलिख्यते ॥

द्वितीय प्रति—

इस उणादिसूत्रवृत्ति के रचयिता दिगम्बर जैनाचार्य हैं। इसमें ९७ ताड़पत्र हैं, प्रति पत्र १० पंक्तियाँ और २१½"×२½" साइज है। इसकी भाषा संस्कृत और लिपि कन्नड है। इसकी अवस्था अत्यन्त जीर्ण-शीर्ण बताई गई है।

प्रारम्भिक भाग—

प्रणम्य जिनमास्वन्तमज्ञानध्वान्तभेदिनम्।
उणादिलक्षणं वक्ष्ये रुढिनैगमसिद्धये॥
.... सम्प्रतीत्यधिकृत्योच्यते

उणादयो बहुलमिति। के पुनरुणादय इत्यत इदमारभ्यते—कृवापाजिमिस्वद्विसाध्यशूभ्य उण्। ... .शू इत्येतेभ्यो दु(धातु)भ्यः उण् इत्ययं (प्र) त्यो (त्ययो) भवति। करोतीति कारुः—शिल्पी। ब्राह्मणादीनां शुश्रूषा करोतीति कारुः; तक्षायस्कारकुलालरजकनापिताः कारुकाः—शुश्रूषाकृतकुत्साद्योतनाय कुत्माज्ञानयोरिति के सति कारुकाः इति भवन्ति। अथवा उणादयः (संप्रदानापादा) नाभ्यामन्यत्र कारके इति वचनात् कर्मण्यपि भवन्ति। शिल्पिव्यापारे ब्राह्मणादिभिः क्रियते नियुज्यते इति कारुः। वाति गन्धयतीति वायुः—गन्धवहः। पीयते तेनेति पायुः—उपस्थः, अपानं च। जयत्यनेन व्याधीनिति जायुः—औषधम्। अथवा जयति श्लेष्माणमिति जायुः—पित्तम्।

अन्तिम भाग—

लोकशास्त्राविरुद्धानां शब्दानां सिद्धिरिष्यते।
.........................तं सन्मनिषिभिः॥
संज्ञास्विष्टाः प्रकृतयः ताभ्यश्चत्यास्तथा (इच्च प्रत्ययाः) परे।
कार्येण विद्यादनुबन्धमेतच्छास्त्रमुणादिषु॥
सम्प्रदानमपादानकरणाधिकरणे उभे।
भावः कर्म च कर्ता च समधा विद्धि कारकम्॥

सन्धिवाक्य—

इत्युणादिषु पञ्चमः पादस्समाप्तः।
संवत.....................

× × × ×

(मो) क्षमार्गजनदर्शितपन्थाः।
यान्तरामजनवन्द्यसुशान्तः पूर्वमत्र भुवि कीर्त्तिमहान्तः॥

शिष्यस्तस्य महाकुले प्रविमले रत्नत्रये स्थापितः ।
श्रान्तो व्याकरणादिशास्त्र [।]......ले तत्रापि संलग्नवान् ।
सोऽभो (भू) त्पण्डितनिर्मलो गुणनिधिः.........

उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि यह वृत्ति पर्याप्त विस्तृत और महत्त्वपूर्ण है। इसमें शब्दों की व्युत्पत्ति अर्थ सहित बहुत सुन्दर ढंग से बतलाई गई है। इसके कर्त्ता के सम्बन्ध में कुछ भी पता नहीं है, पर इतना स्पष्ट है कि यह दिगम्बर जैनाचार्य की कृति है।

उपासकसंस्कार

इस ग्रन्थ के कर्त्ता आचार्य पद्मनन्दी हैं। इसमें ८ ताड़पत्र हैं, प्रत्येक पत्र में ७ पंक्तियाँ हैं, कन्नड लिपि और भाषा संस्कृत है। पत्रों की साइज १०½" × १¼" है, प्रति पूर्ण और जीर्ण-शीर्ण है। इसमें मोक्षमार्ग पर चलनेवालों के कर्त्तव्य का निरूपण किया गया है। सम्पादक ने इसके सम्बन्ध में लिखा है कि —

On the duties of those who walk in the path of righteousness as propounded in jainism : by padmanandin.

ग्रन्थ का प्रारम्भिक भाग—

आद्योजिनो नृपः श्रेयान् व्रतदानादिपूरुषौ ।
एतदन्यो न्योऽन्य सम्बन्धे धर्मस्थितिरभूदिह ॥
सम्यग्दृष्ट्याथ चारित्रत्रितयं धर्म उच्यते ।
मुक्तिपन्थास्स एव स्यात् प्रमाणपरिनिष्ठितः ॥
रत्नत्रयात्मके मार्गे सञ्चरन्ति न ये जनाः ।
तेषां मोक्षपदं दूरं भवेद्दीर्घतरो भवः ॥
सम्पूर्णदेशभेदाभ्यां स धर्मो द्विधा भवेत् ।
आद्ये भेदे च निर्ग्रन्था द्वितीये गृहिणः स्थिता ॥
सम्प्रत्यपि प्रवर्तेत धर्मस्तेनैव वर्त्मना ।
तेनैतेऽपि च गण्यन्ते गृहस्था धर्महेतवः ॥

अन्तिम भाग—

अन्तस्तत्त्वं विशुद्धात्मा बहिस्तत्त्वं दयाङ्गिषु ।
द्वयोसम्मेलने मोक्षः तस्माद्द्वितय......... ॥

कर्मभ्यः कर्मकार्येभ्यः पृथग्भूतं चिदात्मकम् ।
आत्मानं भावयेन्नित्यं नित्यानन्दपदप्रदम् ॥
इत्युपासकसंस्कारः कृतः श्रीपद्मनन्दिना ।
येषामेतदनुष्ठानं तेषां धर्मोऽतिनिर्मलः ॥

सन्धिवाक्य—

इत्युपासकसंस्कारस्समाप्तः ॥

"दिगम्बर जैन ग्रन्थकर्त्ता और उनके ग्रन्थ" पुस्तक में श्री पं० नाथूरामजी प्रेमी ने पाँच पद्मनन्दि नाम के आचार्यों का उल्लेख किया है—जिनमें प्रथम पद्मनन्दि कुंडलपुर निवासी 'चलिकासिद्धान्तव्याख्यावृत्ति' के रचयिता बताये हैं, दूसरे पद्मनन्दि नन्दिसंघी पद्मनन्दिपंचविंशतिका, चरणसार (प्राकृत), धर्मरसायन (प्राकृत) और जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति (प्राकृत) के रचयिता हैं, तीसरे पद्मनन्दि (भट्टारक)—(वि० सं० १३६२) यत्याचार, आराधना संग्रह परमात्मप्रकाश टीका, निघण्टु (वैद्यक), श्रावकाचार, कलिकुण्ड पार्श्वनाथ विधान, अनन्तकथा, और रत्नत्रयकथा के रचयिता हैं। चौथे पद्मनन्दि कर्णाखेट ग्रामवासी सुगन्धदशम्युद्यापन के रचयिता हैं और पाँचवें पद्मनन्दि उपदेशामृत के रचयिता बताये गये हैं। प्रस्तुत पद्मनन्दि कौन से हैं यह नहीं कहा जा सकता है, पर अनुमान यह है कि प्रस्तुत उपासक संस्कार ही तो उपदेशामृत नहीं है ? क्योंकि विषय दोनों का लगभग एक सा ही है।

अर्थव्यञ्जनपर्याय निरूपण

इस प्रस्तुत ग्रन्थ में ६ ताड़पत्र बताए गए हैं, प्रत्येक पत्र में ८ पंक्तियाँ हैं। साइज ११$\frac{3}{4}$×१२ इञ्च है, लिपि कन्नड और भाषा संस्कृत है। ग्रन्थ पूर्ण और अवस्था जीर्ण-शीर्ण है। ग्रन्थ के उद्धरणों से पता चलता है कि इसमें अर्थपर्याय और व्यञ्जनपर्याय का बड़ा सुन्दर वर्णन दिया गया है। इसके कर्त्ता के सम्बन्ध में कुछ भी पता नहीं है, सूचीपत्र के सम्पादक ने लिखा है कि—"A work on the principal of jain-philosophy" इससे अधिक इस ग्रन्थ के बारे में प्रकाश नहीं डाला गया है।

ग्रन्थ का प्रारम्भिक भाग—

यस्यानुग्रहतो दुराग्रहपरित्यक्तात्मरूपात्मनः ।
सद्द्रव्यं चिदचित्त्रिकालविषयं स्वैस्स्वैरभीक्ष्णं गुणैः ॥

साथ्व्यञ्जनपर्यायैः स मम यज्जानाति बोधस्समम् ।
तत्सम्यक्त्वमशेषकर्म्मभिदुरं सिद्धापरं नौमि वः ॥१॥
स्थूलोव्यञ्जनपर्यायो वाग्गम्योऽनश्वरः स्थिरः ।
सूक्ष्मः प्रतिक्षणध्वंसी पर्यायश्चार्थसंज्ञकः ॥२॥
धर्माधर्मनभःकाला अर्थपर्यायगोचरः ।
व्यञ्जनार्थेन सम्बन्धात् द्वावन्यौ जीवपुद्गलौ ॥३॥

× × × ×

अतः तत्परिणमनं प्रतिक्षणनवीभाव इति कुतो नोक्तमाशाधरैरिति नाशङ्कनीयम्ः तावन्मात्र-वचने केवलज्ञानस्य गृहीतग्राहित्वानतिवृत्तेरप्रामाण्यप्रसङ्गस्यानिवारणात् । तथाहि– केवलज्ञानं प्रागेव सर्वद्रव्यपर्यायान् गृह्णाति । सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्येति सूत्रकारवचनात् ।

अन्तिम भाग—

ननु सर्वेषामर्थानां अर्थपर्यायेण परिणमनं प्रतिक्षणं नवीभावः; तथा च तस्य अपूर्वार्थ-व्यवसायकत्वाभावादप्रामाण्यं स्यात् । अतः प्रतिक्षणनवीभावोऽन्यथा व्याख्यात आशाधरैरिति ज्ञेयम् ।

× × × ×

सत्तालोचनमात्रमित्यपि निराकारं मतं दर्शनं,
साकारञ्चविशेषगोचरमिति ज्ञानं प्रवादीच्छया ।
तेने?ते क्रमवर्त्तिनी सरजसां प्रादेशिके सवतः,
स्फूर्ज [य] न्ति (न्ते) युगपत्पुनर्विरजसां युष्माकमङ्गातिगाः ॥

जैन-सिद्धान्त-भवन, आरा
३०-१२-४५

प्रो० एच. डी. वेलंकर एम. ए. का महत्वपूर्ण कार्य

हर कोई, जो जैन साहित्य से परिचित है, जानता है कि जैन साहित्य अपार है—अनेकानेक शास्त्रभंडारों में वह बिखरा हुआ पड़ा है। समाज के सामने यह प्रश्न हल करने के लिये शेष है कि भंडारों में कौन रत्न लुपे पड़े हैं? इसके अतिरिक्त जैन साहित्य के जो ग्रन्थरत्न प्रकाश में आये हैं, उनका परिचायक-ग्रंथ भी तो कोई नहीं है। हम यह नहीं बता सकते कि हमारे कौन कौन ग्रंथ रत्न उपलब्ध हैं। इस प्रकार की एक परिचयात्मक सूची तैयार करने का उद्योग पहले कई दफे हुआ। आरा के सिद्धांत-भवन के लिए स्व० श्री देवेन्द्रकुमारजी ने भी यह उद्योग किया था और अब सरसावा के वीर सेवामंदिर द्वारा भी इस दिशा में कुछ उद्योग हो रहा है। परन्तु इन उद्योगों का कोई परिणाम अभी प्रकाश में नहीं आया है—उसके लिए समय अपेक्षित है! किन्तु जैन साहित्य के परिचयात्मक इस महत्वपूर्ण कार्य को एक अजैन विद्वान मौनवृत्ति से गत बीस वर्ष से कर रहे थे। जो कार्य एक महती संस्था के बश का था, उन्होंने उसको अकेले अपने सुदृढ़ कंधों पर उठाया! एक अजैन विद्वान् के लिये यह कार्य कितना कठिन है, यह भुक्तभोगी जान सकता है। उस पर वह मराठा विद्वान अपने स्वास्थ्य से भी लाचार है—दमा उनको सताये रहता है। फिर भी उन्होंने अपने अमूल्य समय को संस्कृत और प्राकृत भाषा के भारतीय साहित्य के उद्धार में लगाया है। अनवरत बीस वर्ष के परिश्रम स्वरूप उन्होंने बड़ी साईज के पृष्ठों में "जिनरत्नकोष" नामक जैन साहित्यग्रंथों का परिचायक अमूल्य ग्रंथ जनता को भेंट किया है। जैन साहित्य के लिये वह अनूठी चीज़ है यद्यपि अपने विषय का वह पूर्ण ग्रंथ नहीं है; परन्तु फिरभी वह अपने प्रकार का पहला ग्रंथ है। उसे प्रो० एच० डी० वेलङ्कर ने संकलित किया है। उसकी समालोचना अन्यत्र प्रगट है, जिससे उसका विशेष परिचय प्राप्त होगा। परंतु यहाँ तो हमें उसके रचयिता प्रो० वेलङ्कर का संक्षिप्त परिचय कराना अभीष्ट है। आप का जन्म एक मराठा कुल में ता० १८ अक्तूबर १८९३ को हुआ था। आप की प्रारंभिक शिक्षा जिला रत्नगिरि के देवरुख ग्राम में हुई थी। बम्बई के मराठा हाई स्कूल से आपने सन् १९०९ में मैट्रिक पास किया और सन् १९११ में विलसन कॉलिज में आप उच्च शिक्षा लेने लगे। सन् १९१४ में आप प्रथम श्रेणी के ग्रेजुएट हुए और भाउदाजी पुरस्कार प्राप्त किया। सन् १९१८ में आप एम० ए० हुए। उपरांत आप बम्बई विश्वविद्यालय में संस्कृत भाषा के अध्यापक नियुक्त हुए और अब संस्कृत विभाग के धान हैं। आप वैदिक और प्राकृत साहित्य के निष्णात विद्वान् हैं। इन विषयों पर आप ने कई पुस्तकों का सम्पादन किया है और कई गवेषणा-

त्मक लेख लिखे हैं। अपभ्रंश प्राकृत के छंदशास्त्र पर आपके मौलिक लेख 'बम्बई यूनीवर्सिटी के जर्नल' में प्रकट हुए हैं। उसी जर्नल में एवं 'बम्बई की रॉयल एशियाटिक सोसाइटी के जर्नल (१९३६) में महाकवि स्वयंभू के 'स्वयंभूछन्दम्' नामक ग्रन्थ का आपने सम्पादन किया है। सन् १९४३-४४ में आचार्य हेमचन्द्र के 'छन्दोनुशासन' को भी आप उसी जर्नल में सम्पादित कर चुके हैं। 'वृत्तजाति समुच्चय', 'गाथालक्षण', 'चण्डकोष' 'कविदर्पण' और ऋग्वेद मंडल की इन्द्र विषयक ऋचाओं पर आपने ज्ञानवर्धक लेख लिखे हैं और उनका परिचय कराया है। अनेक संस्कृत-प्राकृत ग्रन्थों की सूचियां भी आपने तैयार की हैं। इस प्रकार अपना शेष समय वह भारतीय साहित्योद्धार सदृश महान् कार्य में बिताते हैं।'जिनरत्नकोष' के कारण जैनसाहित्य-जगत में उनका नाम अमर है। निस्सन्देह व्यक्तिगत रूप में उनका यह कार्य अपूर्व और श्लाघनीय है। वह चिरायु हो साहित्यसेवा में निमग्न रहें, यही कामना है।

—कामता प्रसाद जैन, एम. आर. ए. एस., डी. एल.

श्रीजैन-सिद्धान्त-भवन, आरा

ता० १५-१०-४५ को श्रीजैन-सिद्धान्त-भवन, आरा की प्रबन्धकारिणी की बैठक एक लम्बे अर्से के बाद श्रीमान् बाबू बच्चूलालजी जैन रईस की अध्यक्षता में हुई। अब तक लगभग १२ वर्षों से श्रीमान् बाबू निर्मलकुमारजी जैन रईस मंत्री का कार्य सुचारुरूप से करते चले आ रहे थे, पर अब आपने कार्याधिकता का अनुभव करते हुए निम्न वक्तव्य देकर नया चुनाव करने का प्रस्ताव किया।

जिस समय मैंने इस गुरुतर कार्यभार को अपने हाथों में लिया था, उस समय इस भवन का भाण्डार श्रीशान्तिनाथ मन्दिर के कमरों में था। मैंने अनुभव किया कि बढ़ते हुए इस भाण्डार का निर्वाह अब इस स्थान में नहीं हो सकेगा, अत: इसके लिये एक विशाल इमारत की आवश्यकता है। फलत: सन् १९२६ में लगभग २५ हजार रुपये की लागत से वर्तमान विशाल इमारत बनाई गई। इन वर्षों में पं० के० भुजबली शास्त्री पुस्तकालयाध्यक्ष के पद पर योग्यता पूर्वक काम करते रहे।

इस 'भवन' के दो प्रधान विभाग हैं—प्रथम में ग्रंथ प्रकाशन का कार्य होता है और द्वितीय में ग्रन्थसंग्रह का। प्रथम विभाग से पुरातत्त्व विषयक जैन-सिद्धान्त-भास्कर नामक पत्रिका लगभग १२ वर्षों से निकल रही है, तथा मुनिसुव्रतकाव्य सटीक, ज्ञान प्रदीपिका एवं सामुद्रिक शास्त्र, वैद्यसार-संग्रह सटीक, तिलोयपण्णत्ति प्रथमभाग, प्रतिमालेखसंग्रह, प्रशस्तिसंग्रह और जैन-लिटरेचर इन तामिल ग्रन्थों का प्रकाशन हुआ है। इन ग्रंथों के अतिरिक्त सन् १९१९ में 'भवन' के संस्कृत, प्राकृत, कन्नड़, हिन्दी आदि विभिन्न भारतीय भाषाओं के ग्रन्थों की सूची तथा सन् १९३३ में 'भवन' के अंग्रेजी ग्रन्थों की सूची प्रकाशित की गई है। वर्तमान में कागज की कमी के कारण सिर्फ "जैन-सिद्धान्त-भास्कर" का ही प्रकाशन हो रहा है, अन्य ग्रन्थों के प्रकाशन का कार्य स्थगित प्राय: है।

द्वितीय विभाग के तीन उपविभाग हैं—प्रथम में हस्तलिखित संस्कृत, प्राकृत, कन्नड़, हिन्दी आदि विभिन्न भाषाओं के ग्रन्थों का संग्रह; द्वितीय में उपर्युक्त भाषाओं के मुद्रित ग्रन्थों का संग्रह, और तृतीय में पुरातत्त्व विषयक सिक्के, स्टाम्प, चित्र, मैचलेबुल, कार्टून आदि अन्य प्रकार की सामग्री का संग्रह किया जा रहा है। इन तीनों उपविभागों के सम्बन्ध में कहने के पूर्व इतना और बतला देना आवश्यक समझता हूँ कि इन वर्षों में ताड़पत्रीय ग्रन्थों की एक व्यवस्थित तालिका भी तैयार की गयी है।

वर्तमान में प्रथम उपविभाग (हस्त लि० प्र०) के संग्रह का विवरण निम्न प्रकार है—

दर्शन—

सं० प्रा० (हस्त लि०)	हिन्दी (हस्त लि०)
९५	३७— इनमें कुछ गुटके भी सम्मिलित हैं जिनमें प्रत्येक में आठ-आठ, दस-दस ग्रंथ हैं।

धर्म, आचार और नीति

सं० प्रा० (हस्त लि०)	हिन्दी (हस्त लि०)
९८	६५—इनमें कुछ गुटके भी सम्मिलित हैं, जिनमें प्रत्येक में एक से अधिक ग्रन्थ हैं।

पुराण एवं पौराणिक-कथाएँ

सं० प्रा० (हस्त लि०)	हिन्दी (हस्त लि०)
६३	६५—इनमें कुछ ऐसे गुटके भी सम्मिलित हैं, जिनमें एक से अधिक ग्रन्थ हैं।

स्तोत्र

सं० प्रा० (हस्त लि०)	हिन्दी (हस्त लि०)
७९ – इनमें २६ गुटके भी सम्मिलित हैं, जिनकी कुल ग्रन्थ संख्या १५० के लगभग है।	५०— इनमें अधिकांश ऐसे गुटके हैं, जिनमें एक से अधिक ग्रन्थ हैं।

पूजापाठ एवं आराधना आदि

सं० प्रा० (हस्त लि०)	हिन्दी (हस्त लि०)
१२२—इनमें एक से अधिक पूजावाले २४ गुटके भी सम्मिलित हैं।	५६—इनमें कुछ एक से अधिक पूजावाले गुटके हैं।

ज्योतिष

सं० प्रा० (हस्त लि०)	हिन्दी (हस्त लि०)
१६—इनमें अक्षर शकुनकेवली और पाशाकेवली जैसे ग्रंथों की ही अधिकता है।	२

वैद्यक

सं० प्रा० (हस्त लि०)	हिन्दी (हस्त लि०)
१५	×

यंत्र-मंत्र-तंत्रादि संग्रह

सं० प्रा० (हस्त लि०)	हिन्दी (हस्त लि०)
१८	×

व्याकरण

सं० प्रा० (हस्त लि०)	हिन्दी (हस्त लि०)
११	×

साहित्य (काव्य, कोष, अलंकार आदि)

सं० प्रा० (हस्त लि०)	हिन्दी (हस्त लि०)
२७	३६

गायन, खण्डन-मण्डन आदि विविध विषय

सं० प्रा० (हस्त लि०)	हिन्दी (हस्त लि०)
८७ – इनमें कुछ गुटके भी सम्मिलित हैं।	४५—इनमें भी कुछ गुटके सम्मिलित हैं।

इन ग्रन्थों के अतिरिक्त जैनेतर दर्शन, धर्मशास्त्र, ज्योतिष, वैद्यक, स्तोत्र एवं पूजापाठ आदि विभिन्न विषयों के २१०२ ग्रन्थ हैं तथा ताड़पत्र पर कन्नड़ लिपि में लिखे गये संस्कृत प्राकृत और कन्नड़ भाषा के विभिन्न विषयों के ग्रन्थों की संख्या १८७९ है।

द्वितीय उपविभाग (मुद्रित ग्रन्थों के संग्रह) का विवरण—इस विभाग में संस्कृत, प्राकृत, कन्नड़, हिन्दी, गुजराती, बंगला, मराठी आदि भारतीय भाषाओं के मुद्रित ग्रन्थ तथा अंग्रेजी भाषा के मुद्रित ग्रंथ सम्मिलित हैं। विषय क्रमानुसार विगत निम्न प्रकार है—

जैन दर्शन	...	६६१
जैनाचार और धर्मशास्त्र	...	५५४
वैदिक धर्मशास्त्र और आचार	...	४३
वैदिक दर्शन	...	९४
बौद्धदर्शन	...	२६
विविध आचार और धर्मशास्त्र	...	११६
विविध दर्शन	...	२२
भूगोल	...	३३

जीवनी	...	६५
ज्योतिष	...	९२
स्वास्थ्य एवं चिकित्सा	....	९०
गायन	...	११५
खण्डन-मण्डन	.	१०
विवरणपत्रिका	...	२२
सूचीपत्र	...	१५
मंत्रशास्त्र	...	१३
बंगला साहित्य	...	११
गणित	...	९
अभिभाषण	...	७२
कन्नड़ साहित्य	...	३७
नीति	...	१६
अभिधान	...	८४
पौराणिक कथाएँ	.	४१
शिक्षा	.	१५०
कला		२३
राजनीति		२५
सामाजिक	..	१८३
महिलोपयोगी	...	५५
भाषाविज्ञान एवं व्याकरण	...	१११
पूजापाठ	..	२०२
संस्कृत साहित्य	.	१८३
पुराण	...	२४१
हिन्दी साहित्य	...	२२३
पत्र-पत्रिकाओं की फाइलें	...	४६३
यात्रा	...	१०
विज्ञान	...	३०
गुजराती साहित्य	...	१७
स्तोत्र	...	१३२

इतिहास	...	२७२
फुटकर	...	४२३

इन ग्रन्थों के अतिरिक्त अंग्रेजी भाषा के Reference, Philosophy, Religion, Soceology, Philology, Naturalscience, Usefularts, Fine arts, Leterature, History, Medicine आदि विषयों की कुल पुस्तकें २६४५ हैं।

तृतीय उपविभाग का विवरण

इस उपविभाग में सिक्के, स्टाम्प आदि विभिन्न प्रकार की पुरातत्त्व-सामग्री संग्रहीत है। सिक्कों में २०५ ताम्बे के सिक्के, ७४ चांदी के सिक्के और कुछ नोट हैं। इन सिक्कों में कुछ सिक्के कनिष्क के समय के भी हैं। आठ-दस सिक्के हिन्दूकाल के और पाँच-सात मुस्लिम समय के महत्वपूर्ण हैं।

स्टाम्प-संग्रह की तीन-चार पुस्तिकाएँ हैं, जिनमें चीन, जापान, स्याम, बर्मा, इङ्गलैण्ड, हालैण्ड, फ्रान्स, जर्मन, बर्लिन, आदि विभिन्न स्थानों के विभिन्न प्रकार के स्टाम्पों का संग्रह किया गया है। मैचलेबुल-संग्रह में इधर पच्चीस तीस वर्षों में प्राप्त प्रायः सभी प्रकार की दियासलाइयों के लेबुलों का संग्रह है। कार्टून-संग्रह में विभिन्न पत्रिकाओं में प्रकाशित संकेतात्मक भाषा की अभिव्यक्ति करने वाले अनेक कार्टूनों का संग्रह किया गया है। चित्र-संग्रह में भारत के प्रायः सभी प्रसिद्ध स्थानों के जैन मन्दिरों, मूर्त्तियों एवं तीर्थक्षेत्रों के चित्रों के अतिरिक्त 'अजन्ता' के चित्रों का भी संग्रह है। इन संग्रहों के अतिरिक्त चावल, सरसों, तिल आदि विभिन्न वस्तुओं पर लिखाये गये लेखों का संग्रह है।

भवन के आय-व्यय का ब्योरा बराबर लिखा जाता रहा है, जो शीघ्रही जाँच कर प्रकाशित करा दिया जायगा।

आपने प्रबन्धकारिणी के पदाधिकारी एवं सदस्यों की निम्न नामावली पेश की जो सर्वसम्मति से स्वीकार की गई।

संरक्षक—श्री० भट्टारक पण्डिताचार्य चारुकीर्तिजी महाराज, श्रवणबेलगुल।

सभापति—श्री० बा० बच्चूलालजी जैन रईस, आरा।

मंत्री—श्री० बा० चक्रेश्वरकुमारजी जैन रईस, देवाश्रम आरा।

कोषाध्यक्ष—श्री० बा० सुबोधकुमारजी जैन रईस „　　„

पुस्तकालयाध्यक्ष एवं उपमंत्री—पं० नेमिचन्द्र शास्त्री, न्याय-ज्योतिषतीर्थ, साहित्यरत्न आरा

सदस्य—श्री० बा० बलदेवदासजी सरावगी, कलकत्ता।

„　श्री० बा० छोटेलालजी सरावगी,　„

„　श्री० बा० सुपार्श्वदासजी गुप्ता एम० ए० आरा।

सदस्य—श्री० रायसाहब बा० चतुरकुमारजी जैन बी० ए०, आरा।

,, श्री० बा० देवेन्द्रकिशोरजी जैन जमीन्दार, आरा।

,, श्री० बा० पन्नाचन्दजी जैन बी० ए०, एल० एल० बी०, आरा।

आगामी वर्ष के लिये निम्न बजट पास हुआ—

आमदनी	खर्च
१५००) गाँव की आमदनी	९६०) कर्मचारियों का वेतन।
३५०) 'भास्कर' की आमदनी	२००) बिजलीबत्ती
९५०) फुटकर आमदनी	१०००) 'भास्कर' की छपाई।
	५००) पुस्तकों के लिये
	१४०) फुटकर जिल्द आदि की मरम्मत के लिये
२८००)	२८००)

चक्रेश्वरकुमार जैन,

मंत्री—'जैन-सिद्धान्त-भवन'

आरा

समीक्षास्तम्भ

षट्खण्डागम धवला-टीका समन्वित (क्षुद्रकबन्ध) ७ वीं जिल्द—मूल सूत्रकार: श्री भूतबलि-पुष्पदन्त; धवलाटीकाकार: श्रीवीरसेनाचार्य; सम्पादक: डा० हीरालाल जैन एम० ए० नागपुर; प्रकाशक: श्रीमन्त सेठ शिताबराय लक्ष्मीचन्द्र जैन-साहित्योद्धारक-फंड-कार्यालय, अमरावती (बरार); पृष्ठसंख्या : २+८+१८+५९४+५८ और मूल्य : दस रुपये।

इस खण्ड में जीवों की प्ररूपणा (१) एक जीव की अपेक्षा स्वामित्व, (२) एक जीव की अपेक्षा काल, (३) एक जीव की अपेक्षा अन्तर, (४) नाना जीवों की अपेक्षा भंग-विचय, (५) द्रव्य प्रमाणानुगम (६) क्षेत्रानुगम, (७) स्पर्शानुगम (८) नाना जीवों की अपेक्षा काल, (९) नाना जीवों की अपेक्षा अन्तर, (१०) भागाभागानुगम और (११) अल्पबहुत्वानुगम इन ग्यारह अनुयोगों द्वारा मार्गणास्थानों में की गई है। ग्रन्थ के प्रारम्भ में प्रोफेसर सा० ने भूमिका में 'जीवट्ठाण की सत्प्ररूपणा' के ९३ वें सूत्र में संयत पद अपेक्षित है, इसे सिद्ध किया है। आपने भूमिका में बताया है कि मूडबिद्री की ताड़पत्रीय प्रति में 'संजद' शब्द है तथा ग्रंथ के प्रकरणार्थ को स्पष्ट करने के लिये भी संजद शब्द का होना परमावश्यक प्रतीत होता है। आगे प्रस्तावना में ही आप ने उपर्युक्त ११ अनुयोगों के विषय का संक्षिप्त परिचय दिया है।

ग्रन्थ के प्रारम्भ में नामबन्धक, स्थापनाबन्धक, द्रव्यबन्धक और भावबन्धक इन चारों बन्धकों के लक्षण भेद-प्रभेद सहित बतलाये हैं। इस बन्धक-सत्त्वप्ररूपणा में स्पष्ट किया गया है कि जहाँ तक मन, वचन एवं काय की क्रिया विद्यमान हैं, वहाँतक सब जीव बन्धक हैं, केवल अयोगी गुणस्थानवाले तथा सिद्ध अबन्धक हैं। द्वितीय प्रकरण अर्थात् एक जीव की अपेक्षा स्वामित्ववाले अनुयोग द्वार में बताया गया है कि मार्गणाओं सम्बन्धी गुण एवं पर्याय जीव के कौन से भावों से प्रगट होते हैं। इसके अनन्तर नरक गति में इक्कीस, पच्चीस, सत्ताईस, अट्ठाईस और उन्तीस प्रकृतियोंवाले पाँच उदय स्थानों का; तिर्यञ्च गति में इक्कीस चौबीस, पच्चीस, छब्बीस, सत्ताईस, अट्ठाईस, उन्तीस, तीस और इकतीस प्रकृति वाले नौ उदयस्थानों का; मनुष्य गति में बीस, इक्कीस, पच्चीस, छब्बीस, सत्ताईस, अट्ठाईस, उन्तीस, तीस, इकतीस, नौ और आठ प्रकृतिवाले ग्यारह उदयस्थानों का एवं देवगति में इक्कीस, पच्चीस, सत्ताईस, अट्ठाईस और उन्तीस प्रकृतिवाले पाँच उदयस्थानों का भंग सहित विस्तार से निरूपण किया है। इस प्रकरण में गोम्मटसार कर्मकाण्ड से कई स्थलों में विशेषता है।

द्वितीय अनुयोगद्वार—एक जीव की अपेक्षाकाल में चौदह मार्गणाओं में जीव की जघन्य और उत्कृष्ट कालस्थिति का प्रतिपादन किया गया है। नरकगति और देवगति में आयु की हीनाधिकता निम्नकरण सूत्र से निकाली है—

मुह-भूमीण विसेसो उच्छयमजिदो दु जो हवे वड्ढी।
वड्ढी इच्छागुणिदा मुहसहिया होई वड्ढिफलम्॥

अर्थात्—मुख और भूमि के अन्तर में उत्सेध से भाग देने पर जो वृद्धि का प्रमाण हो उसे अभीष्ट से गुणा कर मुख मे जोड़ने पर वृद्धि का फल आता है। इस प्रकार आचार्य ने विस्तार पूर्वक एक जीव की अपेक्षा से आयु-प्रमाण निकाला है।

तृतीय अनुयोगद्वार में एक जीव का चौदह मार्गणाओं के प्रत्येक अवान्तरभेद से विरह-काल बताया गया है। चौथे में आठ सान्तर मार्गणाओं का विस्तार से कथन किया गया है। पाँचवें में मार्गणाओं में जीवस्थान के द्रव्यप्रमाण का निरूपण किया है। छठवें में चौदह मार्गणानुसार सामान्यलोक, अधोलोक, ऊर्ध्वलोक, तिर्यग्लोक और मनुष्यलोक, इन पाँचों के आश्रय स्वस्थान-स्वस्थान, विहारवत्स्वस्थान, समुद्घात और उपपाद की अपेक्षा वर्तमान निवास की प्ररूपणा की गई है। स्पर्शानुगम में चौदहमार्गणाओं की अपेक्षा से उपर्युक्त पाँचों लोकों के स्वस्थान, समुद्घात और उपपाद पदों से वर्तमान और अतीत काल सम्बन्धी क्षेत्र का कथन किया है। नाना जीवों की अपेक्षा कालानुगम नामक अनुयोग द्वार में मार्गणानुसार कालप्ररूपणा का कथन किया गया है। इस अधिकार में आहारक काययोग के उत्कृष्टकाल अन्तर्मुहूर्त की सिद्धि करते हुए लिखा है कि 'पच्छा आहारकायजोगीणं दुचरिमसमओ जाव आहारकायजोगपवेसस्स अन्तरं करिय पुणो उवरिमसमए अण्णे जीवे पवेसियव्वा।' एवं संखेज्जवारसलागासु उप्पण्णासु तदो णियमा अन्तरं होदि। एवं संखेज्जंतोमुहुत्तसमासो वि अन्तोमुहुत्तमेत्तो चेव। कधं णव्वदे? उक्कस्सकालो अन्तोमुहुत्तमेत्तो त्ति सुत्तवयणादो।" अर्थात् आहारक काययोगियों के द्विचरिम समय तक आहारक काययोग में प्रवेश का अन्तर करके पुनः उपरिम समय में अन्य जीवों का प्रवेश कराना चाहिये। इस प्रकार संख्यातवार शलाकाओं के उत्पन्न होने पर तत्पश्चात् नियम से अन्तर होता है। इस प्रकार संख्यात अन्तर्मुहूर्तों का जोड़ भी अन्तर्मुहूर्त मात्र ही होता है। इस तरह इस प्रकरण में अनेक विशेषताएँ हैं।

भागाभागानुगम अनुयोग द्वार में चौदह मार्गणाओं के अनुसार बन्धकों के भागाभाग की प्ररूपणा की गई है। यहाँ आचार्यों ने भाग से अनन्तवें भाग, असंख्यातवें भाग और संख्यातवें भाग का तथा अभाग से अनन्तबहुभाग, असंख्यातबहुभाग और संख्यातबहुभाग का ग्रहण किया है। सैद्धान्तिक दृष्टि से यह प्रकरण महत्त्वपूर्ण है। ग्यारहवें अल्पबहुत्वानुगम अनुयोग द्वार में जीवों का अल्पबहुत्व प्रमाण बताया गया है। इसमें अन्य ग्रन्थों से एक विशेष बात यह बताई गई है कि निगोदिया जीवों को वनस्पतिकाय नहीं बताया है। इस प्रकार इस पूरे क्षुद्रकबन्ध में जीवों की प्ररूपणा स्वामित्व आदि ग्यारह अनुयोगों द्वारा मार्गणाओं में की गई है।

प्रस्तुत जिल्द का सम्पादन अच्छा हुआ है, पर 'भावार्थ' का न रहना खटकता है। इससे साधारण पाठकों को तो लाभ होता ही था, विशेष स्वाध्याय प्रेमियों को भी पर्याप्त लाभ होता। अर्थ में भी एक दो जगह न्यूनता प्रतीत होती है, पर तो भी सम्पादन श्रेष्ठ हुआ है। सम्पादक डा० हीरालालजी और सहसम्पादक पं० बालचन्दजी साधुवादार्ह हैं। समाज जिन सिद्धान्तग्रन्थों के दर्शन के लिये तरसता था, आज वे सर्वसाधारण को स्वाध्याय के लिये उपलब्ध हैं। डा० हीरालालजी का यह साहित्योद्धार कार्य अनुकरणीय है। ग्रन्थ की छपाई-सफाई सुन्दर है, स्वाध्यायप्रेमियों को इसे अवश्य मंगाना चाहिये।

— ब्र० पं० चन्दाबाई, विदुषीरत्न

न्यायदीपिका (प्रस्तावना-टिप्पण-अनुवादादि सहिता)—रचयिता: श्रीअभिनवधर्मभूषण यति; सम्पादक और अनुवादक: न्यायाचार्य पं० दरबारीलाल जैन 'कोठिया' जैनदर्शन शास्त्री, न्यायतीर्थ; प्रकाशक: वीर-सेवा-मंदिर सरसावा, जिला सहारनपुर; पृष्ठ संख्या: १२ + १७+१०१+3 + २४० और मूल्य: ५) रुपये।

यह जैन न्याय का प्राथमिक ग्रन्थ है। इसके अध्ययन से जैन दर्शन के अध्ययन में बड़ी सहायता मिलती है, क्योंकि सरल और बोधगम्य भाषा में न्याय के विषय को विशद-रूप से विवेचन करनेवाली यह एकमात्र प्राथमिक कृति है। इसका प्रमाण और नय का सुस्पष्ट वर्णन अपनी नीजी विशेषता रखता है। ग्रन्थकार ने इसमें 'गागर में सागर' वाली कहावत को चरितार्थ किया है। इस ग्रन्थ में प्रमाण-लक्षण-प्रकाश, प्रत्यक्ष-प्रकाश और परोक्ष-प्रकाश इन तीन प्रकाशों द्वारा उपर्युक्त विषयों का विवेचन किया गया है। प्रथम प्रकाश में प्रमाण, संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय के लक्षणों के अतिरिक्त बौद्ध, भाट्ट, नैयायिक, प्रभाकर एवं मीमांसक अभिमत प्रमाण लक्षणों का युक्तिपूर्वक खण्डन किया है। अन्त में जैन मान्यता द्वारा अभीष्ट सविकल्पक अपूर्वार्थ ग्राही सम्यग्ज्ञान को ही प्रमाण सिद्ध किया है।

द्वितीय प्रकाश में बौद्धों द्वारा अभिमत निर्विकल्प प्रत्यक्ष एवं नैयायिकों द्वारा अभिमत सन्निकर्ष प्रत्यक्ष की बड़ी सुन्दर समालोचना कर जैनाचार्यों द्वारा अभिमत 'विशदं प्रत्यक्षं' की सिद्धि की है। आगे इसी प्रकरण में ज्ञानोत्पत्ति में अर्थ और आलोक का निराकरण कर विषय की प्रतिनियामिका योग्यता की सिद्धि की है। सर्वज्ञसिद्धि का संक्षिप्त और सुस्पष्ट विवेचन तो इस प्रकरण की मुख्य विशेषता है।

तृतीय प्रकाश में परोक्ष का लक्षण, उसके स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम इन पाँचों भेदों का विशद वर्णन किया है। हेतु के 'अन्यथानुपपन्नत्व' लक्षण का समर्थन करते हुए बौद्धाभिमत त्रैरूप्य और नैयायिकाभिमत पाञ्चरूप्य का निरसन बड़ी सुन्दर

युक्तियों से संक्षेप में किया है। इसके अनन्तर अनुमान के स्वार्थ और परार्थ भेदों का कथन हेतु भेदों के उदाहरण, हेत्वाभासों का वर्णन, उदाहरण, उदाहरणाभास, उपनय, उपनयाभास निगमन, निगमनाभास आदि अनुमान के अवयवों का अच्छा कथन किया है। ग्रन्थ के अन्त में नय का उपसंहार करते हुए अनेकान्त और सप्तभंगी का संक्षेप में प्रतिपादन किया है। इस प्रकार इस छोटे से ग्रन्थ में न्याय के सभी सिद्धान्तों का बड़ेही सुन्दर ढंग से प्रतिपादन किया गया है।

इस प्रस्तुत ग्रन्थ का सम्पादन बड़ा ही सुन्दर हुआ है। उदीयमान नैयायिक दर्शन के प्रकाण्ड विद्वान् पं० दरबारीलालजी ने अनेक दार्शनिक ग्रन्थों के अनुशीलन के आधार पर महत्वपूर्ण टिप्पण देकर इसके सम्पादन में चार चाँद लगा दिये हैं। एक अजैन दर्शन के विद्वान् ने इसके सम्पादन को देख कर कहा कि "मैंने आज ही इस प्रकार की सुन्दर सम्पादित जैन दर्शन की पुस्तक के दर्शन किये हैं। इसके अवलोकन से सम्पादक की अतुलतलस्पर्शी योग्यता का पता सहज में ही लग जाता है", आदि। जिसे जैन दर्शन का जरा भी ज्ञान नहीं है, ऐसा अजैन दर्शनप्रेमी प्रत्येक सज्जन इस ग्रंथ की भूमिका से ही जैन दर्शन की दिशा एवं इतिहास का सम्यग्ज्ञान प्राप्त कर सकता है। विद्वान सम्पादक ने भूमिका में न्यायदीपिका के विषयों का अन्तरंग और बहिरंग परिचय तो दिया ही है, साथ ही प्रमाण, धारावाहिक-ज्ञान, प्रामाण्यविचार, प्रमाण के भेद, प्रत्यक्ष का लक्षण, अर्थ और आलोक की कारणता, सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष, मुख्यप्रत्यक्ष, सर्वज्ञता, परोक्ष, स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान, अवयवमान्यता, हेतुका लक्षण और भेद, हेत्वाभास एवं उदाहरण आदि का बड़ाही सुन्दर तुलनात्मक विवेचन किया है। उपर्युक्त विषयों के बारे में साधारण हिन्दी भाषा का जानकार भी आसानी से जान सकता है। वास्तव में इन विषयों का व्यवस्थित और सुन्दर विवेचन सम्पादक की अप्रतिम प्रतिभा का परिचायक है।

प्रस्तावना के उत्तरार्द्ध में न्यायदीपिका में उल्लिखित जैनेतर आचार्य शालिकानाथ, उदयन, दिग्नाग, वामन आदि का दार्शनिक परिचय दिया है। इसके अतिरिक्त उल्लिखित ग्रन्थ—तत्त्वार्थसूत्र, आप्तमीमांसा, महाभाष्य, जैनेन्द्रव्याकरण, आप्तमीमांसा विवरण, राजवार्त्तिक, न्यायविनिश्चय, परीक्षामुख प्रमाणपरीक्षा, पत्रपरीक्षा, प्रमेयकमलमार्त्तण्ड और प्रमाणनिर्णय ग्रन्थों का उनके कर्त्ताओं सहित समालोचनात्मक परिचय कराया है। इस भूमिका के अध्ययन से उपर्युक्त ग्रन्थों और उनके कर्त्ताओं के सम्बन्ध में पाठक बहुत कुछ जान सकते हैं। ग्रन्थ के पिछले भाग में 'न्यायदीपिका' का अनुवाद सरल हिन्दी में दिया गया है। असंस्कृतज्ञ एवं थोड़ी संस्कृत जानने वाले भी इससे पूर्ण लाभ उठा सकते हैं और जैन दर्शन की अनेक सूक्ष्मताओं को अवगत कर सकते हैं। ग्रन्थ के अन्त में आठ परिशिष्ट दिये हैं, जिन्होंने

इसकी उपादेयता और भी बढ़ा दी है। सब मिला कर इस ग्रन्थ का सम्पादन पूर्ण सफल कहा जा सकता है। वर्तमान में जैन समाज को इसी प्रकार के सुसम्पादित ग्रन्थों की आवश्यकता है। वीर-सेवा-मन्दिर ने इस ग्रन्थ के द्वारा एक बड़ी कमी की पूर्ति की है। इसके लिये मुख्तार सा० और सम्पादक न्यायाचार्य पं० दरबारीलाल जी साधुवादार्ह हैं। प्रत्येक स्वाध्याय प्रेमी को मंगाकर पढ़ना चाहिये। छपाई सफाई सुन्दर है।

अध्यात्मकमल मार्त्तण्ड—रचयिता: कविराजमल्ल; अनुवादक और सम्पादक: न्यायाचार्य पं० दरबारीलाल कोठिया, जैनदर्शनशास्त्री, न्यायतीर्थ तथा पं० परमानन्द जैन शास्त्री; प्रस्तावना लेखक: पं० जुगलकिशोर मुख्तार, 'युगवीर'; प्रकाशक: वीरसेवा-मन्दिर सरसावा जि० सहारनपुर; पृष्ठ संख्या : ७८ + १०७ और मूल्य : १॥) रुपया।

इस ग्रन्थ में मोक्ष एवं मोक्षमार्ग का निरूपण करते हुए, सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के विषयभूत जीवादि सप्ततत्त्वों और उनके अन्तर्गत भेद-प्रभेदों एवं द्रव्य, गुण, पर्याय आदि विषयों का अच्छा स्पष्टीकरण किया है। आध्यात्मिक विषयों को प्रकट करने की शैली बड़ी ही सुन्दर और मार्मिक है। इस ग्रन्थ में चार परिच्छेद हैं, प्रथम परिच्छेद में व्यवहार और निश्चय मोक्षमार्ग का संक्षेप में सुन्दर ढंग से निरूपण है। द्वितीय परिच्छेद में सप्ततत्त्व, द्रव्य, गुण, पर्याय एवं गुणपर्याय के भेद-प्रभेदों का लक्षण सहित प्रतिपादन है। तृतीय परिच्छेद में जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन छः द्रव्यों का विस्तार सहित कथन है। और चतुर्थ परिच्छेद में जीव के वैभाविक भावों का सामान्य एवं विशेष स्वरूप, द्रव्यबन्ध और भावबन्ध की व्यवस्था एवं संवर और निर्जरा के भेद-प्रभेदों का प्रतिपादन है; इस प्रकार यह समस्त ग्रन्थ आत्मकल्याण के लिये अत्यन्त उपयोगी है, इसके स्वाध्याय से आत्मप्रकाश और आत्मविस्तार में बहुत सहायता मिल सकती है। ग्रन्थ के पद्य ललित और प्रासादादि गुण विशिष्ट हैं, पाठक इसके स्वाध्याय से समयसारादि ग्रन्थों का सार ग्रहण कर सकते हैं। अस्तु,

इस प्रस्तुत ग्रन्थ का सम्पादन उपर्युक्त विद्वानों ने गम्भीर विद्वत्ता पूर्वक किया है, प्रत्येक श्लोक के सामान्य अर्थ के साथ भावार्थ भी दिया गया है, जिससे इस ग्रन्थ की उपयोगिता और बढ़ गई है। तुलनात्मक टिप्पण भी दिये गये हैं। इन सब खूबियों के अतिरिक्त मुख्तार सा० की प्रस्तावना ने तो इसके सम्पादन में चार चांद लगा दिये हैं। केवल आप की प्रस्तावना ही एक लघु ग्रन्थ का कलेवर है, इसके अध्ययन से प्रस्तुत ग्रन्थ एवं ग्रन्थकार कविवर राजमल्ल के सम्बन्ध में पर्याप्त ऐतिहासिक सामग्री मिल जाती है। आपने प्रसंगवश जम्बूस्वामी चरित्र, पञ्चाध्यायी, लाटीसंहिता एवं छन्दोविद्या (पिङ्गल) आदि ग्रन्थों के इतिहास पर पर्याप्त प्रकाश डाला है। वास्तव में मुख्तार साहब का यह प्रयत्न स्तुत्य और

अभिनन्दनीय है। सब मिला कर ग्रन्थ का सम्पादन सुन्दर हुआ है, छपाई-सफाई अत्यन्त सुन्दर है। प्रत्येक स्वाध्याय-प्रेमी को, इसे मंगाकर पढ़ना चाहिये।

—पं० नेमिचन्द्र शास्त्री

दिगम्बर जैन-सिद्धान्त-दर्पण यानी प्रो० हीरालालजी के आक्षेपों का निराकरण (द्वितीय अंश)— लेखक : विविध दिगम्बर जैन विद्वान्; सम्पादक : श्री पं० रामप्रसाद शास्त्री, बम्बई; प्रकाशक : दिगम्बर जैन पंचायत बम्बई और पृष्ठसंख्या : २०+३३२।

इस पुस्तक के प्रारम्भ में पं० रामप्रसादजी, पं० अजितकुमारजी, सेठ सुन्दरलालजी ला० निरंजनलालजी और पं० उल्फतरायजी के अलग-अलग वक्तव्य हैं। जिनमें प्रोफेसर सा० की शंकाओं का समाधान किया गया है। इसके अनन्तर परम पूज्य श्री १०८ आचार्य शान्तिसागर जी महाराज, परमपूज्य स्वर्गीय श्री १०८ आचार्य चन्द्रसागरजी महाराज, सर सेठ हुकुमचन्दजी, श्री० पं० खूबचन्द्रजी शास्त्री आदि महानुभावों की सम्मतियाँ दी गई हैं, जिनमें प्रोफेसर सा० की शंकाएँ निराधार बताई गई हैं। इसके अनन्तर पूर्वपक्ष के रूप में प्रोफेसर साहब की शंकाएँ, जैन इतिहास का एक विलुप्त अध्याय, शिवभूति और शिवार्य शीर्षक निबन्ध दिये गये हैं। इसके आगे न्यायाचार्य पं० दरबारीलालजी के दो लेख हैं। पहले लेख में आपने निर्युक्तिकार भद्रबाहु और स्वामी समन्तभद्र को भिन्न-भिन्न व्यक्ति सप्रमाण सिद्ध किया है और दूसरे में रत्नकरण्डश्रावकाचार को स्वामी समन्तभद्र की कृति सिद्ध किया है। पश्चात् श्री १०८ तपोनिधि, राजगणपूज्य अनेक शास्त्र प्रणेता, विद्वद्वर, विश्ववन्द्य पूज्य आचार्य कुन्थुसागरजी महाराज का एक लम्बा वक्तव्य है जिसमें प्रोफेसर साहब की शंकाओं का विस्तार सहित उत्तर दिया गया है। अनन्तर पं० पन्नालालजी सोनी सिद्धान्तशास्त्री, पं० परमानन्दजी शास्त्री, पं० अजितकुमारजी शास्त्री, पूज्य क्षुल्लक सूरिसिंहजी एवं पं० मक्खनलालजी तर्कतीर्थ के निबन्ध हैं, इन निबन्धों में पूर्वपक्ष में लिखित प्रोफेसर साहब के निबन्धों का सयुक्तिक उत्तर दिया गया है।

प्रस्तुत पुस्तक का सम्पादन सुन्दर नहीं हुआ है। देखने से पता लगता है कि जल्दबाजी में एक संग्रह तैयार कर छपवा दिया है, प्रूफ संशोधन में गलतियों की भरमार है। इन सब बातों के होते हुए भी पं० रामप्रसादजी शास्त्री का आम्नाय प्रेम प्रशंसनीय है। हमारा तो खयाल है कि अब प्रोफेसर सा० की शंकाओं का समाधान हो गया होगा। अतः इस चर्चा को यहीं समाप्त कर देना श्रेष्ठ होगा। स्वाध्याय प्रेमियों को इसे बम्बई पंचायत से अवश्य मंगाना चाहिये। इससे अनेक सैद्धान्तिक एवं ऐतिहासिक बातों का ज्ञान होगा। छपाई-सफाई साधारण है।

—पं० परमानन्द साहित्याचार्य

ध्यानस्तवः

रचयिता—

आचार्य प्रवर भास्करनन्दी

संपादक—

श्री० पं० के० भुजबली शास्त्री,

विद्याभूषण

सम्पादकीय

इस ध्यानस्तव के रचयिता पण्डित प्रवर भास्करनन्दी हैं। आपके श्रद्धेय गुरु श्रीजिनचन्द्र भट्टारक हैं। परन्तु इस नाम के कई आचार्य और भट्टारक हो गये हैं; इसलिये निश्चय पूर्वक यह नहीं कहा जा सकता कि भास्करनन्दी के गुरु जिनचन्द्र कौन हैं। श्रीयुत पं० नाथूरामजी प्रेमी का अनुमान है कि सम्भवत: श्रवणबेल्गोल के ५५ वें शिलालेख में अंकित जिनचन्द्र भास्करनन्दी के गुरु हैं[1]। किन्तु यह केवल अनुमान है। इस बात को प्रेमीजी ने २२-१-४१ के अपने पत्र में भी स्पष्ट कर दिया है।

जिनचन्द्र नाम के एक और आचार्य हो गये हैं, जो 'धर्मसंग्रहश्रावकाचार' के कर्ता पं० मेधावी के गुरु और शुभचन्द्राचार्य के शिष्य थे। यह शुभचन्द्राचार्य पद्मनन्दी आचार्य के पट्टधर थे और पाण्डवपुराण आदि ग्रन्थों के रचयिता शुभचन्द्र से पहले हो गये हैं। पं० मेधावी ने 'त्रैलोक्यप्रज्ञप्ति' ग्रन्थ की दान प्रशस्ति में उनका विशेष परिचय दिया है[2]। इसी प्रकार एक भास्करनन्दी और हुए हैं, जिनका उल्लेख 'न्यायकुमुदचन्द्र' की वृत्ति में उपलब्ध होता है। वह नन्दिसंघ के आचार्य देवनन्दी के शिष्य एवं सौख्यनन्दी के प्रशिष्य हैं।[3] प्रस्तुत भास्करनन्दी 'तत्त्वार्थसूत्रवृत्ति' के भी रचयिता है, यह वृत्ति मैसूर-गवर्नमेन्ट-ओरियन्टल-लायब्रेरी की ओर से प्रकाशित हो गई है। वास्तव में भास्करनन्दी सिद्धान्त विषय के मर्मज्ञ विद्वान् थे। इनके अन्य ग्रन्थों से इनकी अगाध विद्वत्ता का पता सहज में ही लगाया जा सकता है।

प्रस्तुत ध्यानस्तव छोटा होते हुए भी आत्मकल्याणियों के लिये बड़े काम का है। क्योंकि सांसारिक वासनाओं से ध्यान के द्वारा ही मन हटाया जा सकता है। आर्त्त, रौद्र, धर्म, और शुक्ल इन चार ध्यानों में से धर्म और शुक्ल ध्यान ही उपादेय हैं। इस ग्रन्थ में इन चारों ध्यानों का बड़ा ही सुन्दर विश्लेषण किया है। श्लोक ललित, मधुर और प्रासादादि गुणों से विशिष्ट हैं, पाठक काव्य के आनन्द के साथ-साथ आत्मानन्द निर्झर में भी डुबकियाँ लगा सकते हैं।

१—देखें 'सिद्धान्तसारादि संग्रह' में 'ग्रन्थकर्त्ताओं का परिचय'।

२—यह प्रशस्ति 'भास्कर' भाग ११ किरण २ में प्रकाशित है।

३—देखें 'अनेकान्त' वर्ष १ पृ० १३३।

ध्यानस्तवः

परमज्ञानसंवेद्यं वीतबाधं सुखादिवत् ।
सिद्धं प्रमाणतस्सार्वं सर्वज्ञं सर्वदोषहम् ॥१॥
अन्तातीतगुणाकीर्णं योगाढ्यैर्वास्तवैः स्तवैः ।
संस्तुवे परमात्मानं लोकनाथं स्वसिद्धये ॥२॥
सिद्धिस्स्वात्मोपलम्भस्स्याच्छुद्धध्यानोपयोगतः ।
सम्यग्दृष्टेरसंगस्य तत्त्वविज्ञानपूर्वतः ॥३॥
कर्माभावेह्यनन्तानां ज्ञानादीनामवापनम् ।
उपलम्भोऽथवा साक्षात् त्वया स्वप्रतिभासनम् ॥४॥
समाधिस्थस्य यद्यात्मा ज्ञानात्मा नावभासते ।
न तद्ध्यानं त्वया देव गीतं मोहस्वभावकम् ॥५॥
नानालम्बनचिन्ताया यदेकार्थे नियन्त्रणम् ।
उक्तं देव त्वया ध्यानं न जाड्यं तुच्छतापि वा ॥६॥
ज्ञस्वभावमुदासीनं स्वस्वरूपं प्रपश्यतः ।
स्फुटं प्रकाशते पुंसस्तत्त्वमध्यात्मवेदिनः ॥७॥
आर्तं रौद्रं तथा धर्म्यं शुक्लं चेति चतुर्विधम् ।
तत्राद्यं संसृतेर्हेतुर्द्वयं मोक्षस्य तत्परम् ॥८॥
विप्रयोगे मनोज्ञस्य सम्प्रयोगाय सन्ततम् ।
संयोगे चामनोज्ञस्य तद्वियोगाय या स्मृतिः ॥९॥
पुंसः पीडाविनाशाय स्यादार्तं सनिदानकम् ।
गृहस्थस्य निदानेन विना साधोस्त्रयं क्वचित् ॥१०॥
हिंसनासत्यचौर्यार्थरक्षणेभ्यः प्रजायते ।
क्रूरो भावो हि यो हिंस्रो रौद्रं तद्गृहिणो मतम् ॥११॥
जिनाज्ञाकलुषापायकर्मपाकविचारणा ।
लोकसंस्थाविचारश्च धर्मो देव त्वयोदितः ॥१२॥
अनपेतं ततो धर्माद्यत्तद्धर्म्यं चतुर्विधम् ।
उत्तमो वा तितिक्षादिर्वस्तुरूपस्तथापरः ॥१३॥

सद्दृष्टिज्ञानवृत्तानि मोहक्षोभविवर्जितः ।
यश्चात्मनो भवेद्भावो धर्मः शर्मकरो हि सः ॥१४॥
अनपेतं ततो धर्माद्धर्म्यध्यानमनेकधा ।
शमकक्षपकयोः प्राक् श्रेणिभ्यामप्रमत्तके ॥१५॥
मुख्यं धर्म्यं प्रमत्तादित्रये गौणं हि तत्प्रभो ।
धर्म्यमेवातिशुद्धं स्याच्छुक्लं श्रेण्योश्चतुर्विधम् ॥१६॥
सवितर्कं सवीचारं सपृथक्त्वमुदाहृतम् ।
आद्यं शुक्लं द्वितीयं तु विपरीतं वितर्कभाक् ॥१७॥
श्रुतज्ञानं वितर्कस्स्याद्योगशब्दार्थसंक्रमः ।
वीचारोऽथ विभिन्नार्थभासः पृथक्त्वमीडितम् ॥१८॥
श्रुतमूले विवर्तेते ध्येयार्थे पूर्ववेदिनोः ।
उक्ते शुक्ले यथासंख्यं त्र्यैकयोगयुजोर्विभो ॥१९॥
सूक्ष्मकायक्रियस्य स्याद्योगिनस्सर्ववेदिनः ।
शुक्लं सूक्ष्मक्रियं देव ख्यातमप्रतिपाति तत् ॥२०॥
स्थिरसर्वात्मदेशस्य समुच्छिन्नक्रियं भवेत् ।
तुर्यं शुक्लमयोगस्य सर्वज्ञस्यानिवर्तकम् ॥२१॥
नानार्थालम्बना चिन्ता नष्टमोहे न विद्यते ।
तन्निरोधेऽपि यद्ध्यानं सर्वज्ञे तत्कथं प्रभो ॥२२॥
योगरोधो जिनेन्द्राणां देशतः कात्स्न्यतोऽपि वा ।
भूतपूर्वगतेर्वा तद्ध्यानं स्यादौपचारिकम् ॥२३॥
उक्तमेवपुनर्देव सर्वं ध्यानं चतुर्विधम् ।
पिण्डस्थं च पदस्थं च रूपस्थं रूपवर्जितम् ॥२४॥
स्वच्छस्फटिकसंकाशव्यक्तादित्यादितेजसम् ।
दूराकाशप्रदेशस्थं सम्पूर्णोदग्रविग्रहम् ॥२५॥
सर्वातिशयसम्पूर्णं प्रातिहार्यसमन्वितम् ।
परमात्मानमात्मानं भव्यानन्दविधायिनम् ॥२६॥
विश्वज्ञं विश्वदृश्वानं नित्यानन्तसुखं विभुम् ।
अनन्तवीर्यसंयुक्तं स्वदेहस्थमभेदतः ॥२७॥

दहन्तं सर्वकर्माणि शुद्धेद्धध्यानवह्निना ।
त्वामेव ध्यायतो देव पिण्डस्थं ध्यानमीडितम् ॥२८॥
तव नामपदं देव मंत्रमैकाग्र्यमीयतः ।
जपतो ध्यानमाम्नातं पदस्थं त्वत्प्रसादतः ॥२९॥
तव नामाक्षरं शुभ्रं प्रतिबिम्बं च योगिनः ।
ध्यायतो भिन्नमीशेदं ध्यानं रूपस्थमीडिम् ॥३०॥
शुद्धं शुभ्रं स्वतो भिन्नं प्रातिहार्यादिभूषितम् ।
देवं स्वदेहमर्हन्तं रूपस्थं ध्यानतोऽथवा ॥३१॥
रूपातीतं भवेत्तस्य यस्त्वां ध्यायति शुद्धधीः ।
आत्मस्थं देहतो भिन्नं देहमात्रं चिदात्मकम् ॥३२॥
संख्यातीतप्रदेशस्थं ज्ञानदर्शनलक्षणम् ।
कर्तारं चानुभोक्तारममूर्तं च सदात्मकम् ॥३३॥
कथञ्चिन्नित्यमेकं च शुद्धं सक्रियमेव च ।
न रुष्यन्तं न तुष्यन्तमुदासीनस्वभावकम् ॥३४॥
कर्मलेपविनिर्मुक्तमूर्ध्वव्रज्यास्वभावकम् ।
स्वसंवेद्यं विभुं सिद्धं सर्वसंकल्पवर्जितम् ॥३५॥
परमात्मानमात्मानं ध्यायतो ध्यानमुत्तमम् ।
रूपातीतमिदं देव निश्चितं मोक्षकारणम् ॥३६॥
देहेन्द्रियमनोवाक्षु ममाहङ्कारबुद्धिमान् ।
बहिरात्मा न सम्पश्येद्देव त्वां स बहिर्मुखः ॥३७॥
पदार्थान्नव यो वेत्ति सप्ततत्त्वानि तत्त्वतः ।
षड्द्रव्याणि च पञ्चास्तिकायान्देहात्मनोर्भिदाम् ॥३८॥
प्रमाणनयनिक्षेपैस्सद्दृष्टिज्ञानवृत्तिमान् ।
सोऽन्तरात्मा सदा देव स्यात्त्वां द्रष्टुमलं क्षमः ॥३९॥
जीवाजीवौ च पुण्यं च पापमास्रवसंवरौ ।
निर्जरा बन्धमोक्षौ च पदार्था नव सम्मताः ॥४०॥
चेतनालक्षणस्तत्र जीवो देव मते तव ।
चेतनानुगता सा च ज्ञानदर्शनयोस्तथा ॥४१॥

जीवारब्धक्रियायां च सुखे दुःखे च तत्फले ।
यथा सम्भवमीशेयं वर्तते चेतना तथा ॥४२॥
प्रतिभासो हि यो देव विकल्पेन तु वस्तुनः ।
ज्ञानं तदष्टधा प्रोक्तं सत्यासत्यार्थभेदभाक् ॥४३॥
मतियुक्तं श्रुतं सत्यं समनःपर्ययोऽवधिः ।
केवलं चेति सत्यार्थं सद्दृष्टेर्ज्ञानपञ्चकम् ॥४४॥
कुमतिः कुश्रुतज्ञानं विभङ्गाख्योऽवधिस्तथा ।
ज्ञानत्रयमिदं देव मिथ्यादृष्टिसमाश्रयम् ॥४५॥
वस्तुसत्तावलोको यः सामान्येनोपजायते ।
दर्शनं तन्मतं देव बहिरन्तश्चतुर्विधम् ॥४६॥
चक्षुरालम्बनं तच्च शेषाद्यालम्बनं तथा ।
अवध्यालम्बनं पुंसो जायते केवलाश्रयम् ॥४७॥
दर्शनं ज्ञानतः पूर्वं छद्मस्थे तत्प्रजायते ।
सर्वज्ञे यौगपद्येन केवलज्ञानदर्शने ॥४८॥
जीवलक्ष्मविपर्यस्तलक्ष्मा देव त्वदागमे ।
अजीवोऽपि श्रुतो नूनं मूर्तामूर्तत्वभेदभाक् ॥४९॥
शुभो यः परिणामस्स्याद्भावपुण्यं सुखप्रदम् ।
भावायत्तं च यत्कर्म द्रव्यपुण्यमवादि तत् ॥५०॥
पुण्याद्विलक्षणं पापं द्रव्यभावस्वभावकम् ।
ज्ञातं संक्षेपतो देव प्रसादाद्भवतो मया ॥५१॥
कर्मागच्छति भावेन येन जन्तोस्स आस्रवः ।
रागादिभेदवान्योगो द्रव्यकर्मागमोऽथवा ॥५२॥
आस्रवस्य निरोधो यो द्रव्यभावभिदात्मकः ।
तपोगुप्त्यादिभिः साध्यो नैकधा संवरो हि सः ॥५३॥
तपो यथा स्वकालाभ्यां कर्म यद्भुक्तशक्तिकम् ।
नश्यत्तन्निर्जराभिख्यं चेतनाचेतनात्मकम् ॥५४॥
जीवकर्मप्रदेशानां यस्संश्लेषः परस्परम् ।
द्रव्यबन्धो भवेत्पुंसो भावबन्धस्सदोषता ॥५५॥

बन्धहेतोरभावाच्च निर्जराभ्यां स्वकर्मणः ।
द्रव्यभावस्वभावस्य विनाशो मोक्ष इष्यते ॥५६॥
पदार्था एव तत्त्वानि सप्त स्युः पुण्यपापयोः ।
अन्तर्भावो यभीष्टो बन्ध अस्रव एव वा ॥५७॥
जीवस्सपुद्गलो धर्माधर्मावाकाशमेव च ।
कालश्चेति समाख्याता द्रव्यसंज्ञा त्वया प्रभो ॥५८॥
प्राणधारणसंयुक्तो जीवोऽसौ स्यादनेकधा ।
द्रव्यभावात्मकाः प्राणा द्वेधा स्युस्ते विशेषतः ॥५९॥
स्पर्शाष्टकेन संयुक्ता रसवर्णैश्च पञ्चभिः ।
द्विगन्धाभ्यां यथायोगं द्वेधा स्कन्धाणुभेदतः ॥६०॥
स्थूला ये पुद्गलास्तत्र शब्दबन्धादिसंयुताः ।
जीवोपकारिणः केचिदन्येऽन्योन्योपकारिणः ॥६१॥
जीवाः पुद्गलकायाश्च सक्रिया वर्णिता जिनैः ।
हेतुस्तेषां गतेर्धर्मस्तथाधर्मस्थितेर्मतः ॥६२॥
यद्द्रव्याणां तु सर्वेषां विवरं दातुमर्हति ।
तदाकाशं द्विधा ज्ञेयं लोकालोकविभेदतः ॥६३॥
वर्तनालक्षणः कालो मुख्यो देव तवागमे ।
अर्थक्रियात्मको गौणो मुख्यकालस्यसूचकः ॥६४॥
द्रव्यषट्कमिदं प्रोक्तं स्वास्तित्वादिगुणात्मकम् ।
कायाख्यं बहुदेशत्वाज्जीवादीनां तु पञ्चकम् ॥६५॥
कालस्यैकप्रदेशत्वात्कायत्वं नास्ति तत्त्वतः ।
लोकासंख्यप्रदेशेषु तस्यैकैकस्य संस्थितिः ॥६६॥
धर्माधर्मैकजीवानां संख्यातीतप्रदेशता ।
व्योम्नोऽनन्तप्रदेशत्वं पुद्गलानां त्रिधा तथा ॥६७॥
प्रमाणं वस्तुविज्ञानं तन्मोहादिविवर्जितम् ।
परोक्षेतरभेदाभ्यां द्वेधा मत्यादिपञ्चकम् ॥६८॥
नयो ज्ञातुरभिप्रायो द्रव्यपर्यायगोचरः ।
निश्चयो व्यवहारश्च द्वेधा सोऽर्हंस्तवागमे ॥६९॥

द्रव्यं वा योऽथ पर्यायं निश्चिनोति यथास्थितम् ।
नयश्च निश्चयः प्रोक्तस्ततोऽन्यो व्यावहारिकः ॥७०॥
अभिन्नकर्तृकर्मादिगोचरो निश्चयोऽथवा ।
व्यवहारः पुनर्देव निर्दिष्टस्तद्विलक्षणः ॥७१॥
द्रव्यार्थपर्ययार्थाभ्यां पुनर्देव नयो मतः ।
सर्वे श्रुतविकल्पास्ते ग्राह्यभेदादनेकधा ॥७२॥
जीवादीनां च तत्त्वानां ज्ञानादीनां च तत्त्वतः ।
लोकसंव्यवहारार्थं न्यासो निक्षेप उच्यते ॥७३॥
स च नामादिभिर्भेदैश्चतुर्भेदोऽभिधीयते ।
वाच्यस्य वाचकं नाम निमित्तान्तरवर्जितम् ॥७४॥
प्रतिमास्थापना ज्ञेया भूतभावि च केनचित् ।
पर्यायेण समाख्यातं द्रव्यं नयविवक्षया ॥७५॥
पर्यायेण समाक्रान्तं वर्तमानेन केनचित् ।
द्रव्यमेव भवेद्भावो विख्यातो जिनशासने ॥७६॥
सम्यग्दर्शनविज्ञानचारित्रत्रितयात्मकः ।
मोक्षमार्गस्त्वया देव भव्यानामुपदर्शितः ॥७७॥
विपरीताभिमानेन शून्यं यद्रूपमात्मनः ।
तदेवोत्तमतार्थानां तच्छ्रद्धानं हि दर्शनम् ॥७८॥
तन्निसर्गात्पदार्थेषु कस्याप्यधिगमात्तथा ।
जीवस्योत्पद्यते देव द्वेधैवं देशना तव ॥७९॥
निसर्गस्स्वस्वरूपं स्यात्स्वकर्मोपशमादियुक् ।
तमेवापेक्ष्य यज्जातं दर्शनं तन्निसर्गजम् ॥८०॥
परेषामुपदेशं तु यदपेक्ष्य प्रजायते ।
त्वयाधिगमजं देव तच्छ्रद्धानमुदाहृतम् ॥८१॥
अथ चैवं द्विधा प्रोक्तं तत्कर्मक्षयकारणम् ।
सरागाधारमेकं स्याद्वीतरागाश्रयं परम् ॥८२॥
प्रशमादथसंवेगात्कृपातोऽप्यास्तिकत्वतः ।
जीवस्य व्यक्तिमायाति तत्सरागस्य दर्शनम् ॥८३॥

पुंसो विशुद्धिमात्रं तु वीतरागाश्रयं मतम् ।
द्वेधेत्युक्ता त्वया देव त्रेधाप्युक्तमदस्तथा ॥८४॥
मिथ्यात्वं यच्च सम्यक्त्वं सम्यङ्मिथ्यात्वमेव च ।
क्रोधादीनां चतुष्कं च संसारानन्तकारणम् ॥८५॥
श्रद्धानप्रतिघात्येतत् ख्यातं प्रकृतिसप्तकम् ।
एतस्योपशमादौपशमिकं दर्शनं मतम् ॥८६॥
क्षयात्क्षायिकमाम्नातं त्वया देव सुनिर्मलम् ।
सम्यक्त्वोदीरणात् षण्णामुदयाभावतस्तथा ॥८७॥
तासामेव तु सत्त्वाच्च यज्जातं तद्धि वेदकम् ।
सम्यग्दर्शनमीदृक्षं निश्चितं मोक्षकांक्षिणाम् ॥८८॥
जीवादीनां पदार्थानां यो याथात्म्यविनिश्चयः ।
तदभ्यधायि विज्ञानं सम्यग्दृष्टिसमाश्रयम् ॥८९॥
ज्ञानिनो मुक्तसंगस्य संसारोपायहानये ।
प्रशस्तागूर्णभावस्य सम्यक्श्रद्धानधारिणः ॥९०॥
कर्मादाननिमित्तानां क्रियाणां यन्निरोधनम् ।
चारित्रं तन्मुमुक्षोस्स्यान्निश्चितं मोक्षकारणम् ॥९१॥
श्रद्धानादित्रयं सम्यक् समस्तं मोक्षकारणम् ।
भेषजालम्बनं यद्वत्सत्त्रयं व्याधिनाशनम् ॥९२॥
अन्तातीतगुणोऽसि त्वं मया स्तुत्योऽसि तत्कथम् ।
ध्यानभक्त्या तथाप्येवं देव त्वय्येव जल्पितम् ॥९३॥
यन्न तुष्यसि कस्यापि नापि कुप्यसि मुह्यसि ।
किन्तु स्वास्थ्यमितोऽसीति स्तोतुं चाहं प्रवृत्तवान् ॥९४॥
इत्येवं युक्तियुक्तार्थैः प्रस्फुटार्थैर्मनोहरैः ।
स्तोकैरपि स्तवैर्देव वरदोऽसीति संस्तुतः ॥९५॥
रुष्टा तुष्टा करोपि त्वं किञ्चिदेव न कस्यचित् ।
किन्त्वाप्नोति फलं मर्त्यस्त्वय्येकाग्रमनास्स्वयम् ॥९६॥
इति संक्षेपतः प्रोक्तं भक्त्या संस्तवभर्मणा ।
किञ्चिज्ज्ञेन मया किञ्चिन्न कवित्वाभिमानतः ॥९७॥

यन्मेऽत्र स्खलितं किञ्चिच्छद्मस्थस्यार्थशब्दयोः ।
तत्संवित्त्यैव सौजन्याच्छोध्यं शुद्धेद्धबुद्धिभिः ॥९८॥
नो निष्ठीवेन्न शेते वदति च न परं हेहि याहीति जातु ।
नो कण्डूयेत गात्रं व्रजति न निशि नोद्धाटयेद्वारं दत्ते ॥
नावष्टभ्नाति किञ्चिद्गुणनिधिरिति यो बद्धपर्यङ्कयोगः ।
कृत्वा संन्यासमन्ते शुभगतिरभवत्सर्वसाधुप्रपूज्यः ॥९९॥
तस्याभवच्छ्रुतनिधिर्जिनचन्द्रनामा ।
शिष्यो नु तस्य कृतिभास्करनन्दिनाम्ना ॥
शिष्येण संस्तवमिमं निजभावनार्थम् ।
ध्यानानुगं विरचितं सुविदो विदन्तु ॥१००॥

ध्यानस्तवः समाप्तः ।

जैन-सिद्धान्त-भास्कर

जैन-पुरातत्त्व-सम्बन्धी षाण्मासिक पत्र

भाग १२—वि० सं० २००२, वी० सं० २४७२

सम्पादक

प्रोफेसर हीरालाल जैन, एम. ए., एल-एल. बी., डी. फिल.

प्रोफेसर ए० एन० उपाध्ये, एम.ए., डी. लिट्.

बाबू कामता प्रसाद जैन, एम. आर. ए. एस., डी. एल.

पं० के० भुजबली शास्त्री, विद्याभूषण.

पं० नेमिचन्द्र जैन शास्त्री, साहित्यरत्न.

जैन-सिद्धान्त-भवन आरा-द्वारा प्रकाशित

भारत में ३)　　विदेश में ३।।)　　एक प्रति का १।।)

ई० सन् १९४६

वार्षिक-विषय-सूची, भाग १२

(किरण १)

(किरण २)

THE JAINA ANTIQUARY

VOL. XI. JAN. 1946 No. II

Edited by

Prof. Hiralal Jain, M. A., LL.B., D. Phil.
Prof. A. N. Upadhye, M. A., D. Litt.
Babu Kamata Prasad Jain, M. R. A. S., D. L.
Pt. K. Bhujabali Shastri, Vidyabhushana.
Pt. Nemi Chandra Jain Shastri, Sahityaratna.

Published at

THE CENTRAL JAINA ORIENTAL LIBRARY,
[JAINA SIDDHANTA BHAVANA]
ARRAH, BIHAR, INDIA.

Annual Subscription

Inland Rs. 3. Foreign 4s. 8d. Single Copy Rs. -1/-

CONTENTS.

“ श्रीमत्परमगम्भीरस्याद्वादामोघलाञ्छनम् ।
जीयात् त्रैलोक्यनाथस्य शासनं जिनशासनम् ॥ ”
[अकलंकदेव]

Vol. XI No. II | ARRAH (INDIA) | January, 1946.

JAIN IMAGE OF SARASWATI IN THE LUCKNOW MUSEUM

By
K. D. Bajpai, M. A.
Custodian, Provincial Museum, Lucknow.

There is a mutilated image of goddess Saraswati (J. 24) in the Provincial Museum, Lucknow. It was found in 1889 near the eastern temple of the well-known Kaṅkāli mound and measures 1′9½″ × 1′2½″. The goddess is sitting squatted on a rectangular pedestal with knees up. Her head is broken and the left breast has been damaged. In her left hand she holds the Sacred Book, which appears to be tied with a ribbon. The right hand which was raised probably in the *abhayamudrā* has been lost. The goddess wears a loose cloth round her loins and a part of this cloth covers the shoulders. There is one bracelet on each of her wrist and part of rosary is visible over the bracelet of the right hand.

The image can be dated in the 2nd century A. D., as will be shown shortly.

On either side of the main figure there is an attendant with hair beautifully dressed. The one on the right of the goddess wears a tunic and holds a jar (*kalaśa*) in his hand while the attendant on her left is folding his hands in adoration. The right hand attendant appears to be a man of Scythic origin from his dress

as well as his features. Tunic was a foreign dress generally worn by Śakas and it had not become a common Indian dress in the early Kuṣāṇa period. There is abundance of proof to show that the early foreign invaders, particularly the Scythians and Kuṣāṇas had come under the influence of the Indian religions, especially Buddhism and Jainism.

There is an interesting inscription of seven lines inscribed on the pedestal of the image[1]. It reads thus—

1. (सिद्) धं सव ५०, ४ हेमंतमासे चतुर्थे ४ दिवसे १० अ-
2. स्य पूर्व्वायां कोट्टियातो गणातो स्थानियातो कुलातो
3. वैरातो शाखातो श्रीगृहतो संभोगातो वाचकस्यारर्य्य
4. हस्तहस्तिस्य शिष्यो गणिस्य अर्य्यमाघहस्तिस्य श्रद्धचरो वाचकस्य अ-
5. र्य्यदेवस्य निर्व्वर्तने गोवस्य सिहपुत्रस्य लोहिक कारुकस्य दानं
6. [स] र्व्वसत्त्वानां हितसुखा एक सरस्वती प्रतिस्थापिता अवतले रंगनर्त्तनो
7. [मे]

"Success! In the year 54, in the fourth month of winter, on the tenth day, on the (lunar day) specified as above, one (statue of) Saraswatī, the gift of the smith Gova (Gopa), son of Siha, (made) at the instance of the preacher (*vāchaka*) Āryya Deva, the *śraddhachara* of the *gaṇin* Āryya Māghahasti, the pupil of the preacher Āryya Hastahasti, from the Koṭṭiya *gaṇa*, the Sthāniya *kula*, the Vairā *śākhā*, and the Srīgriha *sambhoga* has been set up for the welfare of all beings. In the *avatala* my stage dancer (?)"

The date 54 here is to be dated in the Kuṣāṇa era commencing from 78 A.D. and corresponds to 132 A. D. The inscription and the image, therefore, belong to the reign of Huvishka, who ruled after Kanishka. Dr. Buhler formerly thought the date to be 84[2]. But later on he correctly changed it into yr 54. Mr. V. A. Smith read it as 44[3], thinking the left hand symbol to denote 40, but on close examination the symbol clearly appears to be of 50 and so the reading 54 is sound.

---

(1) For readings and comments on the inscription see Bühler, *E. I.* I p 391, Smith, *Jain Stupa*, P. 56-7, Luders, *I A.*, 1904, Pp. 104-5.

(2) Vienna Oriental Journal, Vol. III, p. 2 39.

(3) *Jain Stupa*, P. 57.

From the inscription it is clear that the image of Saraswatī was installed in a religious temple by the ironsmith Gopa at the instance of a Jain preacher of the *Koṭṭiya gaṇa.* The names of persons mentioned in this inscription exactly correspond to those enumerated in the Mathura Jain image inscription of the year 52[1]. It is interesting to note that a person named Deva who was acting in yr. 52(130A.D.) as the spiritual teacher of a number of people belonging to smith's caste is found in the same capacity in the yr. 54 (132A D.)

In this epigraph the names of persons who made donation of the statue are given along with the names of their religious preachers and their official titles. The term *vāchaka* designates a reciter or teacher. The word *gaṇin* signifies probably the head of a school (*gaṇa*). The names of the different schools with their sub-divisions (*kulas* and *śakhās*) are also given in this inscription. In the *Kalpasūtra* of the Jainas there is an enumeration of different *gaṇas, śākhās* and *kulas.* About ten of these *gaṇa*-names also occur in inscriptions of the Kushāṇa period.

In the present inscription the teachers who are said to have advised the donation of the image belonged to *Koṭṭiya gaṇa.* In other epigraphs Koṭṭiya is mentioned as *Koṭiya* or *Kauṭika* gaṇa, which split up into four *Śākhās* and four *kulas.* According to the *Kalpasūtra*[2], Sushita, who was ninth in succession from Vardhamāna, along with Supratibuddha originated the *Koṭṭiya gaṇa*

From epigraphic evidence it may be gathered that at about the beginning of the Christian era there existed a number of Jain schools with their different *kulas* and *śākhās* which spread up in northern India during the Kushāṇa period This was an age of great religious activity Buddhism also underwent a number of modifications and it split up into two main branches, the *Mahāyāna* and the *Hīnayāna*-sects. In the north, Bodh Gayā grew up as an early centre of Hīna yāna, while in the south Nāgārjunīkoṇḍa and Amravati became flourishing centres of Māhāyāna. A number of inscriptions from Nasik, Nāgārjunīkoṇḍa and Amravati bear testimony to the fact

---

(1) Edited by Buhler, *E. I.*, II, p. 203, no. 18.

(2) Edited in *Sacred Books of the East* Series, Vol. XXII, P. 292.

that there had sprung up a number of branches and communities in Buddhism that prevailed in the south during the first three centuries of the Christian era.

It may be mentioned that the images of Saraswatī are sometimes met with in the modern Jain temples mostly of the Śvetāmbara school. But old images like the present one are very rare Saraswatī is primarily a deity of the Hindu pantheon. In Hinduism worship of this goddess as the presiding deity of learning and wisdom has been prevalent since very early times, but it is surprising to note that the images of Saraswatī in Hindu art are hardly found before the Gupta period, when the image-worship of this goddess had become popular. In the early and later Medieval periods, beautifully carved and highly decorated images of Saraswatī were made The goddess is often represented as the attendant of Vishṇu along with Lakshmī and is depicted as playing on her *vīṇā* and sometimes also, holding the Sacred Book in one of her four hands. The occurence of Saraswatī's figure in the Jain art need not surprise one. The goddess being the embodiment of Learning and the presiding deity of the Muses has been given a venerable position in the Jain scriptures and the Jain pantheon and hence she figures in the Jaina sculpture as a symbol of knowledge and wisdom

—— :o ——

The Jaina Chronology.

By
Kamta Prasad Jain, LL. D., M. R. A. S.

(*Continued from Vol. X, No. I, p. 19*)

No.	Period & Date	Events
128	55 B. C.	Subhadra, the ten Angadhārī flourished. —(Dhavalā, I, Intro p. 27).
129	37 B. C	Yaśobhadra, the ten Angadhārī flourished. (*Ibid.*)
130	32 B. C.	Mathura Jaina image inscription of Samvat 25, records the gift of Vasu, the wife of a dyer, the daughter of Nandi (Nandin), the daughter-in-law of Jabhaka, the wife of Jayabhaṭṭa. (Refs. Ep. Ind. I, 384 & Ind. Ant. XXX, 37-38.)
131	19 B. C.	Mathurā Jaina elephant capital inscription of Saṃvat 38, engraved on the base of the large figure of an elephant surmounting the hill capital of a pillar & records the setting up of a *Nandivisala* by the Sreṣṭin Rudradāsa, the son of the Sreṣṭin Śivadāsa, for the worship of the Arhats. (Ref. IA., XXX, 40-41 & JBAS., LXVII, pt. I, p. 276)
132	17 B. C.	Mathurā Jaina image inscription of Saṃ. 40, incised on the four faces of the pedestal of a quadruple image consisting of four erect naked standing Jinas placed back to back Ref. Ep. Ind. I. 387.

No.	Period & Date	Events
133	...	Kośāmbi āyāgapaṭṭa inscription of Kuśan period records that Sthavirā Baladāsā, disciple of Śivanandi, caused it to be made for the worship of the Arhatas by Śivapālita in the reign of king Śivamitra. संप्रजैस्मा० p. 25.
134	14 B. C.	Bhadrabāhu, angadharı flourished. Ref. (Dhavalā, *loc. cit.*)
135	26 A. D.	Mathurā Jain image inscription of Saṃ. 83 records the gift of Jınadāsi, the daughter of Sena, the daughter-in-law of Datta, the wife of the perfumer Vyas, in the reign of Mahārāja Vasudeva. Ref. JRAS, V. 184 & IA. XXX. 107.
136	38 A. D.	Lohācārya Angadhara flourished. (Dhavalā, *loc. cit.*)
137	46 A D.	Vik. Saṃ. 103. A *Chanvīsī-pata* image of this date exists at Brahmottara (Pratapgarh) Ref. JM. XVI. No 20 p. 5
138	66 A D.	Arhadbali-ācārya flourished, who arranged the subdivisions of Mūlasaṃgha. (Dhavalā, *loc. cit.*)
139	78 A. D.	Advent of Śaka Saṃvat. (Trilokasāra)
140	80 or 81 A.D.	Vik. Sam. 136. The Ardhaphālakas, forerunners of the Śvetāmbaras put on white clothes and proclaimed themselves as 'Śveta-patas' at Valabhi, Śvetāmbaras say that

No.	Period & Date.	Events
		Digambaras originated at this time, which is not proved independently. Ref. Darśanasāra, Hariṣena's Kathākosa and SJI , II, 2, 73-78
141	87 A. D.	Māghanandi, one angadhārī flourished. Ref. Dhavalā, *loc. cit.*
142	81 to 165 A. D.	Kundakundācārya, the greatest pontiff of the Mūlasaṃgha flourished. His traditional names are (1) Koṇḍakunda, (2) Padmanandi (3) Vakragriva, (4) Elācārya and (5) Gridhrapichha. It is said about him that he visited the Samośarana of the living Tirathankara Srīmandarasvāmi in Videhakṣetrā and learned first hand knowledge of the Jaina doctrine from him 84 Pāhudas works are attributed to him, but only a very few are available. Ref. Upadhye's Pravecanasāra, Intro.
143	84 to 134 A. D.	Lohācārya converts people of Agrota clan to Jainism, who came to be known as Agrawālas afterwards. Ref SJI., II, 2,,82-83.
144	100 Circa „	Jinasenācārya converts kṣatrayas and other people to Jainism at Khandela-grāma, who are known today as Khandelawalas. (*Ibid.*)
145	96—152 A. D.	Naked Jaina images belonging to this period were unearthed by Lūders from the mound of Ahichhatra Distt. Bareilly in U.P. Ref. SJI., II, 2, 58.

No.	Period & Date	Events
146	100 A. D.	Śivārya, the contemporary to Ārya Jinanandigaṇi, Ārya Sarvaguptagaṇi and Ārya Mitranandi, composes his "Bhagavati Ārādhanā" probably by this date Ref JH. XI, 548
147	106 A. D.	Dharasenācarya flourished and dictated the Anga knowledge to his disciples Puspadanta and Bhūtabali Ref. Dhavala, *loc. cit.*
148	136 to 156 A. D.	Acārya Puspadanta and ācārya Bhūtabali flourished & recorded the extant Jaina Āgama into black and white on Jyeṣtā Shukla Panchami; which is known as "Śrutapanchami." Soon after it Jayapālita met these ācāryas, when they finished their Vassa at Ankales' war and went with them to Vanavāsa country. Dhavalā *loc. cit.*
149	180 A. D.	Jaina inscription from Junagarh of Rudra Sinha's time, son of Rudradāman records that some caves were built for Jaina Śramaṇas. Ref. Cave Temples of India, pp. 190-196 and Arch: Survey of west : India (Burgess) Vol. II pp. 140-141.
150	200 A.D.	The fort of "Dharaṇi-kotā" in the district of Krishnā, was built by the Pallava king Mukatēśvara, who belonged probably to the 2nd century A. D. The Jaina community was

No	Period & Date	Events
		prominent and held a successful debate with the Brāhmaṇas. Ref. MJS. p. 23.
151	200 A. D.	'The epigraphical records.. show that until the 2nd or 3rd century A D. practically all royal and private benevolences were bestowed upon Jaina and Buddhist Institutions and that patronge of Brahmaṇas, as such, and of Brahmanical deities did not begin until after that time. ...The masses followed the religious traditions of their forefathers and Buddhist and Jaina monastries continued to be public schools and universities for the greater part of India." — Havell. Ref : HARI , pp. 147-156

To be continued.

JAIN RULES OF ETIQUETTE

By

Dr B. C. Law, M A., B.L., Ph D., D. Litt.

The Jain rules of etiquette are as interesting as the Hindu and Buddhist rules of decorum[1]. The Jain rules of conduct as laid down in the Ācārāṅga Sūtra contain also the rules of decorum. As there are no penal laws attached to them, the rules of conduct may be fairly treated as the rules of decorum and of etiquette. They are sufficiently exhaustive and reasonable. They are classified under such general heads as begging, walking, modes of speech, entry into others' possessions, postures, place of study, and attending to the calls of nature. Here begging includes the begging of food and drink, the begging for a bowl, the begging of clothes, and the begging for a residence, or a couch. Under these sub-heads are to be found the rules governing the modes of eating and drinking, dressing and lying down. Walking includes travelling, crossing, swimming and other forms of movement. The postures are those which are included in religious exercises.

The reasons of arguments behind these rules are based on such general principles as the avoidance of situations in which the monk or nun may be guilty of hurting or killing all forms of life, or of inconveniencing others, or of wounding social, moral or religious scruples of others, the avoidance of situations in which the monk or nun may run the risk of endangering his or her own position, or of receiving bodily injuries, or of feeling discomfort, or of being found guilty of theft or trespass, or of moral degradation, or of mental perturbation, and the avoidance of all situations in which the monk or nun may be found acting under the slightest influence of greed, ill-will, evil intention, discontent, delusion, inconsideration, haughtiness, and the like.

---

1 B. C. Law, *Buddhist rules of decorum*, (Dr. R. K. Mookerjee presentation Volume-Bhārata Kaumudi.)

First, as to dressing and begging of clothes :

The full dress of a Jain (Śvetāmbara) monk consists of two linen undergarments and one woollen upper garment. Among other requisites, he is to possess an almsbowl with six articles belonging to it, a broom (*rajoharaṇa*) and a veil for the mouth (*mukha-vatthikā*). At the advent of the hot season he is to leave off the used upper garment of the three and to be clad with an upper and under-garment or with the undermost garment, or with one gown, or with no clothes[1]. If a monk is young, strong and healthy, he may wear one robe, and not two. In the case of a nun, she is to have four raiments one two cubits broad, two three cubits broad, one four cubits broad, the first to wear in the cloister, the second and third for out-of-door, the fourth for assemblies[2].

A mendicant who is provided with three robes, shall not beg for a fourth robe ; who is provided with two robes, shall not beg for a third robe ; who is provided with one robe, shall not beg for a second robe.

In begging for clothes, a mendicant may specify their quality so that they may be pure and acceptable to him. He shall ask for those clothes which he has well inspected as to their purity and acceptability. He shall ask for those clothes which at the moment are not wanted or meant for others. He shall ask for only those clothes which may be spared immediately.

Properly and fully dressed, a mendicant shall enter into the abode of a householder for the sake of alms and go to the out-of-door place for religious practices or study, and wander from village to village. During heavy showers, however, he shall not be fully dressed. Even in face of all dangers, he shall not part with clothes, leave the road or take another path but unperturbed and with his mind not directed to outward things and circumspectly he shall wander about in the country.

These are quite in accord with the Buddhist rules of conduct and decorum. Among those which are in conflict with the Buddhist,

---

1 *Ācārāṅga Sutra*, S. B. E., Vol. XXII, I. 7, 4-7.

2 *Ibid.*, II. 5, 1.

the first and foremost is that which permits a mendicant going naked. The second objectionable rule from the Buddhist point of view is that a Jain mendicant is to wear the clothes in that state in which he receives them from the donor, and not to wash or dye them, nor is he to wear washed or dyed clothes, nor to hide his (dirty) clothes when passing through other village, being careless of dress He is not to wash his clothes, rub or wipe them with ground drugs, nor to clean or wash them in plentiful water, because they are not new[1].

The Ācārāṅga Sūtra refers to the ugly habits of the Jain mendicants. It says, "Some householders are of clean habits and the mendicants, because they never bathe, are covered with uncleanliness; they smell badly, they are disagreeable, they are loathsome[2].

Secondly, as to eating and begging of food and drink :

A mendicant shall not eat or accept food or drink which is impure and forbidden. The impure food is that which is placed on a post or pillar or beam or scaffold or loft or platform or roof or some such-like elevated place, that which is kept in earthenware, that which is kept on the earth-body, the wind-body, and the fire-body, that which is cooled by blowing or fanning, and that which is placed on vegetable or animal matter[3].

The impure drink is the water which has been used for watering flour or sesamum or rice, or which has been recently used for washing, which has not acquired a new taste, nor altered its taste or nature, nor has been strained[4].

The forbidden food consists of the juice of fruits, raw things that contain the slightest trace of life in them, meat and fish diet, and the food which is wanted by or meant for others.

The forbidden drink includes all kinds of alcohol. A mendicant on a begging tour shall not go to a festival, proceded or followed by an entertainment, to partake of it, knowing that chiefly meat or fish will be served, nor to a wedding breakfast, nor to a funeral dinner, or to a family dinner[5].

1 Ācārāṅgas, I, 7. 4. 1; II, 5. 1. 17; II, 5. 2 1.

2 *Ibid.*, II. 2, 2, 1.

3 *Ibid.*, II, 1, 7.

4 *Ibid.*, II. 1, 7.

5 *ĀcārāṅgaSūtra*, II. 1, 4. 1.

A mendicant on a begging tour shall not stand leaning against the door-post of the householder's abode, or his sink or spitting pot, nor in sight of, or opposite to his bathroom or privy, nor should he contemplate a loophole or a mended spot or a fissure of the house or the bathing house, showing in that direction with an arm or pointing with a finger[1].

He shall not beg, pointing with a finger at the householder or moving him with a finger, threatening or scratching him with a finger, praising or cursing him[2].

Thirdly, as to walking :

A mendicant shall watchfully wander from village to village. He shall look forward for four cubits, and seeing animals, he shall move on by walking on his toes or heels or the sides of his feet, or shall choose some by-path. He shall avoid treading on living beings, seeds, grass, water or mud. He shall not choose the road which lies through places belonging to borderers, robbers, etc.

In crossing a river, he shall cautiously enter the boat with the owner's permission. He shall not choose the stern or the prow or the middle of the boat, nor should he look at it holding up his arms, pointing at it with his finger. On getting into the boat, he shall step apart, examine his dress, put aside his provender, and wipe his body from head to heels. While swimming in the water, he shall not dive up and down, lest water will enter into his ears, eyes, nose or mouth, nor shall he touch another person's hand, foot or body with his own.

He shall not wipe or rub or brush or stroke or dry or warm or heat his body in the sun before the water on his body has dried up and the moisture is gone.

He shall not travel, conversing with householders. If he comes across a shallow water, he shall circumspectly wade through it. With his feet soiled with mud, he shall not walk out of the way and destroy the grass by treading or trampling.

Fourthly, as to sleeping :

Having spread a perfectly pure bed or couch a mendicant shall

1 *Ibid.*, II, 1, 4, 1.

2 *Ibid.*, II, 1, 6, 3.

cautiously use it, wiping first his body from head to heels. While sleeping, he shall take care that his bed or couch is kept at such a distance from that of the next person that he does not touch his neighbour's hand, foot or body with his own. Before inhaling or exhaling, coughing or sneezing, yawning or vomitting, he shall cover his face or the place where it lies[1].

Fifthly, as to speaking :

He shall speak with precision, employing language in moderation and restraint, which is grammatically correct, and understanding its true import. He shall use true and accurate speech, which is not sinful, blameable, rough and harsh. If in addressing a man, he does not respond, he shall not say, "You low fellow! You lout! You Śūdra ! You low-born wretch! or the like." It is better for him to say, O longlived one! O faithful one! O lover of truth! or the like[2].

A mendicant, seeing any sort of diseases shall not talk of them in this way : "He has got boils or leprosy, his hand is cut, or his foot, nose, ear or lip is cut." Seeing any sort of good qualities, he shall speak thus : "He is strong, powerful, vigorous, famous, well-formed, well-proportioned, handsome[1]."

Sixthly, as to attending to the calls of nature :

A mendicant shall ease nature on the ground which is well inspected and cleaned, and which is not infected by eggs or living beings. He shall not ease nature on a pillar or bench or scaffold or loft or tower or roof, nor on a bare ground, the wet ground, the dusty ground, nor on a rock or clay containing life, etc. He shall take his own chamber-pot or that of somebody else, and going apart with it, he is to ease nature in a secluded place where no people pass or see them, and leave the excrements on a heap of ashes etc[2].

The instances need not be multiplied. Those cited are enough to show that the Jain rules of conduct and of decorum, agreeing in their essential features with the Buddhist rules, were broadbased upon careful considerations and keen observations. A comparative study of these rules as enforced by different religions of India and of the world is sure to yield many fruitful results.

---

1 *Ācārāṅga*, II, 2, 3, 26-28.

2 *Ibid.*, II, 4, 1.

3 *Ācārāṅga Sūtra* I, 4, 2, 1-2. 4 *Ibid.*, II, 10.

TAVANIDHI

By

Prof. Dr. A. N. Upadhye

With reference to my paper 'Tavanidhi and its Inscriptions' (Jaina Antiquary X. ii, pp. 49-51), Professor S. Śrīkaṇṭha Śāstri has contributed a learned note (Ibidem XI. i, pp. 1-3) drawing our attention to some more localities, called Tavanandi and Tavanidhi, referred to in inscriptions; and his conclusion stands thus: 'it is probable that Tavanandi near Sorab is Tavanidhi mentioned by Nayasena'. The information given by Nayasena is very meagre: he only refers to Pārśvajina standing at Tavanidhi; and it is now left for us to try to identify this place with some or other present-day locality having a similar name. Besides the one that was brought from Hukeri and established there in 1880, Tavanidhi (Dt. Belgaum) contains two images of Pārśvanātha which are pretty old as noted in my paper. It is on this ground that I thought that Nayasena is referring to this place. One cannot be dogmatic, because Nayasena's information is scanty. Professor Śāstri is silent on the point whether any image of Pārśvanātha is found at Tavanandi which he wants to identify with Tavanidhi referred to by Nayasena. I hope, other scholars would shed more light on this point.

With regard to the evidence of the Tīrthamālā, Professor Śāstri remarks thus: 'Śīlavijaya's Tīrthamālā quoted by Prof Upadhye is not precise also'. He need not have doubted the precision of my remark which runs thus on the authority of Jaina Sāhitya aura Itihāsa by Pt. Premi: 'Śīlavijaya, a Śvetāmbara Jaina monk, visited various Jaina holy places of Deccan in Saṁvat 1731-32(-57 = 1674 A.D.) and wrote an account called Tīrthamālā. He refers to Tavanidhi (wrongly written as Navanidhi) rather casually along with Rāyabāga and Hukeri. The contemporary ruler was Śivājī.' I see no reason why the precision of this remark should be questioned. Śīlavijaya is more than precise, as compared with Nayasena's statement about Tavanidhi He mentions two nearest important places like Rāyabāga and Hukeri, and his reference to Śivājī as a contemporary ruler in 1674 is quite significant. From these details, it is clear that Śīlavijaya is referring to Tavanidhi in the Belgaum Dt. For those

who want to verify my remarks, I give below the relevant extracts from the Tīrthamālā (Śrī-Yaśovijaya Jaina Granthamālā, Bhavanagar 1921) a copy of which Āchārya Jinavijayaji kindly sent to me:

पास करहिडोनि कलिकुंड महिमा जेहनो आज अपंड ।
दीवाली दिन सघला देव ब्रह्मादिक प्रणमि नितुमेव ॥१००॥
चारणगिरि नवनिधि पास रायवाग हुकेरी वास ।
देव घणा श्रावक धनवंत पंचमनातइँ बहु सतवंत ॥१०१॥
पंचम वनीक छीपी कंसार वणकर चोथो श्रावक सार ।
भोजन भेला कोइ नवि करि दीगंबर श्रावक ते सिरि ॥१०२॥
शिवातणी सीमि वली जैन मरहठदेसि रहि आधीन ।
तुल्जादेवी सेवि घणा परता पूरि सेवकतणा ॥१०३॥

THE JAIN CANONS AND THEIR PLACE IN THE STUDY OF ANCIENT INDIAN CULTURE.

(Prof. J. C. Jain, M. A, Ph D.)

Suyanāṇa or Scriptural Knowledge, otherwise known as Siddhānta or Āgama consists of the twelve Aṅgas, twelve Upāṅgas. ten Paiṇṇas, six Cheda Sūtras, Nandi and Anuyoga and four Mūla Sūtras[1]. These scriptures form the canon of the Śvetāmbaras alone

---

1. (i) *The twelve Aṅgas* : 1. Āyārāṇa Sutta (Ācārāṅga Sūtra); 2. Sūyagadaṅga (Sūtarakṛtāṅga); 3. Thāṇāṅga (Sthānāṅga), 4 Samavāyāṅga; 5. Bhagavatī or Viyāhapaṇṇatti (Vyākhya-Prajñapti); 6. Nāyādhammakahāo (Jñātadharmokathāḥ); 7. Uvāsagadasāo (Upāsakadaśāḥ); 8 Antagaḍadasāo (Antakṛddaśāḥ); 9. Anuttarovavāiyadasāo (Anuttaraupapātikadaśāḥ ; 10 Paṇhavāgaraṇāim (Praśnavyākaraṇāni); 11. Vivāgasuyam (Vipākaśrutam); 12. Diṭṭhivāya (Dṛṣṭivāda).

(ii) *The twelve Upāṅgas* (*Uvaṅgas*) or *"secondary limbs"* : 1. Ovāiya or Uvavāiya (Aupapātika); 2. Rāyapaseṇaijja or Rāyapasenaijja or Rāyapasenaiya (Rājapraśeniya; 3. Jīvābhigama, 4 Paṇṇavaṇā (Prajñāpanā); 5. Sūrapannatti or Sūriyapannatti (Sūryaprajñapti), 6 Jambudīvapannatti (Jambudvīpa Prajñapti ; 7. Candapannatti (Candraprajñapti), 8. Niryāvalī, 9 Kappavadaṃsiāo (Kalpāvataṃsikāḥ); 10 Pupphiāo (Puṣpikāḥ), 11. Pupphacūliāo (Puṣpacūlikāḥ); 12 Vaṇhidasāo (Vṛṣṇidaśāḥ).

(iii) *The ten Paiṇṇās* (*Prakīrṇas*) or *"Scattered pieces"* : 1. Causaraṇa (Catuḥśaraṇa) by Vīrabhadra; 2. Āurapaccakkhāṇa (Āturapratyakhyāna); 3. Bhattapariṇṇā (Bhaktaparijñā); 4. Saṃthāra (Saṃstāra); 5 Tandulaveyāliya (Tandulavaitālika); 6. Candavijjhaya; 7. Devindatthava (Devendrastava); 8. Ganivijjā (Gaṇividyā); 9. Mahāpaccakkhāna (Mahāpratkhyāna), 10. Vīrattha (Vīrastava).

(iv) *The six cheya suttas* (*Cheda sūtras*) : 1. Nisīha (Niśītha); 2. Mahānisīha); (Mahāniśītha); 3. Vavahāra (Vyavahāra); 4. Āyāradasāo (Ācāradaśāḥ) or Dasāsuyakkandha (Daśāśrutaskandha), 5. Kappa (Kalpa or Bṛhat-Kalpa); 6. Pañcakappa (Pañcakalpa). Instead of the last-named the Jīyakappa (Jītakalpa) by Jinabhadra is also mentioned.

(v) *Individual texts* : 1. Nandi or Nandi Sutta; 2. Anuogadāra (Anuyogadvāra).

(vi) *The four Mula Suttas* (*Mūla Sūtras*) : 1. Uttarajjhaya (Uttarādhyāyaḥ) or Uttarajjhayana (Uttarādhyayana); 2. Āvassaya (Āvaśyaka); 3. Dasaveyāliya (Daśavaikālika); 4. Piṇḍa Nijjutti (Pinda Niryukti) The third and fourth

and are disowned by the Digambaras. Out of this subsidiary canonical literature with the exception of the Aṅgas, the lists and the titles of the texts are not always uniform. The number of the Painnās, for instance, is very indefinite and varies to a great extent. Sometimes Nandi, Anuyogadāra and Pañcakappa are placed at the head of the Painnās. The traditional number of books in the Siddhānta is forty five (Dṛṣṭivāda being lost), but the number of texts mentioned in various places varies between forty five and fifty[1].

The Redaction and the age of the Jain Canon.

According to the Jain tradition, the disciples of Mahāvīra, known as Gaṇadharas or heads of schools, compiled the Master's words in the Aṅgas and Upāṅgas. Regarding the antiquity and the authority of the Canon, the Śvetāmbara Jains have the following tradition :

The original doctrine was contained in the fourteen Puvvas (Pūrvas) 'old texts', which Mahāvīra himself had taught to his Gaṇadharas. The knowledge of the "old texts" was, however, soon lost. Only one of Mahāvīra's original disciples handed them down, and that they were only preserved for six generations. Now in the

---

Mūla Sūtras are also sometimes given as Ohanijjutti (Ogha Niryukti) and Pakkhi (Pākṣika Sūtra), and sometimes the Piṇḍanijjutti and Ohanijjutii appear in the list of the Cheya Suttas (vide Winternitz History of Indian Literature Vol II, P. 428ff) of also Nandi (Su. 43f) where the canonical works are divided into Aṅgas and Aṅgabāhiriyas ("texts standing outside the Aṅgas) or Aṅgapavittha (belonging to the Aṅgas) and Anaṅgapavittha (not belonging to the Aṅgas). The former is further divided into twelve Aṅgas or Dvādaśāṅga also known as Gaṇipiḍaga. The latter is divided into Āvassaya and Āvassaya-vairitta The former is sub-divided into six, whereas the latter into two, viz. (1) Kāliya and (2) Ukkāliya. The Kāliya and Ukkāliya have various divisions, out of which large number of w6rks are not available at present.

1. Cf. the list of eighty four Āgamas consisting of eleven Aṅgas, 12 Uvaṅgas 5 Cheya-suttas, 3 Mūla-suttas, 30 Painnagas, 2 Cūliya suttas, Pakkhiya sutta, Khamaṇa sutta, Vandittu sutta, Isibhāsiya, Pajjosanakappa, Jīyakappa, Jaijīya-kappa, Saddhajīyakappa, 10 Nijjuttis, Piṇḍa-Nijjutti, Saṁsatta-Nijjutti and Viseśāvassayabhāsa (H. R. Kapadia, The Canonical Literature of the Jainas, P. 58).

second century after Mahāvīra's death, there was a terrible famine in Magadha which lasted for a long period. This seriously affected the study of the Jain monks who could hardly get sufficient alms for their maintenance. In fact, a number of monks, for want of food and drink, had to lose their precious lives. In course of time, when the famine was over, a council was convoked at Pāṭaliputra after about 160 years of Mahāvīra's death (i. e about 307 B. C.) and the sacred lore which was in a state of decay, was put in order. We learn from the Āvaśyaya cūrni[1] that during the period of a long terrible famine in Magadha the monks had left the country and had migrated to the sea-shore. After the end of the famine they assembled in Pāṭaliputra and by collecting a section (uddesa) from one and a portion (khaṇḍa) from another, compiled the eleven Aṅgas But nobody remembered the Diṭṭhivāya Thereupon a couple (saṅghāḍaa) of monks were sent to Bhadrabāhu, who knew the fourteen Pūrvas and who had already retired to Nepala in order to undertake the Mahāprāṇavrata. But Bhadrabāhu declined to teach Diṭṭhivāya since he was *engaged in meditation*. The monks returned and reported the matter to the Jain Saṅgha of Pāṭaliputra whereupon two other monks were deputed to Bhadaabāhu asking him as to what penalty could be prescribed for disobeying the order of the Saṅgha since he had committed the same offence. Later on, being threatened with ex-communication, Bhadrabāhu agreed to teach Diṭṭhivāya on certain conditions in seven instalments (paḍi-pucchagāṇi). Then five hundred monks were deputed to Nepala to learn Dṭṭhivāya, but gradually all except Sthūlabhadra dropped out who succeeded in learning all the Pūrvas But as penalty for some offence which he had committed towards his teacher he was made to give the word of honour not to teach the last four Pūrvas to anybody. Thus the knowledge of the Pūrvas went into a state of oblivion from the time of Sthūlabhadra[2]. This is known

1. II P. 187 also cf. Titthogāli painnya quoted in the article 'Vīra Nirvāna aur Jain Kālagananā' by Kalyan Vijaya in the Nāgarī Pracāriṇī Patrika vols. X-XI, PP. 94-103.

2. For the loss of Dṛṣṭivāda see Weber's Sacred Literature of the Jains, PP. 54 ff, reprinted from the Indian Antiquary, Bombay 1893, and C. J. Shah's Jainism in North India, P. 230.

as the Pāṭaliputra version (vācanā) of the Jain Canons.

Then in the course of time, the sacred books of the Jains, again were reduced to a state of disorder and so between the year 827 and 840 after the death of Mahāvīra (i. e. 360-373 A D.) another council was summoned at Mathurā under the presidentship of Ārya Skandila. We read in the Nandi Cūrṇi (P 8) that during the time of terrible famine which lasted for a very long time it became difficult for the monks to obtain their alms and so they were unable to continue the study of the scriptures and consequently a great portion of the canon was lost. In the course of time, after the famine came to an end, a council was convened at Mathurā and whatever could be gathered from different monks, was collected and was fixed in the form of the Canon known as Kāliyasuya. According to another tradition, however, no Canon was lost during this period, but except Ārya Skandila most of eminent monks, versed in the Agama (Anuyogadharāh) lost their lives. This is known as the Māthuri version (vācanā) of the Canons.

Simultaneously another council was summoned at Valabhī under the presidentship of Nāgārjuna Sūri in which the Canons were fixed and what was forgotten was compiled after careful edition[1]. This fact is corroborated by the statement in the Jyotiṣkaraṇḍaka Ṭīkā (P. 41) where it is stated that in the time of Skandila there was a terrible famine when the Jain monks had to discontinue their studies. Later on, at the end of the famine, one Saṅgha met at in Valabhī and another at Mathurā. According to Malayagiri, the author of the Jyotiṣkaraṇḍaka Ṭīkā, Anuyogadvāra and other Canons are based on the Māthurī version whereas the Jyotiṣkaraṇḍa on the Valabhī. This is known as Valabhī version (vācanā) of the Canons[2].

Unfortunately after redaction of the Canons in these councils, Acārya Skandila and Nāgārjuna could not get an opportunity to

1. Kathāvali. 298 after "Vīr Nirvāṇa" etc. PP. 110 f.

2. Cf the Buddist Councils held at Rājagaha, Vesāli and Pāṭaliputra in order to establish a Canon ef the religion and of the discipline of the order, see H. Kern, Manual of Indian Buddhism, P. 101 ff. The last council was held in rhe reign of King Asoka in the third century B. C.

see each other and hence the two different versions of the Canons remained unreconciled So after one hundred and fifty years, in the year 980 (993) of Mahavira's death (i e. 513 or 526 A. D.) another council was convoked at Valabhī under the able presidentship of Devardhigaṇa in which all the important works of the Jains then available were written down[1]. In this council, as it has been pointed out, a serious attempt was made to reconcile the different readings of the two versions pertaining to the two councils In cases where reconciliation was not possible, it was thought desirable to note the important variants either in the original Āgamas or in their commentaries. In this council, however, the entire Jain canonical literature was written down according to the version of the Mathurā council, introducing the important variants generally by the words 'Vāyaṇāntara puṇa' (according to another version) or 'Nāgārjuniyāstuevam vadanti the disciples of Nāgārjuna say so).[2]

Thus we see that Devardhigani was only a redactor and not the author of the Jain Canons, and the date of compilation of the Agamas is much earlier than their redaction by Devardhigaṇi. To quote Prof Jacobi, "Devardhi's position relative to the sacred literature af the Jainas appears therefore to us in a different light from what is generally believed to have been. He probably arranged the already existing MSS in a Canon, taking down from the mouth of learned theologians only such works of which MSS were not available. Of this Canon a great many copies were taken, in order to furnish every seminary with books which had become necessary by the newly introduced change in the method of religious instructions. Devardhi's edition of Siddhānta is therefore only a redaction of the sacred books which existed before his time in nearly the same form Any single passage in sacred text may have been introduced by the editor, but the bulk of Siddhānta is certainly not of his making[3]. Thus the Canon which Devardhigani compiled, and which has come

---

1. According to Nemicandra, however, the canons were actually written down in the form of books (pustakeṣu nyastam) in the last two councils (yogasastra 3, P. 206 a).

2. See Vīra Nirvāṇa etc. PP. 112-118.

3. S. B. E., vol. XXII, P. XXXIX; also winternitz, op. cit., PP. 433 f.

down to us is the final result of a literary that must have begun as soon as the organisation of the order in the monastic life were firmly established. This was in all probability the case not long after the death of Mahāvīra. The earliest portion of the Canon may therefore quite possibly belong to the period of the first disciples of Mahāvīra himself, or at the latest to the second century after Mahāvīra's death—the period of Maurya Candragupta, when a council was summoned at Pāṭaliputra.[1]

The Antiquity of the Canons.

The Canonical books of the Jains are important for many reasons. They represent the teachings of Mahāvīra and the ancient historical traditions regarding the religion of the Jainas. The Kalpasūtra, for example, records Mahāvīra's life including his itinerary during his ascetic life his predecessors, his Gaṇadharas or heads of the schools and the list of the Patriarchs (Therāvali) together with their Gaṇas, Kulas and Sākhās. The Bhagavatī Sūtra in its different dialogues gives a vivid picture of the life and work of Mahāvīra, his relationship to his disciples and the contemporary kings and princes It contains a presentation of the Jain dogmas in the form of questions and answers between Mahāvīra and his disciple Indrabhūti. The Thāṇāṅga records the names of the eight kings ordained by Mahāvīra and various other important points of antiquity. The Uvāsagadasāo contains chapters on the lives of ten lay-disciples of Mahāvīra and the stories of the Nāyādhammakahāo explaining the teachings of the Lord. Further, The Ācārāṅga, the Sūtrakṛtāṅga and the Uttarādhyayana contain the oldest part of the Canon from linguistic and literary point of view[2]. The last-mentioned Canon consists of valuable poems in the form of beautiful parables and similes, dialogues and ballads after the true manner of the ascetic poetry of ancient India. These poems have their parallels in the Buddhist and the Brahmanic litera ure and bear striking resemblance to the Jātakas, Dhammapada, Suttanipāta and the Sānti Parva of the

1 Winternitz : op. cit., P. 434 f.

2 See Jacobi : S. B. E. vol. XXII, Pt. XL-XLIII; Winternitz; op. cit. P. 431.

Mahābhārata[1]. In the Uttarādhyayana we come across the story of king Nimi, one of the Prateyaka Buddhas in the Buddhist legends, in which the ideal of asceticism is preached. Then is the legend of Harikesa, the holy man of low-caste, which bears an exact resemblance to the Mātaṅga Jātaka. Similarly the chapters on Citra and Sambhuta and Isukāra belong to the great cycle of tales of King Brahmadatta, forming remarkable parallels to the Jātakas, the Cittasambhūta Jātaka and Hathipāla Jātaka[2]. Then the meeting between Kesi, a pupil of Pārsva, and Goyama, a pupil of Mahāvīra and their discussion on various points of ancient and contemporary creed throws flood of light on the past history of Jainism and may be considered as a valuable document for the history of ancient Jain tenets[3]. The Rāyapaseṇiya Sutta records a dialogue between Kesī and the King Paesi which reminds us of the Payāsi-Sutta of the Digha-Nikāya. It records another statement saying that a Brāhmaṇa who had committed certain crimes should be branded with the image of a dog (suṇaga) or a kuṇḍiya pot on his forehead[4], which coincides with similar statement in Kauṭilya's Arthaśāstra[5]. This form of punishment as has been remarked by Jarl Charpentier, does not occur in Manu and the later law-books, where the corporal punishments on Brāhmaṇas are not permissible, which shows that the Jain Canons must be near to the time of Kauṭilya than that of the later Dharmaśāstras. The Rāyapaseṇiya also contains various architectural and musical terms which are considerably old and are rarely found

1. See Winternitz, "Some Problems of Indian Literature", the chapter on Ascetic literature in Ancient India; also History of Indian Literature II, PP. 466-70; Jarl Charpentier. Uttar., PP. 44 ff; also Prof A M. Ghatge's article 'A few parallels in Jain & Buddhist

2. A number of verses are also common in early Pāli literature and Ardhamāgadhi literature. Cf for instance in verse 'Dhiratthu to jaso-Kāmī' etc. in the Dasaveyāliya (2.7) with the verse in the Visavanta Jātaka (I, No. 69). p 311; also the verse 'Kaeammu Kujja) etc in the Dasaveyāliya (2 1) with the verse in the Saṃyutta-Nikāya, Nandana Vagga, Dukkaram, p 7.

Works in the A. B. R. S., vol. XVII, 1036.

3. Jarl Charpentier: op. cit., P. 46 f; see also Cambrige History of India, vol. I, ch. VI.

4. Sū. 184. 5. cf. P. 264.

elsewhere. Then the Cvavāiya gives a beautiful description of King Kuṇiya and his pilgrimage to lord Mahāvīra in Campā. The Niryāvaliyāo refers to the great battle between Kūṇiya and Ceṭaka when the eighteen confederate kings are stated to have sided with the latter. Lastly the Cheda sūtras belong to the earliest portion of the Canon, prescribing the rules of life and conduct for the monks and nuns and the prescriptions for atonements of sins come across here the rules about the entire discipline of the order, which bear resemblance to the vinaya of the Baddhists[1].

The Bṛhat Kalpa Sūtra (1,50) states that the monks and nuns may wander towards the east as far as Aṅga-Magadha, towards the south as far as Kosambi, towards the west as far as Thūṇā, towards the north as far as Kuṇālā. This sermon is said to have been given by Mahāvira to his disciples while he sojourned at the the Subhūmibhāga garden at Sāketa, which apparently goes back to an old time when Jainism was in its infancy and existed only in a very limited part of India round about the country of Magadha and a part of United Provinces. As a matter of fact, it was Samprati, who encouraged the propagation of the Jainism throughout the length and breadth of the country after he had come to power Further, the first section of the Bṛhatkalpa Sūtra which prescribes the eating of the broken or unbroken, raw and ripe palm-fruit (tāla) or the root (palamba) for the Jain monks and nuns, leads us to the olden days of terrible famine which visited Magadha and is said to have lasted for a long time, when Bhadrabāhu migrated to Nepala These precepts indicate the hardest days through which the Jain monks and nuns had to pass and how they had to live on raw palm-fruits and roots of the trees for their subsistence. Thus in the Jain Canon there are various traditions, historical or semi-historical presenting the political, administrative, social, economic and geographical conditions, throwing an immense light on ancient history and culture of India, which prove the antiquity of the Canons.

(Contd.)

---

1. Cf. Winternitz. op cit., P. 442.

MANDANA, THE PRIME MINISTER OF MALWA AND HIS WORKS—BETWEEN A D. 1400 & 1448.

By

P. K Gode, M.A , Curator B.O.R. Institute, Poona.

Two Sanskrit works of Maṇḍana Mantri viz. (1) काव्यमण्डन and (2) शृङ्गारमण्डन have been published in the Series called the *Hemacandrācārya Granthāvalī*[1]. The subject of the काव्यमण्डन (= *KM*) is "कौरवपाण्डवोदयकथा" as stated in the Colophon verses of the 13 *Sargas* of the poem. The extent of the *KM* will be gathered from the following table of verses in each *Sarga* :—

Sarga	I	35	Verses	*Sarga*	VII	41	Verses
,,	II	31	,,	,,	VIII	90	,,
,,	III	41	,,	,,	IX	47	,,
,,	IV	45	,,	,,	X	70	,,
,,	V	38	,,	,,	XI	52	,,
,,	VI	50	,,	,,	XII	75	,,
				,,	XIII	56	,,
		240				431	

The total number of verses of the *KM* is 671. The author bows to 'वीतरागः परेशः" in the introductory verses[2]. He belonged to

---

1. Published by L. B. Bhogilal, Secretary, Hemacandrācārya Sabhā, Pattan (Gujarat) 1920. The *Kāvyamaṇḍana* consists of 75 pages while the *Śṛṅgāramaṇḍana* is only of 12 pages.

2. These verses read as follows :—

"श्रीमद्धामस्तुमस्तत्त्रिभुवनमहितं यत्सदा लिप्तजुष्टं
ध्यातं योगीन्द्रवृन्दैः स्वभवविहतये विघ्नविध्वंसकारि ।
नित्यं सद्वैतरागं विघटितबहलध्वान्तमालं जनानां
भक्तानां भूरि सम्पत्सरसितुहसमुल्लासते बालहेलिम ॥१॥

यदनघपदपद्मध्यायिनस्ते यतीन्द्रा
न दधति विषयेषु स्वर्गभोग्येष्वपीच्छाम् ।
नति मदमितसम्पत्कन्दलीकृष्णमेघः
स जयति सुरसेव्यो वीतरागः परेशः ॥२॥

"श्रीमालवंश" and was the son of बाहड as stated by him in the successive verses of the 13 Sargas, which repeat these details regarding his parentage and lineage. The Colophon of the first Sarga reads as follows:—

> "श्रीमद्वन्द्यजिनेन्द्रनिर्भरनतेः श्रीमालवंशोन्नतेः
> श्रीमद्बाहडनन्दनस्य दधतः श्रीमण्डनाख्यां कवेः।
> काव्ये कौरवपाण्डवोदयकथारम्ये कृतौ सद्गुणो
> माधुर्यं पृथु काव्यमण्डन इते सर्गोऽयमाद्योऽभवत् ॥"

This verse is repeated at the end of each of the 13 Sargas as already stated by me. The references to 'वीतराग परेश" and to "जिनेन्द्र" in the beginning and end of Sarga I respectively show that the author of the *KM* was a Jaina. The work ends as follows:—

Pages 74-75—महाजिनं वृषाधीशं वीतरागं जितस्मरम्।
सदाशुभसितं वन्दे सर्वदैवतमीश्वरम् ॥५२॥
अकृयेतन्मण्डपाख्यं प्रथितमरिचमूदुर्ग्रहं दुर्गमुच्चै—
र्यस्मिन्नालमसाहिर्निवसति बलवान्दुःसहः पार्थिवानाम्।
यच्छौर्यैरमन्दो प्रबलधरणिभृत्सैन्यवन्याभिपाती
शस्त्रस्त्राबाष्पवृष्ट्याऽप्यधिकतरमहो दीप्यते सिच्यमानः ॥५३॥
श्रीमज्झंझणनन्दना हि षडमे श्रीचाहडो बाहडः
स्तुत्यो देहडसंज्ञकश्च गुणवान् पद्मस्स आल्हदकः।
लक्ष्मीवानपि पाहुराज इति यो जैनेन्द्रधर्माश्रितः
कोलाभक्तनृपात्तलोकनिवहांस्तेऽमोचयन्धार्मिकाः ॥५४॥
श्रीमद्बाहडनन्दनः समधरोऽभूद्भाग्यवान्सद्गुणो—
स्त्येतस्यावरजो रजोविरहितो भूमण्डनं मण्डनः।
श्रीमान्सोनगिरान्वयः खरतरः श्रीमालवंशोद्भवः
सोऽकार्षीत्किल काव्यमण्डनमिदं विद्वत्कवीन्द्रप्रियः ॥५५॥
श्रीमद्वन्द्य जिनेन्द्र निर्भनतेः ......सर्गः परो द्वादशात् ॥५६॥

"......लिखितं संवत् १५०४ वर्षे शाके १३६९ प्रवर्तमाने षष्ट्यब्दमध्ये श्रीमुखनाम्नि संवत्सरे दक्षिणायने वर्षाऋतौ भाद्रशुदि ५ पञ्चम्यां तिथौ बुधदिने पुस्तकमलेखि।"

The above Colophon reveals the following information about the author of the *KM* as recorded by him :—

(1) He was the follower of "महाजिन" (v. 52)

(2) The work *KM* was composed when a king of the name "आलमसाहि" was ruling at "मण्डपदुर्ग". This king was a terror to his enemies (v. 53)

(3) The genealogy of the author of the *KM* is given as follows :—
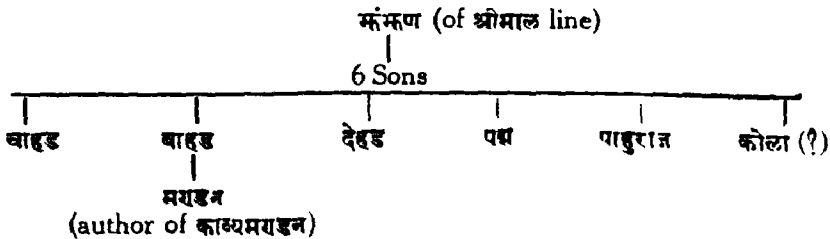
(4) The MS of the *KM* on which the present edition is based was copied in *Saṁvat* 1504 or *Śaka 1369=A.D. 1447-48.*

It is clear from the foregoing details that the date of composition of the *KM* is earlier than A. D. 1448 and that it was composed during the reign of one आलमसाहि king or governor of Malwa with his capital at मण्डपदुर्ग or *Mandu*[1].

---

1. About A.D. *1408. Alp Khān* son of Dilawar Khān of Malwa poisoned his father and ascended the throne with the title Sultan Hushang Ghori. Muzaffar I of Gujarat captured him, but after a year re-installed him about A.D. *1409* (vide *Bombay Gazetteer,* Vol. I, Pt. I (1896) pp 234—235) In A D. 1411 and 1418 *Hushang* invaded Gujarat but was repulsed by Ahmad Shah In A.D, *1419* Ahmad Shah defeated *Hushang* Shah, who took refuge in the fort of *Mandu.* Ahmad invaded Malwa again in A.D. 1422 but could not capture *Mandu.* In the *Rājavinoda* poem (by Udayarāja, a court poet of Muhammad Begaḍā) composed between A.D. *1458 and 1469* we find मण्डपदुर्ग (= *Mandu*) referred to as follows :—

"हुशंगसाहेरधिवासदुर्गमाक्रामता मण्डपमाग्रहेण ।
येनोच्चकैराचकृषे करेण पदे पदे मालवमंडलश्रीः ॥१॥

Vide p. 110 of *Bomb. Univ. Journal* Vol. IX, Part 2 (Sept. 1940) my paper on राजविनोद.

We now turn to the other work of *Maṇḍana* viz. *Śṛṅgāramaṇḍana* (=*ŚM*). This is a small poem of 108 verses dealing with *Śṛṅgāra-rasa*. It begins :—

"जीयाज्जगत्यत्र जडानुपेतः स कोपि शृङ्गाररसाम्बुराशिः ।
आकण्ठमाचामति नीलकण्ठो यद्गाहने गौर्यधरामृतानि ॥१॥

Verses 100 and 101 of the *ŚM*, which practically conclude the poem read as follows :

"यौवनस्था वनस्था वा सुन्दरी यदि वा दरी ।
रागेण वा विरागेण सेव्यतां सुरतेच्छया ॥१००॥
नैपुण्यार्जितपुण्यपुण्यमतुलः सर्वेन्द्रियार्थोदयः
कन्दर्पैकविलासवासवसतिः संसारसारं परम् ।
सा सारङ्गविलोचना विजयते यस्याः परीरम्भणे
योगं कामिजनोऽनुभूय विशदानन्दाद्वयं विन्दति ॥१०१॥

The poem reads some what like the *Śṛṅgāraśataka* of Bhartṛhari and may have been modelled after it

The following Concluding Colophon is informative like *Maṇḍana*'s Colophon to the *Kāvyamaṇḍana* :—

"नित्योन्नीतोरुधराधरभरविगलद्वारिधाराभिषिक्तः
स श्रीमान्मालवोऽसौ जगति विजयते सर्वनीवृन्नरेन्द्रः ।
सुच्छायौ वैरिवीरव्रजभुजमहसाक्रान्तभूकान्तमेभ्यो
यस्मिन्सद्वंशशाली स च किल सकलो मण्डपो दुर्गमास्ते ॥१०२॥
यस्याधीशो विधत्ते प्रणमदवनिभृद्भूद्दिक्कोटीरहीर
ऽयोर्निराजितांह्रि प्रबलरिपुबलारण्यदावप्रभावः ।
श्रीमानालमसाहि[1] स समररसिको बाणधाराभिवर्षी
चञ्चच्चुस्तडागानरिनृपसदृशामुष्टाम्भः प्रवाहान् ॥१०३॥

---

1. According to *Imp. Gazet. of India* IX, 1886, p 267, The first Muhammadan King of Malwa was *Dilāwar Khān Ghori* of Afghan origin, who ruled from *1387 to 1403* and placed his Capital at *Maṇḍu* He was succeeded by his son Hoshang Ghori to whom magnificant buildings are attributed. In 1526 the Ghori dynasty came to an end and in 1570 Malwa was added by Akbar to the Mughal dominions.

प्राचीनाः प्रासचीना अपि कविकुलवद्दाक्षिणात्या दशात्या
क्षोणी: क्षोणामहेन्द्रा विजहति हतिभिर्जर्जरा गूर्जराश्च ।
अन्ये मन्ये न मन्ये चलचलनिलया किं च सर्वप्यगर्वा
यस्मिन्नालंमामाहिचितिभृति विहितप्रस्थितो दिग्जयार्थम् ॥१०४॥
श्रीमालोहकुले किलातिविमले जातो यदायोभव-
न्मन्त्री सोनगिरान्वयः श्रीतनयः श्रीझञ्झणो नाम सः ।
अङ्गस्तैः शिशिरार्द्रकैरिव लसत्मत्पत्रयं राजितो
वंशो यस्य विभाव्यते स्म भुवने षडभिस्तनूजन्मभिः ॥१०५॥

प्राक्पुण्यकामगणवशीकृतसिन्धुजेषु
तेषु श्रीनेषु समतामपि धीरधीषु ।
सर्वज्ञसंज्ञमहसः स पुनः प्रसादा—
च्छ्रीबाहडः समभवद्वहुनागरीयान् ॥१०६॥
श्रीसङ्घप्रभुतामितस्य विमलप्राचीनपुण्याचल—
श्रेणीसन्दपि म एक उदितो यस्यात्मजो मण्डनः ।
यः सारस्वतकाव्यमण्डनकविर्दारिद्र्यभूभृत्पवि—
र्विज्ञानां न यथा रविर्विजयते तीव्रप्रतापैर्भुवि ॥१०७॥

श्रीसर्वज्ञपदाम्बुजालिशिरसा धर्मैकधमोरसा
विद्वन्मण्डनपण्डितेन कविना कान्तेन तेनामुना ।
श्रीमन्मण्डनसंज्ञकेन कविना शृंगारभङ्ग्या शत-
श्लोकी श्लोकयतमा सभा विरचिता पीयूष पाथोधिना ॥१०८॥

॥इति मण्डनकृतं शृङ्गारमण्डनं समाप्तम् ॥

संवत् १५०४ वर्षे कार्तिकशुक्ल द्वादश्यां शनौ दिने लिखितं पण्डित विनायकदास कायस्थेन ॥

The above extract gives us the following particulars about the work and its author :—

(1) Verse 102 refers to the king of Malwa (मालवो ······ नरेन्द्रः) and his Capital मण्डपदुर्ग or the fort of Mandu.

(2) The ruler of Malwa, then ruling at the above Capital was आलमसाहि (v. 103)

(3) आलमसाहि had vanquished in battle the Deccanese (दक्षिणात्याः) and the Gujaratis (गूर्जराः) (v. 104)

(4) झंझण (the grand father of मण्डन) belonged to श्रीमालकुल. He is called "मन्त्री" of "सोनगिरान्वय" as in verse 55 of मण्डनकाव्य. He had Six Sons, whose names are specified in the *Maṇḍana* Kāvya (v. 105)

(5) Of these sons बाहड was an eminent person (v. 106).

(6) His son मण्डन composed (सारस्वतमण्डन and काव्यमण्डन) (v. 107).

(7) मण्डन Composed these 100 verses (शतश्लोकी) bearing on शृङ्गार (v. 108).

(8) The MS was copied in Śaṁvat 1504 (= A.D. 1448) in the month of कार्तिक i.e. after the copying of the MS of काव्यमण्डन in the month of भाद्रपद of the same year *Śaṁvat 1504*.

As stated in the *ŚM* our author composed his *KM* as well as सारस्वतमण्डन prior to the *ŚM*

Our author मन्त्रिमण्डन *should not be confused with* मन्त्रिमण्डन the father of अनन्त[1], who composed his कामसमूह in A.D. 1457 अनन्त belonged to भामल्लवंश and resided in अहिम्मद्नगर He was a Nāgara Brahmin. His grand father's name was नारायण. The genealogies of the two persons of the name मण्डन are different as will be seen from the following table .—

मण्डन author of *KM* and *ŚM* (resident of Mandu or Malwa)	मण्डन of अहिम्मद्नगर
झंझण | बाहड and 5 brothers | मण्डन (MSS of A D. 1448) (contemporary of आलमसाह king of मंडपदुर्ग or Mandu) — of श्रीमालकुल	नारायण (C. A.D. 1400) | मण्डन मन्त्रि (C A D 1430) | (a court physician) अनन्त (A D. 1457— कामसमूह) —a Nāgara Brahmin.

1. Vide my paper on *Kāmasamūha of Ananta* etc. —*Journal of Oriental Research*, Vol. XV, Part I.

The exact date of composition of the works *KM* and *ŚM* of our author मराडन can be determined if we can identify आलमसाहि the Muslim King of Malwa ruling at Mandu, when Maṇḍana composed his works.

It appears that the Muslim rulers of Malwa were patrons of Hindu writers. Some of these writers occupied high positions at the court. For instance पुञ्जराज[1] the author of the commentary on the सारस्वतप्रक्रिया (C. A.D 1500) had an uncle of the name मेघ who got the title of मफरलमलीक from Ghias-ud-din Khilji of मंडपदुर्ग. Both पुञ्जराज and मेघमन्त्री belonged to the श्रीमालकुल to which our मराडन belonged as we have seen above. The genealogy of पुञ्जराज as given by him goes back to C. A.D. 1350 and as this family belonged to the श्रीमालकुल we have reason to believe that the line of the family of our मराडन who is earlier than A.D 1448 is most probably related to the श्रीमालकुल of पुञ्जराज of C. A D. 1500. Unfortunately in पुञ्जराज's genealogy of our मराडन. It is however, certain that the श्रीमालकुल flourished at Mandu or Malwa say between A.D. 1250 and 1550 and produced men of literary pursuits like मराडन and पुञ्जराज and ministers like मेघ the uncle of the latter.

The *Jain Granthāvalī*[2] mentions some MSS of the works of Maṇḍana the author of the *Kāvyamaṇḍana* and the *Śṛṅgāramaṇḍana*. Prof. H.D. Velankar[2] also records some MSS of Maṇḍana's works. As these MSS are not accessible to me I am unable to say anything

---

1 Vide my paper in the *Adyar Library Bulletin* (October 1941) Vol. V, Part 3.

2. *Jain Granthāvali* (p. 305 of the Bombay edition of 1909) mentions सारस्वत मंडण as the work of मंडण in 3500 Slokas. On p 313 शृंगार मंडन and संगीत मंडन of मराडनमात्र are noted. Prof. H. D. Velankar notes the following MSS of Maṇḍana's works in his जिनरत्नकोश:—

"काव्य मराडन—by मराडन कवि (Gram. 1250) Chani 227; PAZB 1 (24; 25 dated *1504*) 23(25; 29); Pra 1162"

"शृंगार मराडन—by मराडन कवि Chani 229; JG p. 313; PAZB 23 (2 MS dated *1504*), SA. 815.

"संगीत मराडन—by मराडन मंत्रि JG p. 313; PAZB 23 (26)

"सारस्वत मराडन—(Gram. 1500) by मराडन कवि Hamsa 901; JG. p. 305; Limdi 585."

about the data contained in these MSS. It often happens that when any work is printed even without any critical introduction scholars cease to pay any attention to it simply because it is published, while even a fragment of an unpublished work is subjected to a searching analysis and its results are published promptly. To a historian of literature, however, any kind of useful data, whether from a published or unpublished source should be valuable, provided it reveals new facts and adds to our knowledge of its historical background.

We have seen above that Maṇḍana calls himself "सारस्वतकाव्य-मण्डनकविः" an epithet which tells us that he was the author of सारस्वत मण्डन and काव्यमण्डन. The B.O.R. Institute possesses two MSS of the सारस्वत मण्डन viz. *No. 675 of 1891-95* and *No 13 of 1877-78* which is dated *Samvat 1632 = A D. 1576.* Now let us see what data we get from *MS No. 13 of 1877-78,* which is not only a dated MS but is also a complete one and well preserved. This MS begins :—

"श्रीपरमात्मने नमः ॥"

उद्यत्मांद्रजिनेन्द्रसुन्दरपदद्वंद्वप्रसादोद्भव —
भूद्यो भीष्टसमर्थसार्थकजनु. श्रीमालमालामणिः ।
सोयं सोनगिरान्वयः खरतरः श्रीबाहडस्यात्मजः
श्रीसारस्वतमण्डनं रचयति क्ष्मामंडनं मंडनः ॥१॥

The details about the author viz (1) his name मंडन, (2) his father's name बाहड, (3) his खरतर गच्छ), (4) his lineage called सोनगिरान्वय his (4) Caste श्रीमाल, prove the author of the सारस्वतमंडन to be identical with his namesake मंडन the author of the *KM* and *SM* analysed already in this paper.

On folio 17a we get the following Colophon :—

"सद्यः सांद्रजिनेन्द्रसुन्दरपदद्वंद्वप्रसादोद्भवः
भूयोभीष्टपुमर्थसार्थकजनु श्रीमालमालामणिः ।
सोयं सोनागिरान्वयः खरतरः श्रीबाहडस्यात्मजः
श्रीसारस्वतमंडनं व्यरचयन् क्ष्मामंडनं मंडनः ॥१॥[1]

1. Before this stanza there is an unnumbered stanza which is more correct in *MS No. 675* of *1891—95* and reads as follows :—

"सविग्रहाणामुभयेस्वराणामिति प्रकृत्यासहसाहसानां ।
श्रीमंडनः सूत्रविद्स्मसाहि महाप्रधानोव्यदधात्सुसंधीन् ॥"

इति श्रीमालमौलिमाणिक्यश्रीमत्सोनगिरगोत्री खरतराम्नायं माग्र धर्मधुरंधर-श्रीमद्वाहडात्मज-सर्वविद्याविसारद-श्रीमन्मंडनसंघपतिप्रणीते सारस्वतमंडने संधिप्रकरणं समाप्तं ॥ॐ॥श्री॥ॐ॥

The MS ends :—"जयति जगदाधारो देशः स मालवनामको—
जयति वजितस्वर्ग दुर्ग स यत्र च मंडप
जयति विजयी यस्याधीशो महानलमाह्वयो—
जयति मन्त्रे स्यामात्योकृतपत्रमाभिधः ॥१॥
यस्य भ्रातृषु दातृषु प्रशमिषु श्रीमत्सु धीमत्सु च
श्लाघ्यः शोकमनः सम समभवत्संघेश्वरो बाहडः ।
यस्योदंचितपूर्वजन्मनिजयैः सत्संचितानां महा-
पुण्यानां फलमेकमेव जयति क्ष्मामंडनं मंडनः ॥२॥
यत्कीर्ति व्रजति वितत्य गमने दानोदकाशेचना—
त्काष्ठानां दशकस्य मंडपतलेश्वंमातिनंचैकिका ।
सोयं सोनगिरान्वयः खरतरः श्रीबाहडाम्यात्मजः
श्रीसारस्वतमंडनं व्यरचयत्क्ष्मामंडनं मंडनः ॥३॥

इष्टदेवता श्रीगुरुः प्रीयतां ॥ इति श्रीश्रीमालमौलिमाणिक्य-श्रीमत्सोनगिरगोत्रीय खरतरान्वय-माग्र धर्मधुरंधर-श्रीमद्वाहडात्मजः सर्वविद्याविशारदश्रीमन्मंडनप्रणीते सारस्वतमंडने कृदंतप्रकरणं समाप्तं ॥ॐ॥ श्रीस्वस्ति श्रीसंवत् १६३२ वर्षे आसो वदि ३ भूमौ ग्रंथोयं लषितः ॥

The data furnished by the above extract is as follows :—

(1) Maṇḍana was a Jaina, belonging to सोनगिर-खरतरगच्छ. He was also संघपति and is styled as "proficient in all sciences (सर्वविद्याविशारद)" an epithet justified by his works, काव्यमंडन, शृङ्गारमंडन, सारस्वतमंडन and संगीतमंडन.

(2) He was Chief Minister to a King of Malwa called अलम or भल्म ruling at Mandu (मंडपदुर्ग). In the सारस्वतमण्डन he is definitely called "आलमसाहि-महाप्रधान" This statement shows that at the time when he composed the सारस्वत मंडन he was chief Minister of some आलमशाह of Malwa. He composed काव्यमंडन perhaps at this time and later his शृङ्गारमंडन which refers to both these works.

(3) He belonged to श्रीमाल caste. His father's name was बाहड, who was also संघेश्वर (or संघपति) like himself.

(4) He had a brother called पद्म (or पद्म mentioned in काव्यमंडन as one of these *six* brothers). पद्म is also called अमात्य.

We have now 3 dated MSS of Mandana's works, two of which are dated A.D. *1448*, while the 3rd MS is dated A.D. *1576*. Evidently Mandana's date[1] is earlier than A.D. *1448*.

The following table will show at a glance the historical background of Mandana's life :—

A.D. 1387-1405—Dilāwar Khān the first Muhammadan King of Malwa ruled at Maṇḍu.

,, *1405-1432*— *Alp Khān* son of Dilāwar Khān ruled at Maṇḍu with the title Sultān *Hoshang Ghori.*

,, *1432-1435*—Mohammad Ghori at Malwa.

,, *1435-1482*—Mahmud Khilji at Malwa.

,, *1448* —Dates of MSS of Maṇḍana's works viz. *Kāvyamaṇḍana* and *Śṛṅgāramaṇḍana*

,, *1576* --Date of B.O R I. MS of *Sārasvatamaṇḍana*

It will be seen from the above chronology of Malwa rulers that the only ruler with whom अलमसाहि, the patron of Maṇḍana can be identified is *Alp Khān* or Hoshang Ghori (A.D. 1405-1432). If this identification is accepted the literary career of Maṇḍana, the Prime Minister of Hoshang Ghori must be fixed *between A D. 1400* and *1432*. This conclusion harmonizes with the date *A D* 1448, in which year two MSS of Maṇḍana's works were copied by a scribe of the name *Vināyakadāsa Kāyastha* I hope our Muslim Scholars will try to verify how far my identification of अलमसाहि with *Alpkhān* or *Hoshang Ghori* is correct

1. Dr. Belvalkar calls पुञ्जराज the earliest commentator of सारस्वत प्रक्रिया (Vide p 96 of his *Systems of Sanskrit Grammar*, Poona, 1915). He assigns पुञ्जराज to A.D. 1450 and makes मण्डन posterior to पुञ्जराज (ibid p. 99) This chronology is not warranted by evidence I have already proved that पुञ्जराज flourished about A D. 1500 as his uncle मेघ was minister to Ghias-ud-din Khilji of Malwa who was poisond in A.D. *1501* and whose Hindi inscription is dated A.D. *1483* We have proved in this paper that मण्डन is earlier than A.D. *1448*. Dr. Belvalkar was not evidently aware of the other works of मण्डन or their MSS. A MS of हरिवंशपुराण of श्रुतकीर्ति was copied at जेरहट during the reign of सुलतान गयासुद्दीन of मण्डपाचलगढदुर्ग in A.D *1497* (Vide p. 153 of प्रशस्ति संग्रह by P. K. Bhujabali Sastri 1942)

THE PURĀṆIC AND HISTORICAL REFERENCES IN THE APABHRAṂŚA STANZAS OF HEMACANDRA.

By
Prof. Sibendranath Ghosal, Bangabasi College Calcutta.

In the Apabhraṃśa stanzas of the Prākrit grammar of Hemacandra we find there are numerous references to the characters and incidents of the Rāmāyana, Mahābhārata, Purānas and the other ancient literary works of the Hindus Some of these, which go back certainly to a very ancient age, can be traced in the Upanishads Brāhmanas, and even the Vedas. Other religious sects, which were later developed on the soil of India could not deny their influence; they adopted and fashioned them according to their needs, in the mould of their own religious and moral teachings. It can be better understood by a concrete example. The Buddhists, who could not accept some of the tenets of the Hindu religion, retell the story of the Rāmāyana in their own way, and as a result, we find the Dasaratha Jātaka, which is in kernel the same Rāmāyanic story, though there are some important deviations. Needless to mention that it is imbibed with a spirit of the gospels of the Buddha and highly instructive in character. The advocates of the Hindu religion, which found its most exhaustive expression in the literature, we have mentioned, were very progressive They duly responded to the demands of the time and for this very reason, they did never venture to erect any wall of isolation around them and remain exclusively closed to their own world. On the contrary, they tried to understand others sympathetically, critically analysed their tenets and embodied them in their own moral and philosophical thoughts, were they convinced of their efficacy. So it is evident that there were frequent interchanges of thoughts and ideas between the different sects in those days and like the Buddhists, the Jainists too, fell back occasionally upon the heritage of Hindu religion and culture. This will certainly make it clear, why Hemchandra, a staunch advocate of Jainism, referred to the characters and incidents of the Hindu mythology, while quoting the Apabhraṃśa verses of the poets, who

were mostly the people of the Western provinces, and some of whom accepted the *faith of Jainism probably under the* pressure *of* an inspired Jain monarch.

In the very beginning it is necessary to make it clear that the term 'Purānic' has not been used exclusively in the sense of the Purānas, which have been technically defined,

सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च ।
सर्व्वंष्वेतेषु कथ्यन्ते वंशानुचरितञ्च यत् ॥
यदेतन् तव मैत्रैय पुराणं कथ्यते मया ।

विष्णुपुराण तृतीयांश षष्ठाध्याय Slokas 25-26.

and which have been counted to be 18 with numerous accessories called the Upapurāṇas Here in this particular essay it signifies rather, the entire religious literature in which the Hindus give expression to their most fervent religious impulses and in which the purānas occupy a most important position, being the exponents of a *fully developed and complicated religions cult.* Considered in this most comprehensive and wide implication, the Rāmāyana and the Mahābhārata, which are technically called a Kāvya and an Itihāsa respectively, will fall into the category of a purāṇa We have mentioned them so, here, only for precision in the title and even Mahāvira and Buddha, who are gloriously extolled in the literatures of their respective creed and sometimes reverently mentioned in the Hindu scriptures, as being a high personality and an incarnation of God respectively, are also referred to in this dessertation, as Purāṇic figures. Next it should also be made explicit that Buddha and Mahāvira are so mentioned here as Purāṇic charcters and not historical, due to the fact that both of them, though come within the purview of history and observation, were deified by their respective followers for their super-human conduct and achievements in the field of religious movement in the country. Hence instead of bringing *them* down to the level of *historical characters,* who are *subject to* most impartial criticism, we prefer to place them in some distance, nay in a world, where they can be still adored and worshipped with a deep feeling of reverencc and awe.

(I. Purāṇic)

We take into consideration first the Purāṇic characters and

incidents, which surpass far in number the historical and present us some interesting facts by a close analysis. Rādhā is mentioned in the verses :—

हरि नच्चाविउ पङ्गजइ विम्हइ पाडिउ लोउ ।
एम्वइ राह-पओहरहं जं भावइ तं होउ । 420.2

("Hari was made to dance in the court yard; the people were struck with amazement; may anything now befall the breasts of Radha.")

एक्कमेक्कउं जइ वि जोएदि हरि सुट्ठु सव्वायरेण ॥
तो वि द्र हि जहिं कहिं वि राही ।
को सक्कइ संवरेवि दड्ढनयना नेहि पलुट्टा ॥ 422.5

("Although Hari regards each and every person well and with all respect, still his eyes are fixed where Rādhā stands. Who is able to check eyes overflowing with love.")

Rādhā does not occur in the older Purāṇas; e. g. in the Harivaṃśa, the Vishṇupurāṇa and the Bhagavata; but she is referred to, as early as the seventh or the eighth century in the secular literature. Thus she is mentioned in the Gāthāsaptaśati Dhraṇyāloka, Gitagovinda, Brahmavaivartapurāṇa and the other later Vaishnava works. Of the two verses, quoted above, the meaning of the first is obscure to a certain extent, but the second refers to the dance of Krishna with Rādhā and the other Gopis. It is interesting to note that Krishna's dance with the milkmaids is mentioned in the Bhāgavata (X 30, 28,) and the Vishṇupurāṇa (5 th part chap XIII.), though there is no definite mention of Rādhā. Despite the absence of her name in the Bhāgavata we find there a reference to such an incident, as Krishna took aside during the Rāda dance a Gopi, to whom he showed a special partiality in the exchange of his love and tender feelings and who was probably recognised as Rādhā in the later works. The love of Rādhā and Krishna, which was in origin something noble, dignified and far above than what could be comprehended by human intelligence was represented as vulgar and unchaste in some later vaishnava works. Their physical union, to conceive which is surely an act of high impiety and irreligiousness, is possibly referred to in the verse that runs:—

ढोल्ला सामला धन चम्प वण्णि, णाइ सुवण्ण रेह कसवट्टइ दिण्णी 330.1

("The man has a dark complexion, and the fair one (**घण्या = प्रिया**) has the complexion of a **चम्पक** flower; she seems to be a streak of gold on the black touch-stone.")

It should be noted that in the Veda there occurs a word 'rădhas' *meaning* 'a desired object, a *gift*'; in the Avestan too, we find 'Rāda' a masculine counterpart of the same Vedic word used in the sense of a 'lover, a desired husband.' So it may be surmised that Rādhā is possibly a female cognate of the same and as a common noun conveys the sense of a "beloved, a desired woman." (vide—Indian linguistics. Vol. VIII part I. p. 38).

In the two following verses we find reference to the incarnation of Vishṇu as Vâmana and his heroic act of sending Bali to the nether world.

वलि अब्भत्थणि महुममहणु लहुईहूआ सोइ।
जइ इच्छहु वड्डत्तणंहं देहु म मग्गहु केइ। 384 I.

["Even that Madhumathano (God Vishṇu) became a dwarf while begging alms of Bali; if therefore you desire greatness, give (to others) but do not beg of anyone"]

मइं भणिअउ वलिराय तुहुं केहउ मग्गणु एहु।
जेहु तेहु म वि होइ वढ सइं नारायणु एहु। 402.I.

('Oh king Bali, I told you of what sort this beggar is; he is not an ordinary beggar but **नारायण** in person.")

It is interesting to note that this episode, which permeates in the entire Sanskrit literature, had an origin in the Rigveda "**त्रेधा विचक्रमे पदम्**". There we get a distinct mention of the three strides of Vishṇu which were differently interpreted by the scholars. But that as early as in the days of Sāyana the story of incarnation had evolved is known from his interpretation of the Rigverse, according to which, the three strides are nothing but "the three steps" which were believed to the actually planted by the dwarf to cover the three worlds. In the Taittiriya Saṃhitā occurs—"Indra, assuming the form of a she-jackal stepped all round the earth in three strides Thus the gods obtained it". Hindu classical Dictionary. p. 34. In the Śatapatha Brāhmaṇa we find the story that when the demons were going to distribute the earth after having vanquished the deties,

the latter approached them with Visṇu in front and begged them of their share. The demons only agreed to part with so much portion of the earth, which could be covered by Vishnu, who was undoubtedly a man of pigmy size. The latter laid himself down and after having covered the entire world with his body, forced the demons to retire back from it. It is sure that both the stories of the Taittiriya Saṃhita and the Śatapathaḥ Brāhmaṇa are connected with the episode of Vishnu's incarnation. The story occurs fully in the Harivaṃśa (261 अध्याय), Ramāyana, Mahābhārata, and the Bhāgavata and is frequently quoted in the different Purāṇas due to the pre-eminence of Vishnu in the later period. It is excessively amplified in the Vāmana purāṇa as Prof Wilson observes 'The Vāmaṇa purānas contain an account of the dwarf incarnation of Vishṇu, but it is related by Pulastya to Nārada and extends to but 7000 stanzas." "Purānas" by Wilson. In the Vishṇupurāṇa which is undoubtedly a very ancient work we find only a passing reference to this incident. In the second of the two verses, quoted above, 'Nārāyana' has been mentioned. The term does not occur in the very ancient work; only in the Śatapathaḥ Brāhmaṇa it is referred to for the first time. There he stands for Brahmā as he moved in the water 'As the waters (nara) were the place of his movement, he (Brahmā) was called Nārāyana, vide (HCL dictionary p 57). In the Purānas, however, Nārāyana stands as a synonym of Vishnu and is the supreme deity, who is believed to be solely responsible for the cosmic order of the universe. So his position in the Purāṇas is rivalled by none.

The following verse narrates Rāvana's march for fight and is consequently an adoptation from the Rāmāyana

दहमुहु भुवन-भयङ्करु तोसिअ-संकरु निग्गउ रहवरि चडि़अउ।
चउमुहु छंमुहु झाइवि एक्कहिं लाइवि णावइ दइवें घडिअउ ॥ 331.1.

["The tenfaced demon terrible to the world, got into his excellant chariot after having propitiated God शंकर; he was fashioned by deities as if by thinking of God Brahmā (who has four faces) and Kārtikeya (who has six) and putting both these deities into one."] Rāvana is described to have ten heads in the Rāmāyana. Hence he is called Dasānana, Dasakanṭha and Panktigrīva. But the credit

of explaining in a novel manner how such a fact could be possible is probably due to the poet of the Apabhraṃśa verse, who shows much ingenuity in thinking and possesses an exuberance of fancy and imagination.

The Mahābhārata is referred to in the verse :—

इत्तउ ब्रोप्पिणु सउणि ठिउ पुणु दूसासणु ब्रोप्पि ।
तो हउँ जानउँ एहो हरि जइ महु अग्गइ ब्रोप्पि ॥ 391.1.

[Having said this much शकुनि stopped; again दुःशासन stoppad having said this much; then I realised that it was हरि (श्रीकृष्ण) who stood before me having said (what he had to say.)]

From a stanza of two lines as these, it is quite impossible to guess which particular event is referred to in it, but since we get here a reference to big talks and bragging of the heroes, the stanza possibly points to some dispute among them, which set their anger ablaze.

The name of the great sage 'Vyāsa' occurs in the verse :—

ब्रासु महारिसि एँउ भणइ जइ सुइ-सत्थुपमाणु ।
मायहँ चलन नवन्ताहं दिवि दिवि गङ्गाण्हाणु ॥३९९॥

("Vyāsa the great sage says thus, "If the Veda and the Śāstras are to be regarded authoratative, then those who pay homage to the feet of their mothers, get the merit of bathing in the Ganges everyday.")

Contd.

THE JAINA ANTIQUARY

VOL. XI. 1946

Edited by

Prof. Hiralal Jain, M. A., LL.B., D. Phil.
Prof. A. N. Upadhye, M. A., D. Litt.
Babu Kamata Prasad Jain, M. R. A. S., D. L.
Pt. K. Bhujabali Shastri, Vidyabhushana.
Pt. Nemi Chandra Jain Shastri, Sahityaratna.

Published at

THE CENTRAL JAINA ORIENTAL LIBRARY,
[JAINA SIDDHANTA BHAVANA]
ARRAH, BIHAR, INDIA.

Annual Subscription

Inland Rs. 3. Foreign 4s. 8d. Single Copy Rs. -1/8

CONTENTS OF THE JAINA ANTIQUARY

VOL. I.

VOL. II.

RULES.

1. The 'Jaina Antiquary' is an Anglo half-yearly Journal which is issued in two parts, *i.e.*, in year.

2. The inland subscription is Rs. 3 (including 'Jain Sidhanta Bhaskara') and foreign subscription is 4*s.* 8*d.* per annum, payable in advance. Specimen copy will be sent on receipt of Rs. 1-8-0.

3. Only the literary and other decent advertisements will be accepted for publication. The rates of charges may be ascertained on application to the Manager, 'Jaina Antiquary' The Jaina Sidhanta Bhavana, Arrah (India) to whom all remittances should be made.

4. Any change of address should also be intimated to him promptly.

5. In case of non-receipt of the journal within a fortnight from the approximate date of publication, the office at Arrah should be informed at-once.

6. The journal deals with topics relating to Jaina history, geography, art, archaeology, iconography, epigraphy, numismatics, religion, literature, philosophy, ethnology, folklore, etc., from the earliest times to the modern period.

7. Contributors are requested to send articles, notes, etc., type-written, and addressed to. K. P. Jain, Esq., M. R. A. S., Editor, Jaina Antiquary' Aliganj, Dist. Etah (India).

8. The Editors reserve to themselves the right of accepting or rejecting the whole or portions of the articles, notes, etc.

9. The rejected contributions are not returned to senders if postage is not paid.

10. Two copies of every publication meant for review should be sent to the office of the journal at Arrah (India).

11. The following are the editors of the journal, who work honorarily simply with a view to foster and promote the cause of Jainology :—

जैन-सिद्धान्त-भास्कर के नियम

१ 'जैन-सिद्धान्त-भास्कर' हिन्दी षाण्मासिक पत्र है, जो वर्ष में दो बार प्र होता है।

२ 'जैन-एन्टीक्वेरी' के साथ इसका वार्षिक मूल्य देशके लिये ३) और विदेश के लि है, जो पेशगी लिया जाता है। १।।) पहले भेज कर ही नमूने की कापी सुविधा रहेगी।

३ इसमें केवल साहित्य-संबन्धी या अन्य भद्र विज्ञापन ही प्रकाशनार्थ स्वीकृत प्रबन्धक 'जैन-सिद्धान्त-भास्कर' आरा को पत्र भेजकर दर का ठीक पता लगा स मनीआर्डर के रुपये भी उन्हीं के पास भेजने होंगे।

४ पते में परिवर्तन की सूचना भी तुरन्त आरा को देनी चाहिये।

५ प्रकाशित होने की तारीख से दो सप्ताह के भीतर यदि 'भास्कर' प्राप्त न हो, तो सूचना शीघ्र कार्यालय को देनी चाहिये।

६ इस पत्र में अत्यन्त प्राचीनकाल से लेकर अर्वाचीन काल तक के जैन इतिहास, शिल्प, पुरातत्त्व, मूर्त्ति-विज्ञान, शिला-लेख, मुद्रा-विज्ञान, धर्म्म, साहित्य दर्शन से संबंध रखने वाले विषयों का ही समावेश रहेगा।

७ लेख, टिप्पणी, समालोचना आदि सभी सुन्दर और स्पष्ट लिपि में लिखकर स 'जैन-सिद्धान्त-भास्कर' आरा के पते से आने चाहिये। परिवर्त्तन के पत्र भी इसी आने चाहिये।

८ किसी लेख, टिप्पणी आदि को पूर्णतः अथवा अंशतः स्वीकृत अथवा अस्वीकृत का अधिकार सम्पादकों को होगा।

९ अस्वीकृत लेख लेखकों के पास बिना डाक-व्यय भेजे नहीं लौटाये जाते।

१० समालोचनार्थ प्रत्येक पुस्तक की दो प्रतियाँ 'जैन-सिद्धान्त-भास्कर' कार्याल के पते से ही भेजनी चाहिये।

११ इस पत्र के सम्पादक निम्न-लिखित सज्जन हैं जो अवैतनिकरूप से केवल जैन उन्नति और उत्थान के अभिप्राय से कार्य्य करते हैं —

प्रोफेसर हीरालाल, एम.ए., एल.एल.बी.
प्रोफेसर, ए.एन. उपाध्ये, एम. ए., डी. लिट.
बाबू कामता प्रसाद, एम.आर.ए.एस.
पण्डित के. भुजबली शास्त्री, विद्याभूषण.
पं० नेमिचन्द्र शास्त्री, न्याय-ज्योतिष-तीर्थ, साहित्यरत्न

PRINTED BY D. K. JAIN, SHREE SARASWATI PRINTING WORKS, L
ARRAH.